व्रज-रत्न

लेखक
प्रो० रामजी पाण्डेय, एम० ए० (द्वय), बी० एल०,

हिन्दी विभाग

राजेन्द्र कालेज, छपरा ।

प्रथम संस्करण

फरवरी, १९५८

मूल्य तीन रुपये पचास नये पैसे

प्रकाशक

राहुल पुस्तकालय, रतनपुरा, सारन ।

वितरक :—

वाणी मन्दिर प्रेस, छपरा ।

विषय-सूची

आमुख

प्रो० रामजी पाण्डेय के 'व्रज रत्न' की पांडु लिपि देख कर मुझे अतिशय प्रसन्नता हुई। 'व्रज रत्न' में व्रज भाषा के प्रमुख भक्त कवियों का बड़ा ही सुलझा हुआ विवेचन प्रस्तुत है। प्रकाशित होने पर यह पुस्तक सामान्यतः प्राचीन काव्य के अध्येताओं के लिए और विशेषतः छात्रों के लिए ज्ञान-वर्धक और उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रो० पाण्डेय ने विवेच्य कवियों के विषय में सुलभ समस्त सामग्री का उपयोग करते हुए उसे सुव्यवस्थित तथा सुबोध रूप प्रदान किया है तथा अपने निष्कर्ष उपस्थित कर पुस्तक को महत्त्व-पूर्ण बनाने में सफलता पाई है। मुझे विश्वास है, इस पुस्तक का विद्वज्जन स्वागत करेंगे और छात्रों के बीच तो इसे अवश्य ही लोक प्रियता प्राप्त होगी।

नलिन विलोचन शर्मा

हिन्दी विभाग
पटना कालेज १५-८-५७

दो शब्द

हिन्दी का मध्य-कालीन साहित्य मुख्यतः व्रज भाषा और अवधी का ही साहित्य है। वस्तुतः एक युग में व्रज भाषा सम्पूर्ण उत्तरी भारत की काव्य भाषा का गौरव-पूर्ण स्थान ग्रहण कर चुकी थी। कई शताब्दियों तक अनेक प्रतिभा-सम्पन्न कवियों ने अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति इस भाषा में कर के इसे जो परिष्कार और परिमार्जन प्रदान किया वह किसी भी भाषा के लिए गर्व का विषय हो सकता है। कृष्ण-भक्त कवियों ने तो इसी भाषा को अपनी भक्ति-भावना की अभिव्यंजना का माध्यम बनाया। इस पुस्तक में व्रज भाषा के दस लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों की संक्षिप्त आलोचना प्रस्तुत करने का लघु प्रयास किया गया है। मैं यह दावा नहीं करता कि इस के द्वारा मैं ने कोई अभाव दूर-कर दिया है।

इस पुस्तक में जिन कवियों की आलोचना प्रस्तुत की गई है वे किसी-न-किसी रूप में व्रजरत्न श्री कृष्ण के भक्त थे और वे स्वयं व्रज भाषा के रत्न थे। विश्व विद्यालयों में प्रायः इन्हीं कवियों की कविता पाठ्य-क्रम में स्वीकृत है और मुझे आशा है कि छात्र-समुदाय को इस पुस्तक से यथेष्ट लाभ पहुँचेगा। मैं ने प्रायः सभी प्राप्त सामग्री का उपयोग कर के इस पुस्तक को विद्यार्थियों के लिए अधिक से अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है। मेरा विश्वास है कि विद्यार्थियों के अतिरिक्त व्रज भाषा के अन्य अध्येता भी इस से लाभान्वित होंगे। जिन लोगों के लिए यह पुस्तक लिखी गई है, उन्हें यदि इससे कुछ लाभ पहुँच सका, तो मैं अपना श्रम सफल समझूंगा।

जिन विद्वानों के ग्रन्थों अथवा लेखों से मुझे सहायता मिली है, मैं उन सब का हृदय से आभारी हूं। मैं उन सभी सज्जनों का कृतज्ञ हूँ, जिनसे मुझे यह पुस्तक लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई है।

रामजी पाण्डेय

राजेन्द्र कॉलेज, छपरा,
२१-२-१९५८

सूरदास

जीवन-वृत्त

कृष्ण-काव्य में सूरदास का स्थान सर्वोच्च है। ये हिन्दी-साहित्य-गगन-मंडल के सूर्य कहे गये हैं। 'सूर सूर तुलसी ससी' वाली उक्ति विवादास्पद है किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि सूरदास अत्यन्त श्रेष्ठ कवि हैं। ये वात्सल्य तथा विप्रलम्भ शृंगार के वर्णन में हिन्दी साहित्य में अद्वितीय हैं। भक्ति-साहित्य में इनका स्थान अन्यतम है।

अन्य प्राचीन कवियों के समान सूरदास का भी जीवन-वृत्त अज्ञात अथवा अल्प-ज्ञात है। इनका कोई भी प्रामाणिक जीवन-वृत्त अभी तक तैयार नहीं किया जा सका इनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ जानने के प्रमुख साधन निम्न-लिखित हैं:—

(१) सूरदास के पद (अन्तः प्रमाण)।

(२) भक्तों के जीवन-वृत्त (चौरासी वैष्णवन की वार्ता, अष्ट-सखान की वार्ता—बहिर्प्रमाण)।

(३) जन-श्रुतियां।

इनके जन्म एवं मरण की तिथियां भी अनिश्चित हैं। कुछ विद्वान् इनका जन्म संवत् १५४० वि० में तथा कुछ विद्वान् संवत् १५३५ वि० में मानते हैं। इनकी मृत्यु संवत् १६४२ वि० के पूर्व ही हुई थी क्यों कि गोसाईं विट्ठल नाथ जी के सामने की यह घटना है और गोसाईं जी की मृत्यु संवत् १६४२ में हुई थी। कुछ विद्वान् इनके मरण की तिथि संवत् १६२० वि० और कुछ विद्वान् सं० १६४० मानते हैं।

सूरदास का जन्म सम्भवतः सारस्वत ब्राह्मण कुल में हुआ था। कुछ लोगों ने इन्हें भाट सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है। जन्म स्थान के विषय में भी विवाद है। कुछ लोग इनका जन्म-स्थान आगरा और मथुरा के बीच 'रुनकता' नामक गांव मानते हैं और अन्य व्यक्ति इन्हें दिल्ली के निकट 'सीही' नामक गांव का निवासी बताते हैं।

सम्भवतः सूरदास के माता-पिता अत्यन्त निर्धन थे और इन्हें परिवार का स्नेह नहीं प्राप्त हो सका। बचपन में ही सूरदास घर से निकल पड़े किन्तु गांव के पास ही एक

कुटिया में निवास करने लगे। अट्ठारह वर्षों तक इन्होंने उसी स्थान पर संगीत और ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त किया, किन्तु आसपास के लोग इनसे अपना भविष्य पूछने आते थे जिससे इनके भगवद् भजन में विघ्न पड़ने लगा। इन्हें उपासना और आराधना का समय नहीं मिलता था। परिणामतः सूरदास को वह स्थान छोड़कर गऊ घाट चला आना पड़ा।

जो हो, किन्तु यह निर्विवाद है कि ये आगरा और मथुरा के बीच, यमुना नदी के किनारे पर बसे गऊघाट नामक स्थान पर रहने लगे थे। यहां इन्हें संगीत और काव्य का गम्भीर अध्ययन करने का पर्याप्त समय मिला और थोड़े समय में इन्हें इन शास्त्रों में निपुणता प्राप्त हो गई। गोस्वामी वल्लभाचार्य इन्हें इसी स्थान पर संवत् १५६७ में मिल गये और उनके आदेशानुसार इन्होंने कृष्ण-भक्ति के दो पद— 'हौं हरि सब पतितन को नायक' और 'प्रभु मैं सब पतितन को टीका'— सुनाये। उस समय तक सूरदास दास्य भाव की भक्ति के पद रचा करते थे किन्तु वल्लभाचार्य जी के आदेश से अब भगवत्-लीला के पद रचने लगे। ये वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग में दीक्षित हो कर उनके शिष्य बन गये। सूरदास ने अपने गुरु के प्रति अपार भक्ति-भावना प्रदर्शित की है:—

भरोसो इन दृढ़ चरनन केरो।
श्री वल्लभ-नख-चन्द्र छटा बिन सब जग माँझ अंधेरो।

अब इनमें प्रेम-लक्षणा भक्ति का आविर्भाव हुआ जो वात्सल्य, सख्य और माधुर्य के रूप में प्रकट हुई।

वल्लभाचार्य जी से भेंट सूरदास के जीवन की अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण घटना है। अब ये अपने गुरु के साथ ब्रज चले आये और गोवर्धन पर्वत की तलहटी में बसे 'परासोली' ग्राम में निवास करने लगे। मृत्यु पर्यन्त सूरदास यहीं रहे।

सूरदास जन्मांध थे या पीछे अंधे हुए यह भी विवादास्पद विषय है। इन्होंने अपने पदों में अनेक स्थानों पर अपने को अंधा कहा है,— 'सूर कहा कहौं द्विविध आंधरो।' इन्होंने अपने काव्य में रूप और रंग का जैसा यथातथ्य वर्णन किया है उसे देखने से विश्वास होता है कि ये जन्मांध नहीं थे। प्रकृति अवलोकन, रूप रंग का यथार्थ चित्रण, मानव स्वभाव में गहरी दृष्टि आदि इनके काव्य में प्रचुर परिमाण में हैं जिसमें इन्हें जन्मांध नहीं मान सकते। सम्भवतः वयस्क होने पर ये अंधे हो गये थे। विश्व-साहित्य के इतिहास में ऐसे कुछ और भी उदाहरण मिलते हैं।

कहा जाता है कि एक दिन तानसेन ने अकबर के दरबार में सूरदास का एक पद सुनाया। अकबर अत्यन्त प्रभावित होकर सूरदास के दर्शन करने के लिए मथुरा आये। उन्होंने सूरदास से कुछ सुनाने का आग्रह किया और सूरदास ने 'मन रे तू कर माधो से प्रीत' भजन गाया। अकबर ने बहुत हर्षित होकर सूरदास से अपने यश का वर्णन करने की प्रार्थना की। किन्तु भक्त को सम्राट् के यश के वर्णन से क्या तात्पर्य? सूरदास ने गाया—

नाहिन रह्यौ मन में ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे आनिये उर और?

गोस्वामी विट्ठल नाथ ने अपने पिता (गो० वल्लभाचार्य) के चार और अपने चार शिष्यों को मिला कर अष्ट-छाप की स्थापना की। अष्ट-छाप में सर्व-श्रेष्ठ कवि सूरदास ही थे।

'परासोली' गाँव में ही सूरदास की मृत्यु हुई। इनकी मृत्यु के समय गोस्वामी विट्ठल नाथ अपने कई शिष्यों के साथ इन के पास थे। उस समय गोसाईं जी ने इन्हें 'पुष्टि-मार्ग का जहाज' कहा था। इन का अन्तिम पद यह है—

खंजन नैन रूप-रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे, पल पिँजरा न समाते॥
चलि-चलि जात निकट स्रवनन के, उलटि पलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन-गुन अटके, न तरु अबहिं उड़ि जाते।

इस पद को समाप्त करते ही सूरदास के प्राण पखेरु उड़ गये।

रचनाएं

सूरदास के रचे २५ ग्रंथ बताये जाते हैं किन्तु सभी ग्रंथ प्रामाणिक नहीं हैं। उनकी प्रामाणिकता में बहुत सन्देह है। इनका सर्व-प्रसिद्ध ग्रंथ सूर सागर है जो बहुत ही बृहद् ग्रंथ है। सूरदास की कीर्ति अमर रखने के लिए यही एक ग्रन्थ पर्याप्त है। इनके अन्य ग्रन्थ सूर-सारावली और साहित्य लहरी हैं। सूर-सारावली ३८ पृष्ठों में समाप्त हुई है। प्रथम पद 'बंदौं श्री हरि-पद सुखदाई' वाला सम्पूर्ण पद है। यह एक प्रकार से सूर सागर की अनुक्रमणिका है परन्तु कुछ विद्वान् इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ मानते हैं। सूर सागर की रचना के उपरान्त ही इसकी रचना की गई होगी। साहित्य लहरी में दृष्टि-कूट और नायिका-भेद के पद हैं परन्तु वास्तव में इन पदों का संकलन सूर सागर से ही किया गया है। इसका निर्माण-काल संवत् १६०७ है। यह सूरदास का अनूठा ग्रथ है। इसमें वह मार्दव और माधुर्य नहीं दिखाई देते जो सूर सागर में हैं परन्तु यदि शब्दावरण को हटा दिया जाय तो फिर कोमलता और मधुरता प्राप्त हो जाती है। इसमें कला-पक्ष की प्रबलता है परन्तु भाव-पक्ष का भी अभाव नहीं इस में कई पद ऐसे मिलते हैं जो सूरसागर के श्रेष्ठतम पदों के समकक्ष हैं। कहा जाता है कि सूरदास ने सवा लाख पद लिखे परन्तु आजकल इनके चार-पाँच हजार से अधिक पद नहीं मिलते। यह संख्या भी कम नहीं है।

सूरदास ने सूर सागर की रचना भागवत पुराण के आधार पर की है पर यह ग्रन्थ भागवत का अनुवाद नहीं है। यह सत्य है कि भागवत और सूर सागर दोनों ग्रंथों में बारह स्कंध हैं और दोनों ग्रन्थों में दशम स्कंध अत्यन्त विस्तृत है जिसमें कृष्णावतार की कथा विस्तार से कही गई है, तथापि सूर सागर में मौलिकता पर्याप्त मात्रा में है। भागवत में भी शेष स्कंधों में भगवान के अन्य अवतारों की कथा संक्षेप में कही गई है परन्तु सूर सागर में और भी संक्षेप कर दिया गया है। केवल नवम स्कंध में कुछ विस्तार है जिस में रामावतार की कथा वर्णित है।

दशम स्कंध सम्पूर्ण अन्य रचना के लगभग चौगुना है। वास्तव में सूर सागर का मुख्य अंश यही है। इस स्कंध की गहनता, विशालता तथा महत्ता अद्वितीय है। कवि ने अपना सम्पूर्ण कौशल इसी स्कंध में प्रदर्शित किया है। शिशु-क्रीड़ा का अलौकिक वर्णन, प्रेम का अपूर्व परिपाक, चित्त-वृत्तियों का सुन्दर विश्लेषण, विरह-वेदना का मार्मिक वर्णन तथा भक्ति की प्रगाढ़ अनन्यता इस स्कंध की मुख्य विशेषताएँ हैं। ये विशेषताएँ अन्यत्र दृष्टि-गोचर नहीं होतीं।

सूर सागर एक मुक्तक काव्य है। जो लोग इसकी तुलना राम चरित मानस से करना चाहते हैं वे उचित नहीं करते। राम चरित मानस अथवा किसी अन्य प्रबन्ध काव्य से इसकी तुलना नहीं की जा सकती। कुछ लोग सूर सागर में कथा-प्रवाह ढूँढ़ कर सूर पर आक्षेप करते हैं कि इस ग्रंथ के कथानक में शिथिलता है। यह आक्षेप युक्ति-युक्त नहीं। वस्तुतः सूर गीति काव्य के रचयिता हैं और इनके पदों की तुलना विद्यापति आदि गीति कारों के पदों से करनी चाहिए। गीति-काव्य में जो जो विशेषताएँ होती हैं वे सभी सूर सागर में उपलब्ध हैं।

सभी कृष्ण-भक्तों ने---विशेषतः पुष्टि-मार्गियों ने—भागवत से प्रेरणा ग्रहण की है। जयदेव और विद्यापति ने भी भागवत से ही प्रेरणा प्राप्त की है। वल्लभाचार्य की शिष्य परम्परा में जितने भक्त हुए हैं, सभी ने भागवत को ही अपना आधार बनाया। भागवत कार का मुख्य उद्देश्य है भगवान् के विभिन्न अवतारों का वर्णन कर के सगुण ब्रह्म की असीम शक्ति का प्रदर्शन करना इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर पुष्टि-मार्ग के सभी भक्तों ने भगवान् कृष्ण की अनेक लीलाओं का सरस वर्णन किया है।

सूर सागर में कृष्ण-जन्म, बाल्य-लीला, गोपी-लीला (दान-लीला, रास-लीला आदि) मथुरा-गमन, गोपियों का विरह, ऊद्धव का ब्रज आगमन आदि का विशद चित्रण किया गया है। अतः सूरदास को वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भाव के चित्रण का पर्याप्त अवसर मिला है। सूरदास का मन इन्हीं विषयों के चित्रण में लगा है। उन्होंने कृष्ण के अन्य रूपों (राजनीतिज्ञ, योगी आदि) को नहीं ग्रहण किया।

दार्शनिक विचार एवं भक्ति-पद्धति

सूरदास के दार्शनिक सिद्धांत पर विचार करते समय हमें ध्यान में रखना चाहिए कि ये न कोई दार्शनिक थे और न किसी दर्शन शास्त्र के ग्रंथ का निर्माण कर रहे थे। सूरदास कवि थे और थे भक्त। अतः इनके प्रत्येक पद अथवा पंक्ति में दार्शनिक गुत्थियों को ढूँढ़ने का प्रयत्न हास्यास्पद होगा और ऐसा प्रयत्न कर के हम इनके साथ भारी अन्याय करेंगे। यह तो सत्य ही है कि उच्च कोटि की कविता में दार्शनिक भाव प्रायः आ ही जाया करते हैं परन्तु यह भी सत्य है कि कोई कवि अपनी कविता में दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए प्रयत्न-शील नहीं होता। यहां हमारे लिए

यही देखना पर्याप्त होगा कि सूरदास की कविता पर किन दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा है।

सूरदास के गुरु गोस्वामी वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैतवादी थे। शुद्धाद्वैतवाद का मुख्य सिद्धांत है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'— यह सब कुछ ब्रह्म है; ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सूरदास ने अपने गुरु का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद ग्रहण किया। वल्लभाचार्य का मार्ग पुष्टि-मार्ग कहलाता है। पुष्टि-मार्ग भगवान् के अनुग्रह में विश्वास करता है। उसका विश्वास पुरुषार्थ में नहीं है इस सम्प्रदाय में प्रेमलक्षणा भक्ति स्वीकृत है इसलिए पुष्टि-मार्ग की भक्ति में वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्य तीनों प्रकार की भक्ति प्राप्य है क्योंकि प्रेम इन तीनों ही रूपों में व्यक्त होता है। फिर भी इसमें कृष्ण के बाल-रूप की ही उपासना प्रधान है। पुष्टि मार्ग की चार अवस्थाएँ हैं - प्रवाह पुष्टि, मर्यादा–पुष्टि, पुष्टि–पुष्टि और शुद्ध पुष्टि। इन चारो की क्रमशः श्रेष्ठता स्वीकृत है और प्रवाह–पुष्टि निम्नतम है तथा शुद्ध–पुष्टि श्रेष्ठतम।

सूरदास पूर्ण रूप से पुष्टि मार्गी हैं। वे भगवान् के अनुग्रह में ही विश्वास करते हैं, यथा—

कृपा बिन नहीं या रसहि पावै।

शुद्धाद्वैत अथवा पुष्टि मार्ग की प्रमुख विशेषताएँ सूरदास की कविता में वर्त्त-मान हैं। यथा —

(क) कृष्ण का ब्रह्मत्वः—

कृष्ण–भक्ति करि कृष्ण हिं पावै।
कृष्णहिं ते यह जगत प्रगट है, हरि में लय ह्वै जावै॥

(ख) ब्रह्म निर्गुण एवं सगुण—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगें मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै॥

× × ×

रूप-रेख–गुन–जाति–जुगति- बिनु निरालम्ब कित धावै।
सब विधि अगम बिचारहिं तातैं 'सूर' सगुन लीला पद गावै॥

सूरदास निर्गुण ब्रह्म की सत्ता में विश्वास करते हैं। परन्तु निर्गुण ब्रह्म की उपासना कठिन है और सगुण की उपासना सरल। निर्गुण की उपासना का मस्तिष्क से अधिक सम्बन्ध है और साथ ही यह नीरस भी है। सगुण की उपासना हृदय से ही सम्बद्ध है और सरस है। अतएव सूरदास सगुण ब्रह्म की ही उपासना अपना कर भगवान् की लीला का वर्णन करते हैं। ध्यान देने की बात है कि ये सगुण ब्रह्म की उपासना करते समय निर्गुण ब्रह्म की सत्ता में अविश्वास नहीं करते।

(ग) ब्रह्म की शुद्धाद्वैतता:—

सदा एक रस, एक अखंडित, आदि अनादि अनूप।

(घ) ब्रह्म सर्व शक्ति मान्:—

चरन कमल बंदौं हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधरे को सब कछु दरसाई ।।

(ङ) शुद्धाद्वैत वाद में ब्रह्म की सत्ता सर्वव्यापक है और ब्रह्म से ही जगत् उत्पन्न हुआ है। सूरदास ने यही बात निम्न-लिखित पंक्तियों में कही है:—

आदि निरंजन निराकार कोउ हतौ न दूसर।
रचौं सृष्टि-विस्तार, भई इच्छा, इहि अवसर।।

(च) माया के विषय में भी सूर का कथन शुद्धाद्वैत वाद के अनुसार ही है:—

सो माया है हरि की दासी निस दिन आज्ञाकारी।

पुष्टि-सम्प्रदाय के अनुसार जीव की तीन श्रेणियां मानी गई हैं—संसारी, शुद्ध तथा मुक्त। सूरदास ने अपने सम्प्रदाय के अनुसार ही इन तीनों का वर्णन किया है।

(क) संसारी—

सबै दिन गये विषय के हेत।
तीनों पन ऐसे ही बीते, केस भये सिर सेत।।

और भी

अपुन पौ आपुन ही बिसर्यौ।
जैसे स्वान काँच मन्दिर में भ्रमि-भ्रमि भूक मर्यौ ।।

(ख) शुद्धः—

जहँ वृन्दा बन आदि अजर जहं कुंज लता विस्तार।
सारस हंस-चकोर-मोर खग कूजत कोकिल कीर
गोपिन मंडल मध्य विराजत निसि दिन करत विहार।

(ग) मुक्तः —

अपुनपौ आपुन ही में पायौ।
सब्दहिं सब्द भयौ उजियारो सत गुरु भेद बतायौ ।।

पुष्टि-मार्ग में लीला का बहुत अधिक महत्त्व है। सूरदास ने भी लीला का अत्यन्त ही विशद तथा सजीव वर्णन किया है ऐसे वर्णन के उदाहरण पद पद पर पाये जा सकते हैं।

सूरदास शुद्धाद्वैत वादी थे और इसी सिद्धान्त की अभिव्यक्ति विशेषतया इनके काव्य में हुई है। परन्तु अन्य सिद्धान्तों का भी थोड़ा बहुत प्रभाव इन पर पड़ा है जिनका ज्ञान इन्हें संसर्ग से प्राप्त हुआ होगा। सूरदास कट्टर सम्प्रदाय वादी नहीं थे इसीलिए उन्होंने अन्य सिद्धान्तों को भी अपनी कविता में यत्र तत्र स्थान दिया है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सूरदास प्रथमतः कवि और भक्त थे, दार्शनिक नहीं। अतः उन्होंने दर्शन के फेर में पड़कर कविता की हत्या नहीं की है; केवल दार्शनिक सिद्धान्त की ओर संकेत मात्र किया है।

सूरदास वैष्णव भक्त थे। देव विषयक प्रेम को भक्ति कहते हैं। ईश्वर में परम अनुरक्ति ही भक्ति है। भक्त अपने आराध्य देव से निकट का सम्बन्ध जोड़ता है। वह भगवान् को स्वामी, सखा, पति, पुत्र कुछ भी मान सकता है, यहाँ तक कि वह भगवान् को शत्रु-रूप में भी भज सकता है। वह भगवान् को किसी भी रूप में प्राप्त करने का प्रयास करता है। भक्त का विश्वास होता है कि भगवान् की प्राप्ति ज्ञान से नहीं प्रत्युत् भक्ति से ही हो सकती है। वस्तुतः ज्ञान मस्तिष्क का विषय है और भक्ति हृदय में पैदा होती है। मस्तिष्क विचार, तर्क तथा मनन का उद्गम स्थान है पर सहृदयता, भावुकता, करुणा, सहानुभूति आदि कोमल वृत्तियों का उद्गम-स्थान हृदय ही है। ज्ञान इसी संसार में अध्ययन तथा अनुशीलन से प्राप्त होता है परन्तु भक्ति पारलौकिक है और भगवान् की अपार कृपा से प्राप्त होती है। ज्ञान में पुरुषोचित परुषता है किन्तु भक्ति में नारी सुलभ मृदुता। भक्ति में परमात्मा से एकीकरण की भावना निहित रहती है। विकसित मस्तिष्क विरलों को ही प्राप्त होता है परन्तु हृदय तो सब के पास रहता है। सूरदास भक्ति को ही अपना पौरुष मानते हैं:—

तुम्हरी भक्ति हमारे प्राण

भक्त का मन तो 'बोहित का काग' है जिसे जहाज को छोड़ कर अन्यत्र शरण नहीं।

मेरो मन अनत कहां सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पै आवै॥

मानव के लिए नवधा भक्ति का कथन किया जाता है। ये नव भेद निम्न-लिखित हैं:—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य तथा आत्म निवेदन। ये भक्ति के नव सोपान हैं, जिन्हें किसी भी सच्चे भक्त को पार करना होता है और तभी वह भक्ति के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

वैष्णव धर्म में युगल मूर्ति की आराधना की जाती है! वास्तव में ब्रह्म और माया की युगल मूर्त्ति को ही ध्यान में रख कर सभी वैष्णव युगल मूर्त्ति की उपासना करते हैं। विष्णु के साथ लक्ष्मी की उपासना की जाती है; उसी प्रकार उनके अवतार राम और कृष्ण के साथ सीता और राधा की आराधना की परिपाटी है। सूरदास ने राधाकृष्ण की युगल मूर्ति की लीलाओं का वर्णन किया है।

सामान्यतः वैष्णव-भक्ति में भक्ति के छः अंग माने जाते हैं। सूरदास ने अपने पदों में इन सभी को स्थान दिया है। यथा—

(१) आनुकूल्य संकल्प—भगवान् के प्रति सर्वथा अनुकूल बने रहने का संकल्पः—

जैसे हि राखौ तैसे हि रहौं।
जानत हौ सुख दुख सब जन कौ मुख करि कहा कहौं!

× × ×

कमल नयन घन स्याम मनोहर अनुचर भयो रहौं।
सूरदास प्रभु भगत कृपा निधि, तुम्हरे चरन गहौं ॥

(२) प्रातिकूल्य-वर्जन—भगवान् की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी नहीं करने का संकल्पः—

तजो मन हरि-विमुखन को संग।
जाके संग कुबुधि उपजत है परत भजन में भंग ॥

(३) रक्षणी-विश्वास (रक्षिष्यतीति विश्वासः) ऐसा विश्वास कि भगवान् रक्षा करेंगे:—

सरन गये को को न उबार्यौ।
जब जब भीर परी भगतन पै चक्र सुदरसन तहां सँभार्यौ ॥

(४) गोप्तृत्व-वरण—ऐसा मानना कि भगवान् ही एक मात्र रक्षक तथा उद्धारक हैं:—

दीनानाथ अब बार तुम्हारी।
पतित उधारन बिरद जानि कै बिगरी लेहु सँवारी ॥

(५) आत्म-निक्षेप—भगवान् के सम्मुख आत्म-समर्पण कर देना:—

मेरो मन अनत कहां सुख पावै ?
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पर आवै ॥

(६) कार्पण्य—भगवान् के सम्मुख दीनता का भाव प्रदर्शित करना—

मो सम कौन कुटिल खल कामी
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमक हरामी ॥

अथवा

हौं तो सब पतितन को टीको।
और पतित सब द्यौस चारि को हौं तो जनमत ही को ॥

वैष्णव भक्ति में विनय की सात भूमिकाएँ मानी जाती हैं। इन भूमिकाओं में उतरे बिना विनय को अपूर्ण समझा जाता है। इनका उद्देश्य है मन को अपने आराध्य देव के प्रति प्रेरित करना। सूरदास के विनय के पदों में इन भूमिकाओं के भी पर्याप्त उदाहरण वर्तमान हैं।

(१) दीनता—अपने को अत्यन्त तुच्छ समझना—

हौं हरि सब पतितन को नाथ।

(२) मान मर्षता—अभिमान का त्याग:—

हमैं नंद नंदन मोल लियो।
सब कोउ कहत गुलाम स्याम के सुनत सिरात हियो।
सूरदास प्रभु जू के चेरे जूठन खाय जियो ॥

(३) भर्त्सना—मन को डाँटना—

रे मन मूरख जनम गँवायो।
करि अभिमान विषय रस राच्यो स्याम सरन नहिं आयो॥

(४) भय-दर्शन—मन को भय-प्रदर्शन द्वारा माया से हटा कर ईश्वर की ओर उन्मुख करनाः—

हरि बिनु कोऊ काम न आयो।
यह माया झूठी प्रपंच लगि रतन सो जनम गँवायो।

अथवा

भगति बिनु सूकर कूकर जैसो।

(५) आश्वासन—भगवान् की वत्सलता दिखा कर मन को दृढ़ करनाः—

जा पर दीनानाथ ढरै।
ताकैर केस खसै ना सिर ते जो जग बैर करै॥

(६) मनोराज्य—मन में उच्च अभिलाषाएँ रखना और यह आशा करना कि भगवान् उन्हें पूर्ण करेंगेः—

ऐसो कब करिहौ गोपाल।
मनसा नाथ मनोरथ दाता हौ प्रभु दीन दयाल॥

(७) विचारण—जगत् का माया जाल दिखाकर मन को विरक्त करना और उसे ईश्वर की ओर उन्मुख करनाः—

जगत में जीवन ही को नातो।
मन बिछुरे तन छार होइगो कोई न बात पुछातो॥

अथवा

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहै॥

उपर्युक्त छः अंग या सात भूमिकाएँ दास्य भाव की भक्ति के अन्तर्गत हैं। सूरदास के जीवन-वृत्त से हमें पता चलता है कि वल्लभाचार्य से भेंट होने के पहले वे गऊ घाट पर रहा करते थे और दास्य भाव की भक्ति करते थे। ३१ वर्ष की अवस्था में वल्लभाचार्य जी से उनकी भेंट हुई और वे गोस्वामी जी के शिष्य हो कर पुष्टि-मार्ग में दीक्षित हुए।

पुष्टि मार्ग में दीक्षित होने पर सूरदास की भक्ति-पद्धति में मौलिक परिवर्त्तन हो गया। अब उनकी भक्ति पहले की तरह दास्य भाव की नहीं रह गई प्रत्युत सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य में परिवर्त्तित हो गई। सख्य सूरदास का सब से अधिक महत्वपूर्ण तथा विशद भाव हो गया। अब तक दास्य भाव के भक्त सूरदास अपने आराध्य देव तथा स्वामी से डरते थे, परन्तु अब सख्य भाव के भक्त सूरदास को अपने सखा कृष्ण से डरने की आवश्यकता नहीं रह गई। अब तो ये अपने आराध्य के गुप्त से गुप्त प्रसंग में अपने को पाते हैं। सूरदास अब कृष्ण के अंतरंग सखा हैं और इन में प्रेम-सुलभ धृष्टता आ

गई है। यहां तक कि ये अब अपने सखा-आराध्य से झगड़ पड़ने को भी तैयार हो जाते हैं—

कै हम ही कै तुम ही माधव, अपुन भरोसे लड़िहौं।

कहीं कहीं पर सूरदास ने घोर शृंगार का वर्णन किया है क्योंकि अंतरंग सखा होने के कारण उन्हें तो कृष्ण की गोप्य से गोप्य लीलाओं में भाग लेने का और उन का वर्णन करने का अधिकार-सा प्राप्त हो गया है। आगे चलकर, अनधिकारी हाथों में पड़ जाने के कारण, इस घोर शृंगारिकता का अत्यन्त भयंकर दुष्परिणाम हुआ और विलासियों की विलासिता जागृत करने के लिए कृष्ण की लीलाओं का उपयोग किया जाने लगा।

भक्ति का एक अन्य प्रकार वात्सल्य है। सूरदास ने नंद, यशोदा अथवा किसी अन्य वृद्ध व्यक्ति का भक्ति-भाव प्रदर्शित करने के लिए वात्सल्य का उपयोग किया है। प्राचीन ग्रन्थों में भी इसे भक्ति का एक प्रकार माना गया है किन्तु किसी कवि ने शायद ही इसका उपयोग भक्ति प्रदर्शित करने के लिए किया हो सूरदास ने वात्सल्य का उपयोग अत्यन्त ही विशद रूप में कर के इसे रस के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है। पुष्टि-मार्ग में वात्सल्य का विशेष स्थान है परन्तु सूरदास ही प्रथम कवि हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में श्लाघ्य कार्य किया और वात्सल्य को निर्विवाद रूप से रस प्रमाणित कर दिया।

दाम्पत्य अथवा माधुर्य भाव की भक्ति में भी सूरदास अद्वितीय हैं। माधुर्य भाव में भक्त भगवान् से पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका का सम्बन्ध जोड़ता है। हिन्दी में इस प्रकार की भक्ति नवीन वस्तु नहीं है प्रत्युत् सूर के पहले भी कुछ भक्त इस भाव की भक्ति कर चुके थे। निर्गुण-मार्गी संत तथा प्रेम-मार्गी सूफी भी इस प्रकार की भक्ति करते थे। किन्तु सूरदास ने माधुर्य भाव के चित्रण में बहुत ही अधिक मार्मिकता से काम लिया और फल स्वरूप इस क्षेत्र में भी वे पूर्ण सफल हुए।

कहीं कहीं सूरदास ने अन्योक्ति पद्धति पर अपनी भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति की है। निम्न लिखित पद कितना भाव-पूर्ण तथा सार-गर्भित है:—

चकई री, चल चरन सरोवर, जहां न प्रेम वियोग।
जहं भ्रम-निशा होत नहिं कबहूं, वह सायर सुख जोग॥
जहाँ सनक से मीन हंस, शिवमुनी जन नख रवि प्रभा प्रकास।
प्रफुल्लित कमल निमिष नहीं शशि डर गूँजत निगम सुवास॥

इस तरह हम देखते हैं कि सूर ने चार प्रकार की भक्ति की है:— (१) दास्य भाव, (२) सख्य भाव, (३) वात्सल्य भाव, तथा (४) माधुर्य भाव। सूर की आत्मा पुष्टि मार्ग में ही रमी है और इसी प्रकार की भक्ति के कारण वे इतने सफल कवि तथा श्रेष्ठ भक्त हो सके हैं।

सूरदास की भक्ति में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक है। सूरदास पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित थे अतः उन्हें एक सम्प्रदाय विशेष की भक्ति करनी थी। उनका बाह्य रूप हमें अवश्य ही साम्प्रदायिक जान पड़ता

है किन्तु वास्तव में उनकी आत्मा बहुत अंशों में मौलिक है। सूर में कट्टर साम्प्रदायिकता नहीं पायी जा सकती है। वस्तुतः कोई भी कवि किसी साम्प्रदायिक घेरे में नहीं बाँधा जा सकता। सूर केवल भक्त ही नहीं वरन् श्रेष्ठ कवि भी थे अतः इनमें साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं।

उस युग के शैव और वैष्णव प्राय. पूर्वग्रह से आक्रान्त रहा करते थे। शैवों और वैष्णवों में प्रायः झगड़े भी हो जाया करते थे। फिर राम-भक्त कृष्ण की उपासना प्रायः नहीं करता था; वैसे ही कृष्ण-भक्त भी राम की उपासना से कोई सम्बन्ध साधारणतया नहीं रखता था। परन्तु सूरदास इस कोटि के पूर्वग्रह से बहुत ऊपर थे। उन्होंने कृष्ण भक्त होकर भी राम-भक्ति के पद गाये हैं; यहां तक कि कृष्ण को शंकर के वेश में भी उपस्थित किया है। वास्तव में सूर उदार विचार के भक्त थे; और उन्होंने शैवों और वैष्णवों का मनोमालिन्य मिटाने में स्तुत्य प्रयास किया है।

सूरदास की भक्ति अनन्यासक्ति की श्रेणी की है। उनमें भावना की गहरी अनुभूति तथा तन्मयता है। ऐसी बात साधारणतया अन्य भक्तों में नहीं पायी जाती। सूरदास एक असाधारण कवि और असाधारण भक्त थे। उनमें भक्ति और काव्य का सुंदर समन्वय हुआ है। यह बात भी अन्य भक्तों तथा कवियों में प्रायः नहीं पायी जाती है। अनेक उदाहरणों से सिद्ध किया जा सकता है कि सूरदास एक श्रेष्ठ भक्त कलाकार हैं। सगुण-निर्गुण की विवेचना करते समय भी सूरदास नीरस तर्क देकर विषय को रूखा नहीं बना देते प्रत्युत् वहां भी उन्होंने सहृदयता से काम लिया है और वक्रोक्ति के द्वारा भ्रमरगीत को श्रेष्ठ उपालम्भ काव्य बना दिया है।

भक्ति के कोमल भावों के उद्रेक के ही कारण सूरदास के काव्य में अन्य भक्त कवियों की अपेक्षा इतनी उत्कृष्टता आ गई है। वस्तुतः सूर के भक्ति विषयक पदों में भावों का जैसा सुन्दर स्फुरण हुआ है वैसा अन्य कवियों में पाना कठिन है। सूरदास भक्त महाकवि हैं।

रस-निरूपण

सूरदास हिन्दी के उन समर्थ कवियों में हैं जिनके भाव-पक्ष और कला-पक्ष में समुचित सन्तुलन हो सका है। कबीर और जायसी जैसे कुछ कवि हैं जिनमें भाव-पक्ष सबल है परन्तु कला-पक्ष दुर्बल। इनके विपरीत रीति कालीन कवियों में अधिकांश का कला-पक्ष सशक्त है परन्तु भाव-पक्ष सर्वथा शक्ति-हीन। सूर और तुलसी जैसे बहुत कम ही कवि हैं जिनके दोनों पक्ष सशक्त हैं।

सूरदास के काव्य का मुख्य विषय है प्रेम जिसे काव्य-शास्त्र की भाषा में रति कहते हैं। यह रति तीन प्रकार की होती है-(१) देव-विषयक रति जिसे भक्ति कहते हैं; (२) शिशु-विषयक रति जिसे वात्सल्य कहते हैं; और (३) पति-पत्नी विषयक रति जिसे दाम्पत्य कहते हैं। सूरदास के काव्य में रति के इन तीनों भेदों की उचित रीति से अभिव्यंजना हुई है। रस-शास्त्र की दृष्टि से उनके विनय के पद देव-विषयक रति (भक्ति)

के अन्तर्गत आते हैं; कृष्ण की लीलाओं और चेष्टाओं का वर्णन वात्सल्य के अन्तर्गत और गोपियों के प्रेम का वर्णन करने वाले पद दाम्पत्य रति के अन्तर्गत आते हैं।

कतिपय विद्वानों का मत है कि सूर-साहित्य का मुख्य रस शान्त है क्योंकि सूरदास भक्त कवि थे और उन्होंने भक्ति के पद लिखे हैं। किन्तु यह भ्रान्त धारणा है। यह आवश्यक नहीं कि भक्त कवि जो कुछ लिखेगा, शान्त रस का ही लिखेगा। सूरदास के केवल विनय के पद शान्त रस के अन्तर्गत आते हैं किन्तु पुष्टि-मार्ग में दीक्षित होने के अनन्तर उन्होंने जो कुछ लिखा वह या तो वात्सल्य रस का या शृंगार रस का। काव्योत्कर्ष की दृष्टि से ये ही वात्सल्य और शृंगार के पद विशेष महत्त्व-पूर्ण हैं। सूरदास मुख्यतः वात्सल्य और शृंगार के ही कवि हैं। 'शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्रों में जहां तक इनकी दृष्टि पहुँची वहां तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महा कवि ने मानो औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं'। *

वात्सल्य-वर्णन

वल्लभाचार्य ने पुष्टि-सम्प्रदाय में कृष्ण के बाल-रूप की उपासना पर विशेष बल दिया है। अतः सभी पुष्टि-मार्गी भक्तों के लिए वात्सल्य-वर्णन आवश्यक हो गया। सूरदास ने कृष्ण की बाल-लीलाओं का अत्यन्त विशद वर्णन किया है। उन्हें बाल मनो-विज्ञान का गहरा अध्ययन था और शिशु की सूक्ष्म चेष्टाओं की ओर उनका ध्यान गया है। सूर की दृष्टि से बाल-लीला एवं क्रीड़ा से सम्बन्ध रखने वाला कोई भी पहलू अस्पृश्य नहीं बचा है। उन्होंने कृष्ण के बचपन के असंख्य हृदय-ग्राही सुन्दर चित्र खींचे हैं। पालने में झूलना, पैर का अंगूठा मुंह में डालना, घुटने के बल चलना, सारे शरीर में धूलि लगाना, मक्खन खाना, चन्द्रमा को देख कर उसे लेने के लिए मचलना, मिट्टी खाना, नहाते समय रूठ जाना आदि चेष्टाओं के असंख्य चित्र हैं। कुछ सयाने होने पर मक्खन चोरी, दान-लीला, मान लीला, गो चारण आदि क्रीड़ाओं के अनेक मनोहर चित्र खींचे गये हैं। सूर ने जिन लीलाओं का वर्णन किया जान पड़ता है कि उनमें वे स्वयं डूब गये हैं। 'वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया है उतना किसी और कवि ने नहीं इन क्षेत्रों का कोना कोना वे झाँक आये।'* वात्सल्य को रसत्व प्रदान करने में सूर का सबसे बड़ा हाथ है। विश्वसाहित्य में कोई भी कवि इस रस के वर्णन में सूर की शायद छाया भी नहीं छू सका है। इस क्षेत्र में सूरदास निर्विवाद रूप से अद्वितीय हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से देखें तो सूर के वात्सल्य रस का स्थायी भाव शिशु-विषयक रति है; आश्रय नंद और यशोदा हैं; आलम्बन कृष्ण हैं; उद्दीपन विभाव कृष्ण की नानाविध लीलाएँ हैं; अनुभाव है नंद-यशोदा का हँसना और पुलकित होना आदि और संचारी भाव

* आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

हैं नंद-यशोदा की चिन्ता, उत्सुकता आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि भरत मुनि के सूत्र 'विभावानुभाव-संचारि-संयोगाद्रस-निष्पत्तिः' के अनुसार रस-निष्पत्ति के सभी साधन सूर के वात्सल्य-वर्णन में वर्त्तमान हैं।

वात्सल्य-चित्रण दो प्रकार का हो सकता है—बाह्य और आन्तरिक। बाह्य चित्रण में शिशु के रूप-सौन्दर्य का वर्णन होता है और आन्तरिक में उस की मनोवृत्तियां तथा प्रवृत्तियों का। सूरदास ने अपने वात्सल्य-चित्रण में दोनों प्रकार के अनेक चित्र उपस्थित किये हैं। बाल-कृष्ण के रूप का चित्रण अनेक पदों में किया गया है। उनके विभिन्न अंगों तथा वेश-भूषा का सुन्दर चित्रण देखने को मिलता है:—

(१) जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै॥

(२) देखो री सुन्दरता को सागर।

कृष्ण के चलने फिरने, खेलने कूदने और नाना प्रकार की क्रीड़ाओं का सजीव चित्रण अनेक पदों में किया गया है। माता यशोदा उन्हें अंगुली पकड़ कर चलना सिखा रही हैं और कृष्ण बार-बार गिर जाते हैं:—

सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावति, डगमगाय धरनी धरि पैया॥

एक स्वाभाविक चित्रण देखिए:—

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किये।

शिशु की बाह्य सुन्दरता एवं चेष्टाओं के वर्णन के साथ ही सूरदास ने उसकी अन्तः प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। शिशु में उत्सुकता का भाव जन्मजात है। प्रत्येक बच्चे में यह प्रवृत्ति रहती है। बच्चा चन्द्रमा को देखता है तो उसे पाने को उत्सुक हो उठता है। कृष्ण भी उस सलोने चाँद को पाना चाहते हैं:—

लैहौं री माँ चन्द चहौंगो।

शिशु में स्पर्द्धा की भी प्रवृत्ति होती है। एक शिशु किसी दूसरे शिशु की कोई अच्छी वस्तु देखकर मचल जाता है। बलराम की लम्बी चोटी देखकर कृष्ण अपनी भी चोटी उसी रूप में देखना चाहते है। माता यशोदा को दूध पिलाने का अच्छा बहाना हाथ लग जाता है। वह कहती है कि यदि तुम दूध पी लोगे तो तुम्हारी भी चोटी बलराम की चोटी की तरह लम्बी और मोटी हो जायगी। दूध पीने पर भी जब कृष्ण की चोटी नहीं बढ़ती तो वे कहते हैं:—

मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यौं ह्वै है लाँबी मोटी॥

इन पंक्तियों में स्पर्द्धा का भाव व्यंजित हो रहा है।

बाल हठ प्रसिद्ध ही है। कृष्ण इस दृष्टि से अन्य बालकों से बीस ही पड़ेंगे। किसी बात पर मचल पड़ते हैं और हठ कर बैठते हैं। कुछ उदाहरण देखिए :--

(क) कत हौ आरि करत मन मोहन यों तुम आंगन लोटी!
जो माँगहु सो देहूँ मनोहर, यहै बात तेरी खोटी।
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो हाथ लकुटि लिए छोटी!

(ख) मेरो, माई! ऐसो हठी बाल गोविन्दा।
अपने कर गहि गगन बतावत खेलन को मांगै चन्दा।

शिशु में क्षोभ की भावना भी बहुत प्रबल होती है। छोटी-छोटी बातें भी बच्चों को लग जाती हैं। सूरदास ने इस प्रवृत्ति का भी सुन्दर तथा स्वाभाविक चित्रण अनेक स्थानों पर किया है। खेलते समय बलराम कृष्ण को चिढ़ा देते हैं यह कह कर कि तुम नंद और यशोदा के पुत्र नही हो। उन्होंने कुछ ले दे कर तुम्हें मोल लिया है। प्रमाण भी प्रत्यक्ष ही है। वे दोनों गोरे हैं परन्तु तुम काले क्यों हो गये? कृष्ण को यह बात लग जाती है। वे सीधे माता यशोदा के पास पहुँच कर बलराम के विरूद्ध नालिश करते हैं। आखिर माता ही तो बच्चों के लिए सबसे बड़ी अदालत है।

मैया, मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।
मों सों कहत मोल को लीनो, तोहि जसुमति कब जायौ।
तू मोहीं को मारन सीखी दाऊ हिं कबहुँ न खीझै।

खेल में हार जीत के कारण जो क्षोभ बालकों में होता है उसका स्वाभाविक चित्रण देखिए। कृष्ण के दाँव नहीं देने पर कोई साथी बालक कहता है :—

खेलत में को काको गोसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैया।

क्षोभ का दूसरा स्वाभाविक चित्रण देखिए। कृष्ण खेल में खीझ कर कहते हैं :--

खेलन अब मेरी जात बलैया।
जबहिं मोहिं देखत लरिकन सँग तबहिं खिझत बल भैया॥

बाल-लीला का एक और स्वाभाविक चित्रण देखिए। कृष्ण गोपियों के घर से दही चुरा कर खाते हैं और उनकी चोरी पकड़ी जाती है। माता यशोदा के पास उलहना आने पर वे साफ कह देते हैं कि मैंने दही नहीं खाया और साथियों ने मेरे मुँह में दही लपेट दिया है।

मैया मेरी, मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायो॥

सफाई भी दे रहे हैं :--

मैं बालक बँहियन को छोटो, छीकों केहि विधि पायौ।

वात्सल्य के दो पक्ष होते हैं--संतान पक्ष तथा मातृ-पितृ-पक्ष। ऊपर जो कुछ कहा गया है वह सब संतान पक्ष का वात्सल्य है--कृष्ण की क्रीड़ाओं और प्रवृत्तियों का चित्रण

है। हम देख चुके कि सूरदास ऐसे चित्रण में पूर्ण सफल हुए हैं। वे दूसरे पक्ष के चित्रण में भी समान रूप से सफल हुए हैं। माता का हृदय स्नेह से भरा होता है। माता यशोदा कृष्ण की क्रीड़ाएँ देखकर अपार हर्ष प्राप्त करती हैं। उनके मन में अभिलाषा होती है कि कृष्ण कब कुछ बड़े होंगे, कब अपने पैरों से चलना आरम्भ करेंगे और कब मां बाप को मैया और बाबा कहने लगेंगे।

जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरे लाल घुटुरुवन रेगें, कब धरनी पग द्वैक धरै॥

माता अपने पुत्र को आँखों के सामने ही रखना चाहती है।

(क) खेलत दूर जात किन कान्हा?
आज सुन्यौ बन हाऊ आयौ, तुम नहीं जानत कान्हा।

(ख) खेलन को मेरो दूर गयो।
संगी संग कहँ धावत ह्वै हैं, बहुत अबेर भयो॥

कृष्ण वन से लौटने पर अपनी माता से कहते हैं कि मैं गाय चराने नहीं जाऊँगा क्यों कि सभी बालक मुझ से ही गाय घिराते हैं:—

यह सुनि माइ जसोदा ग्वालनि गारी देति रिसाइ।
मैं पठवति अपने लरिका कौं, आवै मन बहराइ।
'सूर' स्याम मेरो अति बालक मारत ताहि रिंगाइ॥

शृंगार के समान वात्सल्य के भी दो भेद हो सकते हैं—संयोग और वियोग। कृष्ण-सम्बन्धी वात्सल्य में वियोग वात्सल्य स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। कृष्ण व्रज में जब तक हैं तब तक संयोग वात्सल्य है और मथुरा चले जाने के बाद वात्सल्य का वियोग पक्ष आरम्भ होता है। नंद और यशोदा की आंखों के सामने अब कृष्ण नहीं हैं। यह वियोग वात्सल्य भी अत्यन्त मार्मिक है।

कृष्ण को मथुरा ले जाने के लिए अक्रूर आये हैं। माता यशोदा विह्वल हो जाती हैं। उन्हें कोई ऐसा व्यक्ति नहीं दिखाई देता जो कृष्ण को मथुरा जाने से बचा ले।

बरु या गोधन हरौ कंस सब, मोहिं बंदि लै मेलौ।
इतनौ ही सुख कमल नैन मो अँखियन आगै खेलौ॥

यद्यपि यशोदा को लोग अनेक प्रकार से समझाते हैं, तथापि कृष्ण के उपयोग के योग्य वस्तुओं को देखकर यशोदा का मन बेचैन हो जाता है:—

यद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि, मेरे मोहन के मुख जोग॥
प्रात काल उठि माखन रोटी को बिनु मांगै दैहै।
अब उठि मेरे कुँवर कान्ह को, छिन छिन अंकम लैहै?

कृष्ण के गुणों को याद करके हृदय में शूल उठता है।

मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कुछ वैसे हि धरयौ रहै।
को उठि प्रात होत लै माखन को कर नेत गहै ?
सूने भवन जसोदा सुत के गुन गनि सूल सहै।

यशोदा को जान पड़ता है कि कृष्ण को अपने माता पिता देवकी वसुदेव मिल गये हैं; और शायद इसीलिए उन्होंने मुझे भुला दिया। वह अपने को कृष्ण की धाय समझती है। मथुरा की ओर जाने वाले एक पथिक के द्वारा वह एक संदेश देवकी के पास भेजती है।

संदेशो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत नित रहियो।

नंद और यशोदा नित्य प्रति 'कान्ह कान्ह' की रट लगा रहे हैं, और उनकी आँखों से निरन्तर अश्रु-धारा प्रवाहित होती रहती है।

नंद जसोदा मारग जोवत नित उठि साँझ सकारे।
चहुँ दिसि कान्ह कान्ह कहि टेरत अँसुवन बहत पनारे ॥

माता पिता से वियोग-जन्य वेदना कृष्ण के भी हृदय में है। वे नंद यशोदा से बिछुड़ कर कठिन वेदना सह रहे हैं। पथिक के द्वारा वे यशोदा के पास संदेश भेजते हैं—

जा दिन ते हम तुम ते बिछुरे, काहु न कह्यौ कन्हैया।

मां बाप की याद कर के वे विचलित हो आते हैं। ब्रज की याद सदा उनके हृदय में बनी रहती है।

ऊधो ब्रज मोहि बिसरत नाहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वात्सल्य के सभी पक्षों का समुचित वर्णन सूरदास ने किया है। कृष्ण की बाल लीलाओं और यशोदा माता के हृदय में उठने वाली भावनाओं का जैसा मार्मिक चित्रण सूर ने किया वैसा कोई भी कवि नहीं कर सका है। वात्सल्य रस के सर्वश्रेष्ठ कवि सूर ही है। कोई दूसरा कवि इस क्षेत्र में उनके पास भी फटकने का साहस नहीं कर सकता।

सूर के वात्सल्य-वर्णन की सफलता के मूल में निम्न-लिखित तथ्य हैं:—

(१) सूर दास की भावुकता उच्च कोटि की थी। उन्हें बाल-मनोविज्ञान में गहरी अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी। इसीलिए शिशु के हृदय में उठने वाली समग्र भावनाओं के सूक्ष्म निरीक्षण में सूर दास समर्थ हो सके हैं।

(२) सूर दास के कृष्ण केवल शिशु हैं, राज कुमार नहीं। आदर्श वाद तथा आभिजात्य का झूठा ढकोसला कवि ने नहीं रखा। इसीलिए सूर दास का वात्सल्य-वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक हुआ है। सामान्य शिशुओं के समान सूरदास के कृष्ण मिट्टी खाते हैं, दही और मक्खन की चोरी करते हैं तथा अवसर आने पर झूठ बोलने में भी नहीं हिचकते। फलस्वरूप सूरदास के वात्सल्य-वर्णन पर सभी का विश्वास हो जाता है।

(३) सूरदास ने सहज स्वाभाविक भाषा में वात्सल्य-चित्रण किया है। यदि वे कठिन और साहित्यिक भाषा का प्रयोग करते तो उन्हें इतनी सफलता, सम्भवतः नहीं मिलती।

(४) सूर दास का वात्सल्य-वर्णन सर्वथा पूर्ण है। कवि ने सभी पक्षों से वात्सल्य का अवलोकन किया है। कृष्ण की भावनाओं के साथ साथ नंद और यशोदा की भी भावनाओं का वर्णन है। वात्सल्य के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों का सम्यक् निरूपण सूरदास ने किया है।

(५ सूरदास ने अकेले कृष्ण का ही चित्रण नहीं किया है। अन्य ग्वाल बाल कृष्ण की लीलाओं के लिए उपयुक्त पृष्ठ-भूमि का कार्य करते हैं। यदि अकेले कृष्ण का ही चित्रण होता तो उस वातावरण की सृष्टि नहीं हो सकती जिसके दर्शन हमें आज होते हैं।

शृंगार-वर्णन

गोपियों के साथ कृष्ण का प्रेम कोई आकस्मिक घटना नहीं है प्रत्युत् वृन्दावन के उन्मुक्त वातावरण में इस प्रेम का स्वाभाविक विकास होता है। बचपन का प्रेम यौवन के प्रेम में स्वतः स्वाभाविक रूप से विकसित होता है। महलों अथवा कृत्रिम उपवनों में घिरा रहने वाला यह प्रेम नहीं अपितु वृंदावन की विस्तृत वनस्थली एवं यमुना के किनारे के करील-कुंजों की पृष्ठ-भूमि में पलनेवाला स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त प्रेम है। आपस के हास-परिहास से इस प्रेम का प्रारम्भ होता है और पारस्परिक आकर्षण के कारण कृष्ण गोपियों की ओर आकर्षित होते हैं और गोपियां कृष्ण की ओर।

'सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूप-लिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है।'* कृष्ण और गोपियों को साथ रहने का पर्याप्त समय मिला है। साथ ही उठना बैठना, गाय चराना, हास-परिहास आदि कृत्य हुआ करते हैं। अतः साहचर्य के कारण प्रेम के स्वाभाविक विकास में सहायता मिलती है। कृष्ण अद्वितीय सुन्दर भी है। रूप का भी आकर्षण कम नहीं होता। अतः दो प्राकृतिक शक्तियों के कारण कृष्ण और गोपियां के प्रेम में स्वाभाविक विकास हो सका है।

राधा और कृष्ण के प्रेम का आरम्भ सूर ने रूप के आकर्षण द्वारा ही दिखाया है:—

बूझत श्याम, कौन तू गोरी ?
कहां रहति काकी तू बेटी ? देखी नाहिं कहूं ब्रजखोरी"।
"काहे को हम ब्रज तन आवति ? खेलत रहति आपनी पौरी।
सुनत रहति श्रवनन नँद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी"
"तुम्हरी कहा चोरि हम लैंहे ? खेलन चलौ संग मिलि जोरी।"
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी॥

इस प्रकार हास-परिहास में ही प्रेम की उत्पत्ति हो जाती है।

* आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—का सूरदास ने विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है इतना अधिक विस्तार किसी दूसरे कवि में नहीं मिलता। ब्रज में रहते समय कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन संयोग शृंगार की नानाविध क्रीड़ाओं में व्यतीत होता है। दान-लीला, मान-लीला, चीर-हरण वंशीवादन आदि के अनेक चित्र हमें मिलेंगे। राधा और कृष्ण के अंग-प्रत्यंग का मनोहर, वर्णन करील कुंज, यमुना का किनारा, चाँदनी रात आदि विविध प्रकार के विभाव हैं अनुभावों और संचारियों का तो बाहुल्य ही मिलेगा। राधा और कृष्ण परस्पर आश्रय और आलम्बन हैं। इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से संयोग शृंगार का पूर्ण परिपाक हुआ है।

राधा और कृष्ण का साथ वन में हो गया है। दोनों में नित्य प्रति प्रेम बढ़ता ही जाता है। दोनों असंख्य प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हैं। दोनों एक दूसरे के घर भी जाने लगे हैं और नित्य-प्रति ऐसे खेल हुआ करते हैं:—

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी।
मोहन कर सों धार चलति पय, मोहनि मुख अति ही छवि बाढ़ी॥

वास्तव में प्रेम नाम की मनोवृत्ति का जैसा विस्तृत और पूर्ण परिज्ञान सूर को था वैसा और किसी कवि को नहीं।' *

कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा चले जाते हैं। उसी समय से सूर के विप्रलम्भ शृंगार का प्रारम्भ होता है कुछ दिनों तक कृष्ण के आने की आशा गोपियों को है किन्तु थोड़े ही समय में वह आशा निराशा में परिणत हो जाती है। कृष्ण ब्रज में फिर नहीं आते। गोपियां विह्वल हो जाती हैं और उनकी आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होती रहती है।

गोपियों के विरह को काल की दृष्टि से दो भागो में बाँट सकते हैं। उद्धव के ब्रज में आने के पूर्व पहला भाग और उनके आने के उपरान्त दूसरा भाग। दूसरे भाग में ही भ्रमर गीत आता है

'सूरदास का संयोग शृंगार जितना व्यापक और विस्तृत है उतना ही वियोग शृंगार भी' आचार्य शुक्ल जी का यह कथन अक्षरशः सत्य एवं समीचीन है। वियोग में जितनी दशाएँ हो सकती हैं, सबकी ओर सूर की दृष्टि गई है और सब का मार्मिक चित्रण उन्होंने किया है। विरह की ग्यारह अन्तर्दशाएँ आचार्यों ने मानी हैं—(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मरण, (४) गुण-कथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जड़ता, (१०) मूर्च्छा, (११) मृत्यु। सूरदास ने सभी अवस्थाओं का पूर्ण चित्रण किया है। सबके उदाहरण दिये जा सकते हैं। 'चिन्ता' का उदाहरण देखिए:—

---

* आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

उर में माखन - चोर गड़े ।
अब कैसे हु निकसत नहीं ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े ॥

गोपियों के सरल हृदय में कृष्ण तिरछे होकर बैठ गये हैं इसलिए निकल नहीं सकते। यहां कृष्ण की त्रिभंगी मुद्रा का चित्रण किया गया है। गोपियों के हृदय से कृष्ण का सौन्दर्य जा नहीं सकता क्योंकि उनकी त्रिभंगी मुद्रा गोपियों के हृदय में गड़ गई है। इस पद की भाव-व्यंजना अकथनीय है।

'स्मरण' का एक उदाहरण देखने योग्य है। सावन के महीने में आकाश में उमड़ते बादलों को देख कर सहसा घनश्याम कृष्ण का स्मरण हो जाता है दोनों में इतना रूप-साम्य है कि बादल को देख कर कृष्ण का स्मरण हुए बिना नहीं रहता।

आजु घनस्याम की अनुहारि ।
उनै आये साँवरो सखि लेहिं रूप निहारि ॥
इन्द्र धनुष मनों पीत बसन छवि दामिनि दसन बिचारि ।
जनु बग पाँति माल मोतिन की, चितवत चित लै हारि ॥
गरजत गगन गिरा गोविन्द की, सुनत नयन भरे बारि !
सूरदास गुन सुमरि स्याम के विकल भईं ब्रज नारि ॥

'स्मरण' का दूसरा उदाहरण देखिए। कृष्ण के बिना सारा ब्रज मृतवत् हो गया है। गाय चरा कर संध्या काल में कृष्ण ब्रज लौटते थे इसका स्मरण गोपियों को सताता है:—

एहि बेरियाँ बन तें ब्रज आवते ।
दूरहिं ते वह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते ॥

प्रकृति के जो उपादान संयोग के समय अपार आनन्द प्रदान करने वाले थे, वे ही अब वियोग के समय में दारुण कष्ट देने वाले प्रतीत होते हैं। वास्तव में प्रकृति के उपादान न कष्टकर होते हैं और न सुखकर अपितु अपने हृदय की भावनाएँ ही बाह्य प्रकृति में प्रतिबिम्बित तथा परिलक्षित होती हैं। चन्द्रमा संयोग के दिनों में प्रेम का उद्दीपक होता है परन्तु वियोग के समय में यही गोपियों के लिए दाहक सिद्ध हो रहा है।

या बिनु होत कहा अब सूनो ?
लै किन प्रगट कियो प्राची दिसि, विरहिन को दुख दूनो ?

गोपियों का जीवन तो नीरस हो गया है। उधर वृन्दावन के वृक्ष हरे भरे हैं। गोपियाँ अपने जीवन के साथ उस हरे भरे वन का सामंजस्य नहीं पातीं और उन्हें वह निर्लज्ज जान पड़ता है।

मधुबन तुम कत रहत खड़े ?
विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ?
तुम हौ निलज, लाज नहिं तुम को, फिर सिर पुहुप धरे ?
ससा स्यार औ बन के पखेरू धिक-धिक सबन करे ?
कौन काज ठाढ़े रह बन में, काहे न उकठि परे ?

प्रकृति का एक ही उपादान विरहोन्माद के कारण, कभी एक रूप में दिखाई पड़ता है और कभी सर्वथा विपरीत रूप में। उमड़ते हुए बादल कभी उन्हें भयंकर जान पड़ते हैं :—

देखियत चहुँ दिसि ते घन घोर।
मानो मत्त मदन के हथियन बल करि बंधन तोरि ॥

वे ही बादल कभी उन्हें कृष्ण से भी अधिक सहानुभूति-पूर्ण जान पड़ते हैं और सुखद लगते हैं :—

बरू ये बदराऊ बरसन आये।
अपनी अवधि जानि नँद नंदन ! गरजि गगन घन छाये ॥
कहियत हैं सुरलोक बसत, सखि ! सेवक सदा पराये।
चातक कुल की पीर जानि कै तेउ तहाँ ते धाये।
तृण किए हरित, हरषि बेली मिलि, दादुर मृतक जिवाँये ॥

पपीहा 'पिउ पिउ' की रट से प्रिय का स्मरण करा कर गोपियों का विरह बढ़ा देता है। अतः गोपियाँ उसे फटकारती हैं :—

हौं तो मोहन की विरह जरी रे ! तू कत जारत ?
रे पापी तू पंखि पपीहा ! पिउ पिउ पिउ अधि रात पुकारत।

वही पपीहा उन्हें अपने समान दुःख का दुःखी जान पड़ता है और उससे गोपियों की सहज सहानुभूति हो जाती है—

बहुत दिन जीवौ, पपिहा प्यारो
बासर रैनि नाँव लै बोलत, भयो बिरह जुर कारो ॥

विरहिणी गोपियों को जान पड़ता है कि जिस दुःख से दुःखी वे स्वयं हैं उसी दुःख से यमुना भी दुःखी है। वह भी विरह-ताप से जल रही है।

देखियत कालिंदी अति कारी।
अहो पथिक कहियौ उन हरि सों, भई विरह जुर जारी ॥

गोपियों की मर्म-वेधक उक्तियों के कुछ और उदाहरण देखें :—

(१) सखी इन नैननि ते घन हारे।
बिनहीं रितु बरसत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे ॥
(२) हरि परदेस बहुत दिन लाए।
कारी घटा देखि बादर की नैन नीर भरि आए ॥

ब्रज में उद्धव के आने पर तो गोपियों को अपने हृदय की सम्पूर्ण वेदना प्रकट कर देने का अवसर मिल जाता है। उनकी एक-एक उक्ति मर्मस्थल को स्पर्श करने वाली है। भ्रमर गीत में सूरदास ने वेदना का साकार रूप खड़ा कर दिया है। वेदना की मार्मिक अनुभूति एवं गम्भीर भाव-व्यंजना के कारण भ्रमर गीत अमर काव्य हो गया है। यह सूर-साहित्य की मुकुट-मणि है। भ्रमर-गीत में केवल गोपियों की ही वेदना प्रकट नहीं

हुई हैं, अपितु विश्व-विरहिणी की शाश्वत, चिरन्तन वेदना प्रकट हुई है। अतः इस विरह-वेदना को देश और काल की सीमाओं में नहीं बाँध सकते। यह सर्व-कालिक तथा सर्व-देशीय है। यह बात निम्न-लिखित पद में भी देखी जा सकती है।

निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस रितु हम पै जब ते स्याम सिधारे॥
दृग अंजन लागत नहिं कबहुँ उर कपोल भये कारे।
कंचुकि नहिँ सूखत सुनु सजनी उर बिच बहत पनारे॥
सूरदास प्रभु अंबु बढ़्यो है गोकुल लेहु उबारे।
कहँ लौं कहौं स्याम घन सुन्दर बिकल होत अति भारे॥

उन्हें जान पड़ता है कि उन्हीं की तरह और प्राणी भी हैं जिन्हें प्रेम कर के सुख नहीं मिला :—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी पावक सों आपै प्रान दह्यौ॥

विरह-वर्णन के और भी सुन्दर उदाहरण दिये जा सकते हैं :—

(१) अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी।
देख्यौ चाहतिं कमल नयन कौं निसि दिन रहतिं उदासी।

(२) अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूप-रस-राँची ये बतियाँ सुनि रूखी॥

(३) मेरे मन इतनी सूल रही।

(४) नयन सजल, कागद अति कोमल, कर अंगुरी अति ताती।
परसत जरै, विलोकत भींजति, दुहूँ भाँति दुख छाती॥

भ्रमर-गीत के विरह-वर्णन में एक विशेषता यह है कि उसका विरह एकाङ्गी नहीं है। एक ओर जहां गोपियां कृष्ण के लिए व्याकुल हैं—यहां तक कि यमुना भी 'विरह-जुर-जारी' हो गई है—वहां दूसरी ओर कृष्ण भी गोपियों, यमुना तथा व्रज भूमि के लिए रो रहे हैं। इसी कारण भ्रमर-गीत का विरह-वर्णन इतना प्रभावोत्पादक बन पड़ा है।

ऊधो मोहिं व्रज बिसरत नाहीं।
हंस सुता की सुन्दर कगरी, अरु कुंजन की छाहीं॥

कहीं-कहीं सूरदास ने दूर की सूझ वाले कुछ पदों की रचना की है जिनमें स्वाभाविकता की मात्रा कुछ कम हो जाती है :—

(१) दूर करहु बीना कर धरिबो।
मोहे मृग नाहीं रथ हाक्यो, नाहिन होत चंद को ढरिबो॥

(२) मन राखन को बेनु लियो कर, मृग थाके उडु पति न चरै।
अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यौ कर जेहि भामिनि की करुन टरै॥

विरहिणी राधा वीणा या वेणु ले कर बैठी कि मन बहल जाय और किसी प्रकार पहाड़ सी भारी रात कट जाय परन्तु वीणा का स्वर सुन कर चन्द्रमा का हरिण रुक गया और फल स्वरूप उसका रथ भी रूक गया। रात जहां की तहां रह गई। कोई दूसरा उपाय न देख कर वह सिंह का चित्र बनाने लगी जिसके डर से चन्द्रमा का हरिण भागे और रात किसी प्रकार कटे।

इन पदों पर स्पष्ट रूप से जायसी अथवा किसी अन्य पूर्ववर्त्ती कवि का प्रभाव पड़ा है।

कुछ पदों में सूरदास ने ऊहा से अत्यधिक काम लिया है और वे पद बहुत कुछ अस्वाभाविक हो गये हैं -यथा :—

> कर धनु लै किन चंदहि मारि?
> तू हरुवाय जाय मंदिर चढ़ि ससि सन्मुख दर्पन विस्तारि।
> याही भांति बुलाय, मुकुर महिं अति बल खंड खंड करि डारि॥

इस पद को 'उन्माद' नामक अन्तर्दशा में रख सकते हैं, परन्तु यह अस्वाभाविक हो गया है। जीवन की वास्तविकता से इसे कोई सम्बन्ध नहीं। कुछ परवर्त्ती कवियों—बिहारी आदि —ने इस प्रकार ऊहा से अधिक काम लिया है। किन्तु ऐसे पदों की संख्या बहुत थोड़ी है। शेष पदों में विरह की वेदना का मर्म-स्पर्शी वर्णन हुआ है और वे साहित्य की अमर निधि हैं।

वियोग शृंगार में कृष्ण आलम्बन; गोपियां आश्रय; यमुना का तट, कुंज, चन्द्र आदि उद्दीपन; गोपियों का आहें भरना, अश्रु विसर्जन, आदि अनुभाव और चिन्ता, दैन्य, आवेग, जड़ता आदि संचारी भाव हैं।

भ्रमर-गीत

सूर-साहित्य का सर्व-श्रेष्ठ अंश भ्रमर-गीत है। यह अंश इतना मार्मिक एवं अनुभूति पूर्ण बन पड़ा है कि अनेक परवर्त्ती कवियों ने इसी प्रसंग पर कविता की है जैसे नंद दास, हित वृन्दावन दास, जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' आदि। इस प्रकार हिन्दी में इस प्रसंग पर लिखने वालों की एक परम्परा ही बन गई।

कंस कृष्ण को ब्रज से मथुरा बुला लेता है कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा पहुँच जाते हैं। वहां वे कंस को मार कर मथुरा का राज्य संभालने लग जाते हैं; राज्य के कार्य में इतने व्यस्त हो जाते हैं कि फिर ब्रज आने का अवसर ही नहीं मिलता। दूसरी बात यह भी है कि कंस की कुब्जा दासी की अनवरत सेवा से सन्तुष्ट हो कर उसे अपने प्रेम की अधिकारिणी बना देते हैं। धीरे-धीरे उनके ब्रज लौटने की अवधि व्यतीत हो जाती है और वे नहीं लौट पाते। इधर नंद, यशोदा, राधा तथा अन्य गोप-गोपी उनके विरह में व्याकुल रहने लगते हैं।

जब कृष्ण को ब्रज की सुधि आती है तो वे भी बहुत बेचैन हो जाते हैं और अपने अभिन्न मित्र एवं परम विश्वासी उद्धव को गोप गोपियों की सुधि लेने के लिए ब्रज भेजते हैं। कृष्ण ने दो कारणों से प्रेरित हो कर उद्धव को ही ब्रज भेजने का निश्चय किया। पहला कारण था कि उद्धव उनके अन्तरंग सखा तथा बहुत अधिक विश्वास-पात्र थे और वे कृष्ण के संदेश-वाहक सच्चे रूप में हो सकते थे। दूसरा कारण था कि उद्धव बहुत बड़े दार्शनिक थे; उन्हें अपने ज्ञान का अभिमान था और वे भक्ति से ज्ञान को श्रेष्ठ समझते थे। कृष्ण की इच्छा थी कि गोपियों की अगाध भक्ति के सामने उद्धव के ज्ञान का गर्व चूर्ण हो जाय और वे भक्ति का महत्त्व समझने लगें।

उद्धव अपने ज्ञान के अभिमान से पूरित एवं गोपियों पर अपनी भावी विजय की कल्पना के आनंद में मग्न ब्रज पहुंचते हैं। उनके आते ही चारों ओर से गोप-गोपी उन्हें घेर लेते हैं और कृष्ण का समाचार पूछने लगते हैं। उद्धव उन्हें कृष्ण के संदेश के रूप में ज्ञान और योग का उपदेश देने लगते हैं, सगुण भक्ति की व्यर्थता सिद्ध कर के निर्गुण की श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। गोपियां सगुण भक्ति के पक्ष में अपने विचार प्रकट करती हैं। इसी बीच एक भौंरा उड़ता हुआ वहां पहुंचता हैं और उनके बीच में गुनगुनाने लगता है। अब गोपियो को जो कुछ कहना है वे भौंरे को ही संबोधित कर के कहती हैं। भौंरे के ही बहाने वे उद्धव को बनाती हैं। इसलिए इस सम्पूर्ण प्रसंग को भ्रमर गीत कहते हैं। उद्धव के सभी तर्क व्यर्थ सिद्ध होते हैं और वे सगुण भक्ति की प्रेरणा लेकर ब्रज से मथुरा वापस आते हैं।

भ्रमर-गीत लिखने की प्रेरणा सूरदास को निश्चित रूप से श्रीमद्‌भागवत पुराण से मिली है क्यों कि भागवत के पहले किसी ग्रंथ में इस प्रसंग का उल्लेख नहीं है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण सूर सागर ही भागवत के आधार पर लिखा गया है। किन्तु सूर ने भ्रमर गीत की केवल प्रेरणा ही भागवत से ली, अन्य सब कुछ उन्होंने अपनी सजग कल्पना और रचनात्मक शक्ति से सम्पन्न किया। भागवत के दशम स्कंध के केवल दस श्लोकों में भ्रमर-गीत का प्रसंग समाप्त कर दिया गया जहां सूर ने सैकड़ों पदों में इस प्रसंग का विस्तार किया है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि भागवत और भ्रमर गीत में मौलिक अन्तर है। भागवत में यह स्पष्ट शब्दों में नहीं बताया गया है कि ज्ञान और भक्ति में कौन श्रेष्ठ है परन्तु संकेत से प्रकट किया गया है कि भक्ति से ज्ञान श्रेष्ठ है क्योंकि जब गोपियों उद्धव से अपने हृदय की व्यथा प्रकट कर चुकती हैं तब उद्धव कृष्ण का ब्रह्म रूप गोपियों के समक्ष रखते हैं। वे सिद्ध कर देते हैं कि ब्रह्म स्वरूप कृष्ण सर्व-शक्तिमान, सर्वज्ञ तथा सर्व-व्यापी हैं। फिर ऐसे सर्व-व्यापक ब्रह्म-स्वरूप कृष्ण से वियोग कैसे हो सकता है? उद्धव के तर्क सुन कर गोपियों को ज्ञानोदय हो जाता है और वे सन्तुष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार संकेत से भागवतकार ने भक्ति से ज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। इसके प्रतिकूल सूरदास ने भ्रमर गीत में अनेक बार ज्ञान से भक्ति को श्रेष्ठ दिखाया है। अन्त में उद्धव के ज्ञान का गर्व चूर्ण हो जाता है और वे भक्ति की दीक्षा लेकर ब्रज से मथुरा लौटते हैं।

भ्रमर गीत भागवत से एक और अर्थ में भिन्न है। भागवत केवल वर्णनात्मक है। उसमें वह काव्योत्कर्ष उपलब्ध नहीं होता जो भ्रमर-गीत में होता है। काव्योत्कर्ष की दृष्टि से भ्रमर गीत बहुत श्रेष्ठ है। इसमें सूरदास का हृदय रमा है और उन्होंने प्रत्येक पंक्ति में अपूर्व चमत्कार भर दिया है। सूर का भ्रमर-गीत परवर्त्ती कवियों के लिए प्रेरणा का स्रोत हुआ।

सूरदास के भ्रमर-गीत के तीन पक्ष हो सकते हैं। पहला पक्ष आध्यात्मिक है। कृष्ण परब्रह्म हैं और गोप-गोपियाँ जीवात्मा के प्रतीक हैं। वह जीवात्मा परमात्मा से वियुक्त हो गई है और उससे मिलने को व्याकुल है। यह बात गोपियों में भी देखी जा सकती है। वे भी कृष्ण से बिछुड़ कर व्याकुल हो रही हैं। उद्धव उस मिथ्या ज्ञान के प्रतीक हैं जिसे मिटाकर ही ब्रह्म को प्राप्त किया का सकता है।

भ्रमर-गीत का दूसरा पक्ष साम्प्रदायिक कहा जा सकता है। सूरदास एवं अन्य सगुणवादियों के पूर्व निर्गुणवादियों का प्राबल्य था जो निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म की उपासना पर जोर दे रहे थे। वे भक्ति से ज्ञान को श्रेष्ठ प्रतिपादित करने का प्रयास कर रहे थे। वे ज्ञान की महत्ता के ही गीत गा रहे थे! सूरदास के गुरु वल्लभाचार्य ने भक्ति की महत्ता बताई। उन्होंने ज्ञान को तुच्छ तथा भक्ति को श्रेष्ठ बताया। उन्होंने अपने अणुभाष्य में बताया कि यदि ज्ञान सरसों है तो भक्ति सुमेरू पर्वत। सूरदास के समय में ज्ञानवाद का जोरदार विरोध और भक्ति का प्रबल समर्थन हुआ। भ्रमर-गीत में स्थान-स्थान पर ज्ञान, योग, निर्गुण आदि की दिल्लगी उड़ायी गई है।

गोपियां समझती हैं कि निर्गुण ब्रह्म का कोई रूप नहीं जिसे आधार मानकर उपासना की जा सके। वह अस्तित्व विहीन एवं वायव्य पदार्थ है जिसका ध्यान लगाना अत्यन्त कठिन है। वे निर्गुण ब्रह्म का उपहास करने के लिए उद्धव से पूछती हैं कि निर्गुण किस देश का रहने वाला है? उसके माता पिता कौन हैं? उसकी स्त्री कौन है तथा वह किस रस का अभिलाषी है?

निर्गुन कौन देश को बासी?

× × ×

को है जनक, जननि को कहियत कौन नारि, को दासी।
कैसो बरन, भेस है कैसो, केहि रस में अभिलासी॥

इस पद में निर्गुण ब्रह्म का उपहास किया गया है।

गोपियां कृष्ण की भक्ति में ही अपना हृदय लगा चुकी हैं; उन्हें ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता ही नहीं। उनका मन तो कृष्ण को अर्पित हो चुका है; दूसरा मन कहां से लावें जो निर्गुण ब्रह्म को दें। अतः वे उद्धव से पूछती हैं।

ऊधो मन तो एकै आहि।
सो तो हरि लै संग सिधारे, जोग सिखावत काहि?

फिर यही बात उद्धव से अन्यत्र कहती हैं :—

ऊधो मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम सँग को आराधै ईस ?

उद्धव को विश्वास है कि निर्गुण ब्रह्म को जानने के लिए ज्ञान आवश्यक है। किन्तु गोपियां उस को भारी बोझ समझ रही हैं। जिस प्रकार सिर पर भारी गट्ठर लेकर किसी मार्ग पर अग्रसर होना कठिन है उसी प्रकार ज्ञान का बोझ लेकर साधना के मार्ग पर चलना अत्यन्त कठिन है। उद्धव उस धूर्त्त व्यापारी के समान हैं जो भुस्सी देकर सोना ठग लेना चाहता है। गोपियां भक्ति को सोना और ज्ञान को भुस्सी समझती हैं।

आयो घोष बड़ो व्यौपारी।
लादि खेप गुन ज्ञान जोग की ब्रज में आय उतारी ॥
फाटक दै के हाटक मांगत भोरो निपट सुधारी।
धुरही ते खोटो खायो है लिए फिरत सिर भारी ॥

गोपियां तर्क करना नहीं चाहतीं। ज्ञान तर्क का विषय है किन्तु भक्ति के लिए तर्क की आवश्यकता नहीं। वह तो हृदय की रागात्मिका वृत्ति है जो तर्क और मस्तिष्क से सर्वथा परे है। उन्हें तो कृष्ण की भक्ति चाहिए और वे उसी में लीन हैं। उन्हें तर्क करने का अवकाश कहाँ ? अतः वे हृदय की विवशता प्रकट करती हैं।

ऊधो मन माने की बात।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृत फल बिष-कीरा बिष खात ॥

अन्त में गोपियों की अनन्य भक्ति के सामने उद्धव का ज्ञान परास्त हो जाता है। गोपियों के अश्रु-प्रवाह में उद्धव का ज्ञान तिनके के समान, पता नहीं, कहां बह जाता है। वे भी गोपियों से प्रेम और भक्ति की शिक्षा लेकर वापस आते हैं।

भ्रमर-गीत का साहित्यिक पक्ष साम्प्रदायिक पक्ष से भी अधिक महत्त्व-पूर्ण है। रस, अलंकार, भाव-व्यंजना किसी भी दृष्टि से देखें, भ्रमर-गीत अपना विशिष्ट स्थान रखता है। विप्रलंभ शृंगार का ऐसा उत्कृष्ट वर्णन हिन्दी साहित्य में अन्यत्र नहीं मिल सकता। अपनी मर्म-स्पर्शिता के कारण गोपियों की विरह-वेदना व्यक्ति-विशेष की विरह-वेदना नहीं रह जाती अपितु सम्पूर्ण मानवता की विरह वेदना बन जाती है। यह वेदना देश और काल की सीमा का अतिक्रमण कर सार्वभौम एवं सर्वकालीन बन जाती है।

'भ्रमर गीत एक श्रेष्ठ उपालम्भ काव्य है। शृंगार रस का ऐसा सुन्दर उपालम्भ-काव्य दूसरा नहीं है।' * उद्धव जब ज्ञान का उपदेश देते हैं तो उस समय बहुत सुन्दर ढंग से गोपियां उपालम्भ देती हैं :—

निरगुन कौन देस को बासी ?

* आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

मधुकर हँसि समुझाय सौंह दे बूझति साँच, न हाँसी ॥

'बूझति साँच न हाँसी' कहने से दिल्लगी और भी दिल में लगने वाली हो जाती है। परन्तु सूरदास का हास्य शिष्ट है और कहीं भी शालीनता की सीमा का उल्लंघन नहीं करता। उपालम्भ की दृष्टि से निम्न-लिखित पद द्रष्टव्य हैं :—

(क) मधुकर हम न होंहि वे बेली।
जिन भजि तजि तुम फिरत और रंग करत कुसुम रस-केली ॥

(ख) मधुकर स्याम हमारे चोर।
गये छुँड़ाइ तोरि सब बंधन, दै गये हँसनि अँकोर।
चौंक परी जागत निसि बीती, दूत मिल्यौ इक भौंर ॥

गीति-काव्य

जयदेव ने देव भाषा में कृष्ण चरित का गान गीति-काव्य में किया। उसी गीति-काव्य का अनुसरण करके मैथिल कोकिल विद्यापति ने लोक-भाषा में कृष्ण चरित के पद गाये। इस गीति-काव्य की परम्परा का अनुसरण सूरदास ने व्रज भाषा में किया। फिर तो गीति-काव्य की वह धारा प्रवाहित हुई जो अविच्छिन्न रूप से कृष्ण-भक्तों तथा अलंकार युग के कवियों के द्वारा आगे बढ़ती गई। जयदेव और विद्यापति ने कृष्ण चरित के जो गेय पद लिखे वे शृंगार के थे अतः सूरदास तथा परवर्ती कृष्ण-भक्तों ने उन्हीं का अनुसरण करके शृंगार की ही रचनाएँ कीं। रीति काल के कवियों ने तो नायक और नायिका के लिए कृष्ण और राधा को नायक और नायिका का प्रतीक मान लिया।

इन गीतिकारों ने कृष्ण चरित का जो अंश लिया वह उच्च कोटि के प्रबन्ध काव्य के लिए अनुपयुक्त था। उन्होंने कृष्ण के केवल शैशव और यौवन के प्रेम को ग्रहण किया। किसी कवि ने उक्त अंश को लेकर प्रबन्ध काव्य लिखने का प्रयास नहीं किया। इसलिए राम चरित मानस के समान कृष्ण चरित पर कोई महाकाव्य नहीं रचा जा सका। किन्तु मुक्तक के क्षेत्र में कृष्ण-भक्त तथा रीति कालीन कवियों ने अपने रसों—शृंगार और वात्सल्य—को एक पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया।

प्रकृति-चित्रण

यद्यपि सूरदास ने अपने काव्य में मानव प्रकृति का ही अंकन विशेष रूप से किया है तथापि मानवेतर प्रकृति अथवा सामान्य प्रकृति का भी चित्रण उनके काव्य में मिलता है। वस्तुतः व्रज भाषा में सबसे पहले प्रकृति-चित्रण उन्हीं के काव्य में उपलब्ध होता है इसलिए इसका महत्त्व और भी अधिक है। सूर के काव्य की अधिक घटनाएँ प्रकृति के रम्य वातावरण में ही घटित होती हैं। कृष्ण का गो-चारण और ग्वाल बालों तथा गोपियों के साथ अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं की पृष्ठ-भूमि बृन्दावन, यमुना-कूल, करील-

कुंज तथा गोवर्धन की कमनीय कन्दराएँ हैं। वृन्दावन में अनेक प्रकार के लता-वृक्षों तथा पशु-पक्षियों का उन्हें साथ रहता है। कोकिल की काकली, पपीहे की पिउ पिउध्वनि तथा भ्रमर के कल गुंजन के बीच कृष्ण एवं अन्य गोप गोपियों का जीवन व्यतीत होता है। फिर सूरदास प्रकृति से तटस्थ कैसे रह सकते हैं?

सूर ने प्रकृति का चित्रण कई रूपों में किया है :—

(१) प्रकृति का यथा-तथ्य चित्रण, (२, प्रकृति के मृदुल एवं कठोर रूप, (३ मानव के कार्यों की पृष्ठ-भूमि के रूप में, एवं (४) अलंकारों में रूप में।

(१ प्रकृति का यथा-तथ्य चित्रण—इस प्रकार के चित्र में प्रकृति का वास्तविक रूप उपस्थित किया जाता है, किसी अन्य बात का वर्णन नहीं रहता। कवि का उद्देश्य प्रकृति वर्णन के अतिरिक्त कुछ और नहीं रहता। नीचे लिखी पंक्तियों में वर्षा का स्वाभाविक वर्णन है।

गिरि पर बरसन लागे बादर।
मेघ वर्त्त, जल वर्त्त, सैन सजि, आए लै लै आदर
सलिल अखंड धार धर टूटत, किये इन्द्र मन सादर।
मेघ परस्पर यहै कहत हैं, धोइ करहु गिरि खादर।

(२) प्रकृति के मृदुल तथा कठोर रूप—प्रकृति कभी हमारे सामने अपने मृदुल और आह्लाद दायक रूप में आती है तो कभी कठोर और भयानक रूप में। सूरदास के प्रकृति-चित्रण में इसके दोनों रूप हमारे सामने आते हैं। कठोर रूप कहीं कहीं दिखाई देता है किन्तु अधिकता है मृदुल रूप की ही। प्रकृति का मृदुल रूप देखिए :—

जहँ वृन्दा वन आदि अजर जहँ कुंज-लता विस्तार।
सारस-हंस-चकोर-मोर खग कूजत कोकिल कीर॥

प्रकृति का कठोर रूप देखिए। यहां सूर ने दावानल की भयानकता का ओजस्वी वर्णन किया है।

झहरात झहरात दावानल आयो।
घेरि चहुँ ओर करि शोर अंदोर बन धरणि आकाश चहुँ पास छायो।
बरत बन बाँस, थरहरत कुस कांस, जरि उड़त है बाँस अति प्रबल धायो॥

(३) मानव के कार्यों की पृष्ठ-भूमि के रूप में—सूरदास ने प्रकृति का चित्रण मानव के कार्यों की पृष्ठ-भूमि के रूप में भी किया है। इसके उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

आज निसि सोभित सरद सुहाई।
सीतल मंद सुगंध पवन बहै रोम रोम सुखदाई॥
यमुना पुलिन पुनीत परम रुचि रचि मंडली बनाई।
राधा बाम अंग पर कर धरि मध्यहिं कुँवर कन्हाई॥

(४) अलंकारों के रूप में :—अलंकारों के रूप में प्रकृति का उपयोग सूरदास ने

अपनी कविता में बहुत अधिक किया है। प्रकृति के रम्य दृश्यों से ऐसे प्रसंग चुने गये हैं। नीचे लिखी पंक्तियाँ देखें।

(क) स्याम तन पीत पट मनौं घन में तड़ित
मोर के पंख माथै बिराजै।
स्रवन कुंडल झलक मनौ चपल चमक, दृग अरुन कमल दल से बिसाला ॥
(ख) बरह मुकुट कैं निकट लसति लट, मधुप मनौं रुचि पाये।
बिलसत सुधा जलज आनन पर, उड़त न जात उड़ाए ॥

सूर सागर में प्रकृति के ऐसे चित्रों का बाहुल्य है।

भाषा-शैली

सूरदास ब्रज भाषा के आदि कवि हैं तौ भी इनकी भाषा इस प्रकार परिमार्जित एवं परिष्कृत है कि देख कर आश्चर्य होता है। प्रायः देखा जाता है कि जब कोई किसी नवीन भाषा में रचना आरम्भ करता है, तो उस समय उसकी भाषा अपरिष्कृत रहती है और कुछ समय तक रचना हो जाने के उपरान्त भाषा में परिष्कार आता है। परन्तु सूरदास की भाषा अत्यन्त परिमार्जित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि "सूर सागर किसी पहले से चली आती हुई परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास ज्ञान पड़ता है, चलने वाली परम्परा का मूल रूप नहीं।" सूर की भाषा की निम्नलिखित विशेषताएँ द्रष्टव्य हैं :—

(१) सूर को ब्रज की चलती बोली मिली थी जिसमें तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग करके तथा अन्य प्रकार से परिमार्जन करके उन्होंने अपनी अभिव्यंजना बढ़ायी और उसे काव्य के उपयुक्त सरस एवं सुन्दर बनाया।

(२) सूर की भाषा में माधुर्य गुण की प्रधानता है जिन रसों का वर्णन सूर ने किया, उनको माधुर्य गुण की अपेक्षा होती है। शृंगार और वात्सल्य के लिए ओज उपयुक्त नहीं होता। फिर भी कुछ स्थलों पर, जहां भयानक रस का वर्णन किया गया गया है, ओज गुण आ गया है। प्रसाद गुण तो सूर के काव्य में प्रायः सर्वत्र ही पाया जाता है। दृष्टिकूटों के अतिरिक्त कहीं भी प्रसाद गुण का अभाव नहीं है। माधुर्य और प्रसाद का अच्छा समन्वय निम्न-लिखित प्रसिद्ध पद में पाया जाता है।

निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस रितु हम पै जबते स्याम सिधारे ॥

ओज गुण के लिए निम्न-लिखित पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :—

झपटि झपटत लपट, फूल फूटत पटकि, द्रुम चटकि लट लटकि फटि नवायो।
अति अंगनि भार संभार धुंधार करि, उचटि अंगार झंझार छायो ॥

(३) सूरदास ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग तो किया है परन्तु वे सदा

प्रयत्न-शील रहे कि लम्बे समास न आने पावें क्योंकि लम्बे समासों के कारण भाषा दुरूह और जटिल हो जाती है। यथा—

मोर मुकुट सिर जलज माल उर कटि तट पीताम्बर छवि पावत।

(४) अरबी और फारसी के भी शब्दों का प्रयोग सूरदास ने अपनी भाषा में किया है परन्तु इस बात का ध्यान रखा कि अत्यधिक संख्या में ऐसे शब्द न आने पावें जिससे भाषा का वास्तविक रूप ही समाप्त हो जाय। उन्होंने अरबी फारसी के बहुत प्रचलित शब्दों को ही ग्रहण किया। परन्तु निम्नलिखित पद में अरबी फारसी शब्दों की बहुलता है।

प्रभु जू मैं ऐसो अमल कमायो।
साविक जमा हुतो जो जोरी जिन मालिक तल लायो॥
वासिल बाकी स्याहा मुजलिम सब अधर्म की बाकी।
चित्रगुप्त होत मुस्तैफी शरण गहूँ मैं काकी॥

परन्तु ऐसे पदों की संख्या बहुत कम है।

(५) सूरदास ने ब्रज में चलने वाले कुछ ठेठ देहाती शब्दों का भी प्रयोग किया है जिससे भाषा में स्वाभाविकता अधिक आ गई है। यथा 'छाक' 'पतूखी'। कहीं-कहीं दैनिक व्यवहार में आने वाले शब्दों का भी व्यवहार किया गया है जिससे भाषा की अभिव्यंजना शक्ति में बहुत वृद्धि हुई है; जैसे :—

लादि खेप गुन जोग की ब्रज में आय उतारी।

(६) कहीं-कहीं बुंदेल खंडी, पंजाबी तथा गुजराती शब्दों का भी प्रयोग सूरदास ने किया है। पंजाबी में 'महंगी' के अर्थ में 'प्यारी' शब्द का प्रयोग होता है। सूर ने भी 'महंगी' के अर्थ में 'प्यारी' शब्द का प्रयोग किया है।

(७) सूर की भाषा में पूरबी प्रयोग भी बहुत पाये जाते हैं जैसे 'गोड़', 'आपन', 'हमार' आदि।

(८) पुरानी ब्रज भाषा में निश्चयार्थक 'पै' का प्रयोग होता था। सूरदास ने भी इसका प्रयोग किया है। "जाहिं लगै सोई पै जानै प्रेम बान अनियारो।"

(९) सूरदास की भाषा का एक गुण उसकी चित्रमयता है। जिस दृश्य का वर्णन सूरदास करते हैं, उसका चित्र हमारी आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। इस चित्रमयता के अनेक उदाहरण बाल-लीला से दिये जा सकते हैं। जैसे :—

(क) सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किये॥

(ख) सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावति डगमगाइ धरनी धरै पैया॥

(१०) सूर की भाषा में अनेक स्थानों पर ध्वन्यर्थ-व्यंजना भी दृष्टि-गोचर होती है यथा :—

अरबराइ कर पानि गहावति डगमगाइ धरनी धरै पैया।

(११) सूरदास ने मुहावरों और कहावतों का प्रयोग करके भाषा को और भी सजीव बना दिया है। यथा :—

(क) जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिर जहाज पै आवै।
(ख) खेलन अब मेरी जात बलैया।
(ग) वह मथुरा काजर की कोठरी जे आवहिं ते कारे।
(घ) जाकौ मन मोहन अंग करै।

सूर के पदों के कुछ अंश सूक्ति या कहावत के रूप में भी प्रचलित हो गये हैं; जैसेः—

(क) ऊधो मन माने की बात।
(ख) सबै दिन एकै से नहिं जात।
(ग) जीवन मुंह चाही को नीको।
(घ) जूठो खैये मीठे कारन।

(१२) सूर ने शब्दों के साथ तोड़ मरोड़ कुछ अधिक किया है जैसे 'गया' को 'गैया', 'रहत' को राहत और 'पंगु' को 'पंग'। यह दोष इन से भी अधिक भूषण आदि कई कवियों में है। तुक के फेर में पड़ने के कारण यह दोष विशेष रूप से आ गया है।

(१३) सूरदास ने एक ही शब्द को कहीं पुंलिंग में और कहीं स्त्रीलिंग में व्यवहृत किया है जैसे 'सूत' शब्द। परन्तु इसका कारण सम्भवतः लिपिकारों की भूल अथवा गायकों की असावधानी है।

(१४) सूर ने कहीं कहीं अनावश्यक शब्दों का प्रयोग केवल पादपूर्त्ति के लिए किया है, जैसे 'जु' 'सु' का प्रयोग। ऐसे शब्दों के प्रयोग से प्रायः शिथिलता आ गई है। किन्तु छन्दोवद्ध कविता में कवियों को कुछ स्वतन्त्रता देनी ही होती है कि वे यत्र तत्र कुछ अनावश्यक शब्दों का भी प्रयोग कर सकें। इसके अतिरिक्त सूर अंधे थे और उन्हें लिख कर काटने छाँटने की सुविधा प्राप्त नहीं थी। यदि यह सुविधा होती तो उनमें भी यह दोष शायद नहीं आता।

(१५) सूर ने दृष्टि कूट के पदों में शब्द क्रीड़ा का मोह दिखाया है। कुछ त्रुटियों के रहने पर भी सूरदास की भाषा में सजीवता, भावाभिव्यंजकता, सरलता, प्रभावोत्पादकता तथा चित्रमयता है। कौन बात किस ढंग से कही जाती है यह कला सूर बहुत अच्छी तरह जानते थे। वचन-चातुरी तथा वाग्विदग्धता जिस रूप में सूरदास में वर्त्तमान है उस रूप में हिन्दी के सम्भवतः किसी अन्य कवि में नहीं है। उनकी वर्णन शैली अद्वितीय है। जिस प्रकार का प्रसंग होता है सूरदास उसी प्रकार की शैली बना लेते हैं। आवश्यकता पड़ने पर उनकी शैली सर्वथा सीधी सादी हो जाती है और कभी-कभी अत्यन्त वक्रतापूर्ण तथा चामत्कारिक। साधारणतः सूरदास ने सरल शैली का प्रयोग किया है परन्तु दृष्टि-कूटों की शैली अत्यन्त दुर्बोध है। दृष्टि-कूटों को समझने में कठिनाई होती है।

सूर की शैली पद-शैली या गीति शैली है। इन्होंने अन्य छन्दों का व्यवहार प्रायः नहीं किया है। गेय पदों में ही इन्होंने अपनी सम्पूर्ण कविता की रचना की है। एक ही पद में एक पूर्ण विचार, एक अनूठी उक्ति, तथा अन्तर्वृत्तियों का सूक्ष्म निरीक्षण गुम्फित है। उसमें कला की दृष्टि से उच्च कौशल तथा सरस प्रवाह है। यह सत्य है कि तुलसी के समान सूर ने जीवन का व्यापक क्षेत्र नहीं लिया परन्तु जिस क्षेत्र में सूर ने प्रवेश किया उस क्षेत्र की सीमा पर भी कोई अन्य कवि नहीं आ सका। सूर अपने क्षेत्र के अद्वितीय कवि हैं। हिन्दी साहित्य में सूर का स्थान अत्यन्त उच्च है।

—:०:—

नन्द दास

जीवन-वृत्त

नन्ददास के जीवन-वृत्त के विषय में हमें बहुत कम ज्ञान है। सभी प्राचीन कवियों की भांति उन्होंने भी अपने विषय में कुछ नहीं लिखा। अन्तः प्रमाण से केवल दो बातों का पता चलता है, एक तो यह कि नन्द दास के कोई साहित्यिक मित्र थे जिनकी प्रेरणा से तथा जिनके लिए उन्होंने ग्रन्थों की रचना की, एवं दूसरी बात यह कि गोस्वामी तुलसी-दास जी उनके भाई अथवा गुरु भाई थे।

इस रसिक मित्र के भी विषय में अनेक प्रकार के अनुमान लगाये जाते हैं परन्तु अभी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों का अनुमान है कि गोसाईं विट्ठलनाथ जी की शिष्या गंगा बाई ही यह मित्र थी और कुछ लोग रूप मंजरी को वह परम रसिक मित्र मानते हैं जिसके साथ नन्ददास की मित्रता का उल्लेख मिलता है। नन्ददास जी के ग्रन्थों के नाम देखने से जान पड़ता है कि उन्हें 'मंजरी' नाम बहुत प्रिय है, जैसे— रूप मंजरी, रस मंजरी, मान मंजरी, विरह मंजरी, ज्ञान मंजरी एवं अनेकार्थ मंजरी। मेरा अनुमान है कि उनके परम मित्र का नाम 'रूप मंजरी' ही रहा होगा।

दूसरा अन्तः प्रमाण जिसके आधार पर नन्ददास को तुलसीदास का भाई माना गया है, निम्न-लिखित पंक्तियाँ हैं, जिनमें नन्ददास ने तुलसीदास को अपना बड़ा भाई अथवा गुरु भाई मान कर उनकी स्तुति की है—

श्री मत्तुलसीदास स्व गुरु भ्राता पद बंदे।
सेष सनातन विपुल ज्ञान जिन पाइ अनंदे॥
राम चरित जिन कीन, ताप त्रय कलि मल हारी।
करि पोथी पर सही आदरेउ आप मुरारी॥
राखी जिन की टेक, मदन मोहन धनुधारी।
बाल्मीकि अवतार कहत, जेहि संत प्रचारी॥

नन्ददास के हृदय नयन को खोलेउ सोई।
उज्ज्वल रस टपकाय दियौ जानत सब कोई ॥

इधर सोरों में जो सामग्री प्राप्त हुई है उससे सिद्ध होता है कि तुलसीदास नन्ददास के चचेरे भाई थे। सूकर क्षेत्र माहात्म्य नाम का ग्रन्थ प्राप्त हुआ है जिसके रचयिता नन्ददास के पुत्र कृष्णदास कहे जाते हैं। उस ग्रन्थ में वंशावली दी गई है जिसके अनुसार तुलसीदास और नन्ददास चचेरे भाई सिद्ध होते हैं।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' में नन्ददास को तुलसीदास का अनुज कहा गया है और उन्हें सनाढ्य ब्राह्मण माना गया है। परन्तु आचार्य शुक्ल जी आदि विद्वान् इसे अप्रामाणिक मानते हैं। भक्तमाल में नन्ददास को रामपुर ग्राम का निवासी बताया गया है और उनके ज्येष्ठ भ्राता के मित्र का नाम चन्द्रहास बताया गया है। भक्तमाल का रचना-काल संवत् १६४२ और १६८० के बीच माना जाता है। यह समय नन्ददास के कुछ ही बाद का है। अतः भक्तमाल का कथन अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है। भक्तमाल वाला छप्पय निम्न-लिखित है :—

लीला पद रस रीति, ग्रन्थ रचना में नागर
सरस उक्ति जुत जुक्ति भक्ति रस गान उजागर ॥
प्रचुर पयध लौं सुजस रामपुर ग्राम निवासी।
सकल सु [illegible] संबलित भक्त पद रेनु उपासी ॥
चन्द्रहास अग्रज सुहृद परम प्रेम पथ में पगे ॥
नन्ददास आनंद निधि रसिक सु प्रभुहित रँग मगे ॥

कहा जाता है कि तुलसीदास और नन्ददास दोनों के गुरु 'सोरों' निवासी पंडित नृसिंह जी थे। पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व नन्ददास राम भक्त थे और रामचन्द्र तथा हनुमान् के विषय में पद रचा करते थे।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' में एक कहानी लिखी गई है, जिससे पता चलता है कि किस प्रकार नन्ददास पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। एक बार वे द्वारिका जा रहे थे परन्तु राह भूल कर 'सिंह नद' में पहुँच गये। वहां उन्होंने एक खत्री की स्त्री को कोठे पर केश सुखाते देखा। अब वे उसके घर के चारों ओर चक्कर काटने लगे। घर वालों ने इन्हें बहुत समझाया बुझाया पर इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इन्होंने धमकाया कि अधिक बोलोगे तो प्राण दे दूंगा। लोग ब्रह्म-हत्या से डर गये। यह बात सारे नगर में फैल गई। अन्त में विवश होकर वह परिवार गोकुल चला आया। नन्ददास भी पीछे-पीछे चले आये। गोकुल में वह परिवार गोस्वामी विठ्ठल नाथ जी की शरण में आया। वहीं गोस्वामी जी के उपदेश से मोह के स्थान पर इनमें भगवद् भक्ति का उदय हुआ। इनका लौकिक प्रेम आध्यात्मिक प्रेम में बदल गया।

उसी वार्त्ता में यह भी लिखा है कि गोस्वामी तुलसीदास को अपने भाई नन्ददास का कृष्ण-भक्त होना अच्छा नहीं लगा और उन्होंने इस सम्बन्ध में एक उलहना लिख

भेजा। यह भी लिखा है कि नन्ददास ने सोचा कि जैसे तुलसीदास ने भाषा में रामायण लिखी उसी प्रकार मैं भी भाषा में भागवत लिखूँ। तुलसीदास जी का नन्ददास के साथ वृन्दाबन जाना तथा वहां "तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बान लेव हाथ" वाली घटना का भी उल्लेख है। किन्तु 'वार्त्ता की ये बातें प्रमाणिक नहीं कही जा सकतीं क्योंकि ये केवल वल्लभाचार्य की गद्दी की महिमा प्रकट करने के उद्देश्य से लिखी जान पड़ती हैं।

पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाने के उपरान्त नन्ददास सूरदास के साथ गोवर्धन में ही रहते थे। सूरदास ने 'साहित्य-लहरी' की रचना नन्ददास को रीति काव्य की शिक्षा देने के लिए की थी। इनकी भक्ति और उच्च कोटि की कविता पर प्रसन्न होकर विट्ठल नाथ ने इन्हें अष्ट छाप में स्थान दिया। ये सूरदास और विट्ठल नाथ के समकालीन थे।

नन्ददास की जन्म-तिथि के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग इनका जन्म संवत् १५७० वि० में तथा कुछ लोग सं० १५९७ वि० में मानते हैं। इनकी मृत्यु सं० १६४० वि० में मानी जाती है। इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में किम्बदन्ती है कि एक बार अकबर ने गोबर्धन में आकर इनसे एक प्रश्न पूछा। प्रश्न सुनते ही नन्ददास की मृत्यु हो गई और उसी समय अकबर की एक दासी की भी मृत्यु हो गई।

रचनाएँ

कई कारणों से अष्ट छाप में नन्ददास का स्थान बहुत श्रेष्ठ है। वस्तुतः अष्ट छाप में सूरदास के पश्चात् इन्हीं का स्थान है। सूरदास और परमानन्द दास पुष्टि सम्प्रदाय में आने के पहले ही प्रसिद्ध हो चुके थे, परन्तु नन्ददास पुष्टि सम्प्रदाय में आने के बाद ही प्रसिद्ध हुए। नन्ददास के ग्रन्थों की संख्या ३० बताई जाती है। कोई-कोई इनके ग्रन्थों की संख्या २५ और कोई-कोई २३ बताते हैं। अभी तक २३ ग्रन्थ मिल चुके हैं। इनमें प्रमुख हैं रास पंचाध्यायी, भवँर-गीत, सिद्धान्त पंचाध्यायी, रूप मंजरी, रस मंजरी, अनेकार्थ मंजरी, रुक्मिणी मंगल, नामचिन्तामणि-माला, श्याम सगाई, प्रेम बारह खड़ी, दशम स्कंध-भाषा, गोवर्धन लीला और पद्मावली। इनके अतिरिक्त नन्ददास-लिखित चार सौ से अधिक फुटकल पद प्राप्त हुए हैं। पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व इन्होंने राम और हनुमान् के विषय में पद लिखे थे। इस प्रकार के कुछ पदों में प्रौढ़ता का अभाव है। दीक्षा लेने के बाद इन्होंने कृष्ण लीला सम्बन्धी पद रचे होंगे, जिनमें राधा कृष्ण के अनुराग और रास के पद काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से अति उत्तम हैं। किन्तु इनका महत्त्व मुख्यतः इनके ग्रन्थों से है, पदों से नहीं। इनके ग्रन्थों में रास पंचाध्यायी और भवँर-गीत सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

इन ग्रन्थों पर ध्यान देने से हमें ज्ञात होता है कि नन्ददास ने जो कुछ लिखा, केवल भक्ति-भाव से ही प्रेरित होकर नहीं। कविता के सहारे केवल भगवद् भजन करना उनका उद्देश्य नहीं था, अपितु स्वयं कविता करना भी उद्देश्य था। कहने का तात्पर्य यह कि

नन्ददास भक्त से बढ़कर कवि थे, विशुद्ध कलाकार थे। कई ग्रन्थों में भक्ति का लेश भी नहीं है, जैसे मान मंजरी और अनेकार्थ मंजरी केवल कोश-ग्रंथ हैं। जैसे संस्कृत में 'अमर कोश' कोश ग्रन्थ है, उसी प्रकार ये ग्रन्थ भी हैं। सभी कृष्ण-भक्त कवियों की कविता में ऐसी सामग्री उपलब्ध होती है जिसे नायिका-भेद का विषय कह सकते हैं, परन्तु किसी कृष्ण-भक्त कवि ने स्पष्ट रूप से इसी विषय पर काव्य-ग्रंथ नहीं लिखा। नन्ददास ही प्रथम कृष्ण भक्त कवि हैं जिन्होंने इस विषय पर 'रस मंजरी' नामक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा। 'रूप मंजरी' में एक प्रेम-कथा है जो लौकिक प्रेम पर आधारित है पर उसका आध्यात्मिक अर्थ लगाया जा सकता है। 'विरह-मंजरी' में एक व्रज-वनिता चन्द्रमा को दूत बना कर कृष्ण के पास भेजती है। इस ग्रन्थ पर कालिदास के मेघदूत की स्पष्ट छाप पड़ी है। इन दोनों ग्रन्थों में, आध्यात्मिक दृष्टि से, परकीया भक्ति का विश्लेषण किया गया है। नन्ददास के सम्बन्ध में एक और बात उल्लेखनीय है। अष्ट छाप के कवियों में नंददास ही संस्कृत के सबसे अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने संस्कृत के श्रेष्ठ कवियों के ग्रन्थों का समुचित अध्ययन किया था और उनका स्पष्ट प्रभाव नन्ददास पर पड़ा है। ये जयदेव और कालिदास से बहुत ही प्रभावित जान पड़ते हैं।

भवँर-गीत

नन्ददास का भवँर-गीत बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसका आधार वही है जो सूरदास के भ्रमर गीत का है। भागवत पुराण के दशम स्कंध में भ्रमर गीत का प्रसंग आया है। नन्ददास ने सूरदास के समान अपनी प्रतिभा के बल पर उस प्रसंग को नया रूप दे दिया है। इन्होंने न तो भागवत का अनुवाद भवँर गीत में किया और न उसका अक्षरशः अनुकरण ही किया।

नन्ददास ने अपने भवँर गीत में भागवत से कुछ दूर हटकर कुछ नवीनता की उद्भावना की है। इन्होंने स्वतंत्र रूप से अपने ग्रन्थ का विकास किया है। इस संबंध में निम्न-लिखित तथ्य ध्यातव्य हैं :—

(१) भागवतकार ने कृष्ण के विरह में नन्द और यशोदा को व्याकुल दिखाया है और उनके विरह को आवश्यक महत्त्व प्रदान किया है सूरदास ने भी भागवत का ही अनुकरण किया और अनेक पदों में नन्द यशोदा के विरह का वर्णन किया। माता-पिता के हृदय में संतान के प्रति उठने वाली भावनाओं का मर्मस्पर्शी वर्णन सूर ने अनेक पदों में किया है। परन्तु नन्ददास ने नन्द यशोदा के विरह का वर्णन बिलकुल ही नहीं किया। उन्होंने केवल गोपियों के हृदय में उठने वाली वेदना का ही वर्णन किया। नन्ददास की प्रकृति के अनुकूल वात्सल्य-वर्णन नहीं था।

(२) भागवत में भ्रमर कुशल-प्रश्न के तुरन्त ही बाद आ जाता है, उद्धव के आगमन के शीघ्र ही बाद, परन्तु भवँर गीत में उद्धव और गोपियों का वाद-विवाद पूर्वार्ध

में हो जाता है और जब गोपियां तर्कों से उदासीन हो जाती हैं, तब भ्रमर का आगमन होता है।

(३) भागवत की गोपियों का दृष्टि कोण कुछ वासनात्मक है परन्तु भवँर गीत में वासना गौण रूप में ही है।

(४) भागवत में गोपियाँ उद्धव के तर्क सुन कर सन्तुष्ट हो जाती हैं और अन्त में चुप हो जाती हैं। परन्तु नन्ददास की गोपियां तर्क पर तर्क देना आरम्भ करती हैं और अन्त में उद्धव को परास्त कर देती हैं। उद्धव नन्ददास की गोपियों के समक्ष निरुत्तर हो जाते हैं और सगुण भक्ति की श्रेष्ठता स्वीकार कर लेते हैं। वे अन्त में कहते हैं :—

धन्य धन्य जे लोग भजत हरि को जो ऐसे।
और जो पारस प्रेम विना पावत कोई कैसे ॥
मेरे या लघु ग्यान को उर मद रह्यौ उपाध।
अब जान्यौं ब्रज-प्रेम को लहत न आधो आध ॥
वृथा श्रम करि मर्‌यौ।

गोपियों की भक्ति से प्रभावित होकर उद्धव कृष्ण की कठोरता पर उपालम्भ देते हुए कहते हैं :—

पुनि पुनि कहै हे स्याम जाय वृन्दावन रहिए।
परम प्रेम को पुंज जहां गोपी सँग लहिए ॥
और संग सब छाड़ि कै उन लोगन सुख देहु।
ना तरु टूट्यौ जात है अब ही नेह सनेहु ॥

(५) नन्ददास का भवँर गीत भागवत में वर्णित भ्रमर गीत के समान संक्षिप्त नहीं है, और न सूरदास के भ्रमर गीत के समान अति विस्तृत। भागवत में यह प्रसंग कुछ ही श्लोकों में समाप्त कर दिया गया है और सूरदास का भ्रमर गीत सैकड़ों पदों में चलता है। नन्ददास का भवँर गीत विस्तार की दृष्टि से इन दोनों के बीच में है। इसमें जितने पद हैं सभी उत्तम कोटि के हैं।

नन्ददास ने वार्त्तालाप की पद्धति पर तर्क वितर्क चला कर वर्णन को बहुत प्रभावोत्पादक और मनोमुग्धकारी बना दिया है; गोपियों के प्रेम, विरह-वेदना, वियोग में भी आन्तरिक संयोग-दशा आदि विषयों का बहुत ललित भाषा में वर्णन किया है। साथ ही उन्होंने कृष्ण तथा गोपियों पर पड़े प्रभाव का भी वर्णन अनेक अनुभावों के रूप में किया है। ये वर्णन रसोत्पादक होते हुए भी आध्यात्मिकता के रस में आप्लावित हैं और भक्तों पर पूर्ण रूप से प्रभाव डालते हैं।

सूर और नन्द के भ्रमर गीतों में तुलना :—

समता :—(१) दोनों का आधार है श्रीमद्‌भागवत पुराण का दशम स्कंध। दोनों में एक ही कथानक और एक ही प्रसंग है।

(२, दोनों कवियों ने सगुण भक्ति को निर्गुण ज्ञान से श्रेष्ठ सिद्ध किया है। सगुण की महत्ता प्रतिपादित करना ही दोनों का उद्देश्य है।

(३) सूर और नन्द दोनों कवि वल्लभ-सम्प्रदाय के पुष्टिमार्गी थे, अतः दोनों ने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्त का पोषण किया।

(४ दोनों कवियों ने विरह का मार्मिक वर्णन किया है।

(५) दोनों भ्रमर गीत मुक्तक रचनाएँ हैं परन्तु कथानक का क्षीण सूत्र भी दोनों में वर्त्तमान है। वे बिहारी के दोहों के समान मुक्तक नहीं हैं।

भिन्नता :—(१) सूरदास के भ्रमर गीत में आरम्भ से ही भ्रमर का प्रवेश है परन्तु नन्ददास के भवँर गीत के पूर्वार्द्ध में उद्धव और गोपियों के बीच वाद विवाद है और विरहाभिव्यक्ति के समय भ्रमर का प्रवेश हुआ है।

(२) सूर की गोपियां साधारण ग्रामीण बालाएं हैं जो प्रेम में पागल हैं। नन्द की गोपियां विदुषी हैं जो सुन्दर रीति से तर्क कर सकती हैं। उद्धव जैसे विद्वान् को भी वे तर्क में परास्त कर देती हैं। सूर ने जहां हृदय की कोमल और स्निग्ध भावनाओं से काम लिया है वहां नन्ददास ने तर्क का सहारा लिया है। सूर की गोपियां प्रेम में इतनी विभोर हैं कि उन्हें तर्क देने की सुधबुध नहीं, अवकाश भी नहीं। नन्द की गोपियां तर्क पर तर्क उपस्थित किये जाती हैं। सूर की गोपियों में केवल हृदय के दर्शन होते हैं, नन्द की गोपियों में हृदय के साथ ही मस्तिष्क के भी दर्शन होते हैं। सूर की गोपियां हृदय की विवशता दिखाती हैं :—

मधुकर ये मन बिगरि परे।
समुझत नाहिं ज्ञान गीता कौ, हरि मुसुकानि अरे ॥
बाल मुकुंद रूप रस राचे, ताते वक्र खरे
होय न सूधी स्वान पूंछ ज्यों कोटिक जतन करे ॥
हरि पद नलिन विसारत नाहिंन सीतल उर सँचरे।
जोग गँभीर है अंध कूप तेहि देखत दूरि डरे ॥

नन्ददास की गोपियों की तार्किकता देखी जाय :—

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहां ते।
बीज बिना तरु जमैं मोहि तुम कहौ कहाँ ते ॥
वा गुन की परछाँह री माया दरपन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये अमल बारि मिलि कीच ॥
सखा सुन स्याम के ॥

(३) वेदना के आघात से सूर की गोपियां कई स्थलों पर निर्वाक हो जाती हैं परन्तु नंद दास की गोपियाँ कभी भी मौन नहीं होती; वे सदा बोलती ही रहती हैं।

(४) कुब्जा का प्रसंग आने पर सूर की गोपियाँ केवल क्षुब्ध हो जाती हैं। परन्तु नंद की गोपियां कुछ विशेष उग्र हैं, वे बौखला जाती हैं और अनेक प्रकार की बातें कह डालती हैं; यथा :—

कोउ कहैं रे मधुप, तुम्हें लज्जा नहिं आवै।
सखा तुम्हारे स्याम कूबरी नाथ कहावै॥
यह पदवी नीची हुती, गोपी-नाथ कहाय।
अब जदु कुल पावन भयो, दासी जूठन खाय॥
मरत कह बोल को॥

(५) सूर के भ्रमर गीत में राधा प्रधान विरहिणी के रूप में आई है, परन्तु नंद के भवँर गीत में उसका उल्लेख भी नहीं है।

(६) सूर के भ्रमर-गीत में उद्धव नंद, यशोदा और गोपियों से मिलते हैं, परन्तु नंद दास के भँवर गीत में वे केवल गोपियों से ही मिलते हैं।

(७) सूर की गोपियां विरह में पूर्णतः मग्न हैं। किन्तु नंद की गोपियां विरह में भी संयोग मान लेती हैं। वे विरह के समय भी अपने बीते समय के संयोग का ध्यान करके जैसे उसका अनुभव भी करने लगती हैं। केवल नंद दास ने ही विरह का ऐसा वर्णन किया है।

(८) सूर की शैली शुद्ध गीति-शैली है। नंद दास ने वार्तालाप की नाटकीय शैली अपनायी है और खंड काव्य के ढंग पर रचना की है।

(९) सूरदास का छन्द पद है। नंददास ने एक मिश्रित छंद अपनाया है जिसमें रोला छन्द के दो चरण, एक दोहा और अन्त में दस मात्राओं का एक चरण जोड़ दिया है।

(१०) सूर के भ्रमर गीत में नंददास के भवँर गीत की अपेक्षा विरह-वर्णन अधिक मार्मिक हुआ है। नंददास की तार्किकता विरह की गहरी अनुभूति के मार्ग में बाधा बन कर खड़ी हो जाती है। सूर के "निसिदिन बरसत नैन हमारे" वाले पद के समान मर्मस्पर्शी पंक्तियाँ नंददास के भवँर गीत में कहीं नहीं मिलेंगी।

(११) सूर के भ्रमर गीत में मनोवैज्ञानिक चित्रों का बाहुल्य है। नंददास के भवँर गीत में इतने मनोवैज्ञानिक चित्र नहीं मिल सकते।

(१२) सूर के भ्रमर गीत में लम्बी अनुक्रमणिका मिलती है। नंद के भवँर गीत में कोई अनुक्रमणिका नहीं है। उद्धव के उपदेश से ही ग्रंथ का आरम्भ हो जाता है; यथा :—

ऊधौ को उपदेश सुनौ ब्रज-नागरी।
रूप, सील, लावन्य सबै गुन आगरी॥
प्रेम धुजा रस रूपिनी, उपजावनि सुख पुंज।
सुंदर स्याम-विलासिनि, नव वृन्दावन कुंज॥
सुनौ ब्रज नागरी॥

(१३) उपालम्भ काव्य की दृष्टि से भी सूर का भ्रमर गीत अधिक श्रेष्ठ है। सूर का निम्न-लिखित पद इस प्रसंग में द्रष्टव्य है :—

निरगुन कौन देस को बासी।
मधुकर, हँसि समुझाय सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी।

नंददास के भवँर गीत में इस प्रकार की पंक्तियाँ कम ही मिलेंगी। तथापि वहां भी कुछ अनूठी पंक्तियाँ मिल जाती हैं। निम्न-लिखित पंक्तियाँ देखें :—

कोउ कहै रे मधुप, तुन्हें लज्जा नहिं आवै।
सखा तुम्हारो स्याम, कूबरी नाथ कहावै॥
यह पदवी नीची हुती, गोपी नाथ कहाय।
अब जदु कुल पावन भयो, दासी जूठन खाय॥
मरत कह बोल को॥

(१४) शुद्ध दार्शनिकता की दृष्टि से नंद का भवँर गीत सूरदास के भ्रमर गीत से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। निम्न-लिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

जो उन के गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमैं मोहि तुम कहौ कहाँ ते॥
वा गुन की परछाँह री माया दरपन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये अमल वारि मिलि कीच॥
सखा सुन स्याम के॥

रास-पंचाध्यायी

नंद दास का दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ रास पंचाध्यायी है। इसकी रचना, डा० रामकुमार वर्मा के मत से, सं० १६२० वि० के बाद हुई। नंददास ने इस ग्रंथ की रचना एक 'परम रसिक' मित्र के आग्रह पर की। उन्होंने स्वयं लिखा है :—

परम रसिक इक मित्र तिन आज्ञा दीनी।
ताही तैं यह कथा यथा मति भाषा कीनी॥

नंददास ने इस मित्र का उल्लेख कई स्थानों पर किया है। इसी मित्र के आग्रह पर उसे नायिका-भेद से परिचित कराने के लिए उन्होंने रस-मंजरी की रचना की। उसी मित्र के कारण उन्होंने भागवत के दशम स्कंध का अनुवाद किया। इस परम रसिक मित्र के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग गंगा बाई को मानते हैं और कुछ लोग रूप मंजरी को। ऊपर इस विषय की थोड़ी चर्चा हुई है।

'रास पंचाध्यायी' के नाम से ही सूचित होता है कि इसमें रास क्रीड़ा का वर्णन है और ग्रंथ पाँच अध्यायों में समाप्त हुआ है। इस ग्रंथ के तीन आधार कहे जाते हैं :— (१) भागवत पुराण, (२) हरिवंश पुराण और (३) गीत गोविन्द। इसका मुख्य

आधार भागवत है जिसके दशम स्कंध के पूर्वार्ध के अध्यायों (२६-३३) में रास का वर्णन किया गया है। कुछ लोगों का विश्वास है कि हरिवंश पुराण के रास-वर्णन के आधार पर नंददास ने रासपंचाध्यायी की रचना की क्योंकि हरिवंश पुराण में रास का जैसा वर्णन है वैसा ही वर्णन इस ग्रंथ में भी है। कुछ और लोग रास पंचाध्यायी की रचना का आधार गीत गोविन्द को मानते हैं। किन्तु गीत गोविन्द का प्रभाव केवल शैली एवं कोमल कान्त पदावली तक ही सीमित समझना चाहिए। दोनों ग्रंथों के वर्ण्य विषय में आकाश-पाताल का अन्तर है। यह निर्विवाद है कि रासपंचाध्यायी की शैली पर गीत गोविन्द का प्रभाव अवश्य पड़ा है। इसे कुछ लोग हिन्दी का गीत गोविन्द इसीलिए कहते हैं। हरिवंश पुराण का भी प्रभाव ग्रंथ पर पड़ा है परन्तु मुख्य रूप से भागवत को ही आदर्श मान कर नंददास ने इस ग्रंथ की रचना की। दोनों ग्रंथों में स्थान-स्थान पर इतना साम्य है कि रास पंचाध्यायी की कई पंक्तियों को भागवत के कई श्लोकों का भावानुवाद कह सकते हैं। ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि पुष्टि-मार्ग के सभी भक्तों का उपजीव्य काव्य भागवत ही रहा है। सभी पुष्टि-मार्गियों ने भागवत से ही प्रेरणा प्राप्त की है। अतः हमें मानना चाहिए कि 'रास पंचाध्यायी' का आधार हरिवंश से अधिक श्रीमद्भागवत पुराण ही है। किन्तु भागवत आधार होने का अर्थ यह नहीं कि नंददास ने भागवत के उन पांच अध्यायों का अनुवाद कर दिया अथवा मक्षिका-स्थाने मक्षिका रख दी। उन्होंने भागवत का आधार ग्रहण करके भी मौलिकता दिखलाई है; भागवत से केवल प्रेरणा ही ग्रहण की है।

नंददास ने रास पंचाध्यायी के कथा-विधान में मौलिकता का समावेश कर के अपनी सुरुचि का परिचय दिया है। अनेक नये प्रसंगों का समावेश, नयी-नयी उक्तियाँ, विषय-प्रतिपादन की अपनी विशेष प्रणाली, तथा धार्मिक विचार कवि की मौलिक विशेषताएँ हैं। शुकदेव जी की शोभा और भक्ति, भागवत एवं पंचाध्यायी का माहात्म्य और वृन्दा वन की शोभा के वर्णन में नंददास की मौलिक उद्भावना का परिचय प्राप्त होता है। भागवत के कई प्रसंगों के अनावश्यक विस्तार को नंददास ने छोड़ दिया है। कामदेव के आगमन तथा मूर्च्छित होने की कल्पना नंददास की निजी है। भागवत में सभी गोपियों के बीच एक ही कृष्ण के बैठने का उल्लेख है; पर नंददास ने कल्पना के सहारे एक-एक गोपी के सामने कृष्ण को बैठाया है—

एक एक हरि देव सबहिं आसन पर बैठे।
किये मनोरथ पूरन जिन मन उपजे जैसे॥

इन्हीं कारणों से श्री ब्रजरत्न दास यथा डा० दीनदयाल गुप्त आदि विद्वानों ने नंददास को कोरा अनुवादक नहीं माना और रास पंचाध्यायी को स्वतंत्र ग्रंथ स्वीकृत किया है।

रास पंचाध्यायी के विभिन्न अध्यायों में कथानक नीचे लिखे प्रकार से रखा गया है:—

प्रथम अध्याय—सर्व प्रथम कवि ने शुकदेव मुनि के नखशिख का वर्णन किया है। तदुपरान्त वृन्दावन में चन्द्रोदय का मनोहर दृश्य प्रस्तुत है। फिर कृष्ण के मुरली वादन गोपियों के आगमन आदि का सजीव चित्रण है। कृष्ण गोपियों को उपदेश देना आरम्भ करते हैं, परन्तु उनके आग्रह से रास क्रीड़ा में प्रवृत्त होते हैं। गोपियाँ जब रास क्रीड़ा में पूर्ण रूप से निमग्न हो जाती हैं तो कृष्ण कुछ समय के लिए अन्तर्धान हो जाते हैं।

द्वितीय अध्याय — गोपियाँ व्याकुल होकर कृष्ण को इधर-उधर ढूँढ़ने लगती हैं। गोपियों के विरह-वर्णन के कारण इस अध्याय में विप्रलम्भ शृंगार की प्रमुखता है।

तृतीय अध्याय — इस अध्याय में भी व्याकुल गोपियाँ विलाप करती हैं। इस अध्याय का भी मुख्य रस विप्रलम्भ शृंगार है

चतुर्थ अध्याय—इस अध्याय में कृष्ण प्रत्यक्ष हो जाते हैं और गोपियाँ अत्यन्त आनन्द प्रकट करती हैं

पञ्चम अध्याय—इस अध्याय में रास क्रीड़ा और जल क्रीड़ा का मनोरम वर्णन है। रात्रि के अन्तिम प्रहर में गोपियाँ अपने-अपने घर जाती हैं।

कृष्ण और गोपियों को सामान्य मानव मान लेने पर रासपंचाध्यायी को शृंगार रस का काव्य कहा जायगा जिसके प्रथम, चतुर्थ एवं पञ्चम अध्यायों में संभोग शृंगार तथा द्वितीय और तृतीय अध्यायों में विप्रलम्भ शृंगार है। किन्तु कृष्ण और गोपियों में सामान्य मानवता का आरोप यदि नहीं किया जाय और उन्हें परमात्मा और जीवात्मा माना जाय तो इस रास क्रीड़ा का आध्यात्मिक अर्थ होगा। परमात्मा और जीवात्मा आपस में मिलते हैं और उस मिलन के कारण उनमें उल्लास की उत्पत्ति होती है. यही रास क्रीड़ा है। इस दशा में रासपंचाध्यायी शृंगार रस का काव्य न होकर विशुद्ध भक्ति का काव्य है।

रासपंचाध्यायी एक खंड काव्य है। खंड काव्य के प्राचीन लेखकों में नंददास का नाम अग्र-गण्य है।

रास

यह लोक भगवान् की लीला-भूमि है। यहां भगवान् नाना प्रकार की लीलाएँ करते हैं। जिस प्रकार रामचन्द्र मर्यादा पुरुषोत्तम कहे जाते हैं, उसी प्रकार कृष्ण लीला-पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। भगवान् अपनी लीला शक्ति से दिव्य अवसर ग्रहण करते हैं और अपने भक्तों को साक्षात् दिव्य दर्शन देते हैं जिस सुख के आगे भक्त कोई भी सांसारिक या पारलौकिक सुख तुच्छ समझने लगता है।

पुष्टि सम्प्रदाय में रास का अत्यधिक महत्त्व है। इस सम्प्रदाय में उपासना-पद्धति का एक विशेष और आवश्यक अंग रास को माना गया है। इसीलिए प्रायः सभी कृष्ण-भक्तों ने रास-क्रीड़ा का बहुत विशद वर्णन किया है। भागवत पुराण और हरिवंश पुराण में भी रास क्रीड़ा का सुन्दर और सजीव वर्णन किया गया है। पुष्टि

सम्प्रदाय के भक्तों ने भागवत से प्रेरणा ग्रहण की और सभी ने अपनी भक्ति पद्धति के अन्तर्गत रास को अनिवार्य रूप से रखा।

कुछ लोगों ने रास में अश्लीलता का दोषारोपण किया है। परन्तु अश्लीलता बहुत अंशों में भावना पर निर्भर करती है। यदि कृष्ण और गोपियों को साधारण मानव मान लें, तो अश्लीलता का दोषारोपण बहुत कुछ सत्य समझा जा सकता है। परन्तु कृष्ण-भक्तों के लिए कृष्ण ब्रह्म-स्वरूप हैं और उनका रास ब्रह्म के जीव से मिलन के उल्लास रूप में है। स्थूल दृष्टि से यह रास-लीला काम-क्रीड़ा ही कही जायगी परन्तु वास्तव में यह आत्मा और परमात्मा का ही मिलन है। वस्तुतः ये लीलाएँ प्राकृत नहीं थीं। इनका बाह्य रूप ही प्राकृत कहा जा सकता है। स्वयं नंनदास ने ऐसे भ्रम का निराकरण करने के लिए लिखा है—

> नाहिंन कछु शृंगार कथा इहि पंचाध्याई।
> सुन्दर अति निरवृत्त परा तें इती बड़ाई॥
> जे पंडित सिंगार ग्रंथ मत या में सानैं।
> ते कछु भेद न जानैं हरि को विषयी मानैं॥

ब्रह्म सच्चिदानंद है। वह सत् और चित् के साथ आनंद रूप भी है। उसी आनंद को वह रास के रूप में प्रकट करता है। वह ब्रह्म अपने नृत्य द्वारा अखंड आनंद प्रदान करता है। जो गोपियां इस रास क्रीड़ा में भाग लेती हैं, वे अत्यधिक रस प्राप्त करती हैं :—

> नूपुर, कंकन, किंकिंनी करतल मंजुल मुरली।
> ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली॥
> जो ब्रज देवि निरतत मंडल रास महा छवि।
> सो रस कैसे बरनि सकै इहँ ऐसो को कवि॥

इस अलौकिक रास का प्रभाव भी अलौकिक ही है—

> अद्भुत रस रह्यौ रास गीत धुनि मोहे मुनि।
> सिला सलिल ह्वै चली सलिल ह्वै रह्यौ पुनि॥

और भी,

> पवन थक्यौ, ससि थक्यौ, थक्यौ उडुमंडल सगरौ।
> पाछे रवि-रथ थक्यौ, चल्यौ नहिं आगे डगरौ।

इस रास क्रीड़ा को देखकर सारी प्रकृति ही स्तंभित हो जाती है। रवि-शशि, नक्षत्र गण और पवन सभी तन्मय एवं स्तंभित होकर रास देखने लग जाते हैं। शिला द्रवित होकर जल के रूप में परिणत हो जाती है और जल स्तंभित होकर शिला के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है।

ऐसी लीलाएँ भगवान् स्वयं किया करते हैं अपने आनंद के लिए। इनका कोई प्रयोजन नहीं होता है। लीला करना ही उद्देश्य रहता है; लीला के द्वारा किसी अन्य कार्य को सिद्ध करना उद्देश्य नहीं रहता।

नंददास ने भगवान् कृष्ण की रास-क्रीड़ा का बहुत सुन्दर और चित्रमय वर्णन किया है। वर्णन पढ़ते समय आँखों के सामने चित्र उपस्थित हो जाता है। ध्वनि-व्यंजना का भी समुचित समावेश किया गया है।

मुरली

सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने मुरली को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करके इसकी महिमा का गुणगान किया है। कई शास्त्रों में शब्द को ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। कबीर आदि निर्गुण-पंथी भक्तों ने शब्द के इसी ब्रह्म रूप की ओर संकेत किया है जिसे बहुत अधिक साधना करके ही प्राप्त किया जा सकता है। उसी नाद ब्रह्म की जननी मुरली है जिसे कृष्ण बजाते हैं। पुष्टिमार्गी भक्तों ने मुरली को योगमाया माना है। ब्रह्म स्वरूप कृष्ण इसी योगमाया के सहारे सृष्टि और प्रलय करते हैं। इसी के प्रभाव के अन्तर्गत सम्पूर्ण ब्रह्मांड है। नंददास ने भी अन्य पुष्टिमार्गी भक्तों के समान यही सिद्धान्त अपनाया है :—

तब लीनी कर कमल जोग माया सी मुरली।
अघटित घटना चतुर; बहुरि अधरन रस जुरली॥
जाकी धुनि तें अगम, निगम प्रगटे बड़ नागर।
नाद ब्रह्म की जननि, मोहनी सब सुख सागर॥

सूरदास ने भी अनेक पदों में मुरली के इस अनन्त प्रभाव का वर्णन किया है।

(१) जब हरि मुरली अधर धरत।
थिर चर, चर थिर, पवन थकित रहैं, जमुना जल न बहत॥

(२) बाँसुरी विधि हूं ते परवीन।
कहियै काहि आहि को ऐसो, कियो जगत आधीन॥

गोपियां मुरली को सापत्न्य भाव से भी देखती हैं। यह मुरली इतनी भाग्यशालिनी है कि कृष्ण के अधरों से सदा लगी रहती है जबकि वे सदा तरसती रहती हैं। स्वभावतः गोपियां मुरली को सपत्नी समझ कर उससे डाह करती हैं। सूरदास ने भी अनेक पदों में इस भाव का सरस वर्णन किया है।

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुनि री सखी जदपि नँद लालहिं नाना भाँति नचावति॥
राखति एक पाइ ठाढ़ो करि, अति अधिकार जनावति।
कोमल तन आज्ञा करवावति, करि टेढ़ी ह्वै आवति॥

गोपियों के इस उपालम्भ के कारण यह प्रसंग अत्यन्त सरल और हृदय-ग्राही हो गया है।

शृंगार-वर्णन

नन्ददास केवल उच्च कोटि के भक्त ही नहीं प्रत्युत् महान् कलाकार भी हैं। वे केवल अपनी भक्ति प्रकाशित करने के लिए ही कविता नहीं करते थे अपितु कविता कविता के लिए भी करते थे। जहां सूर में कविता अनायास है वहां नंददास ने प्रयत्न करके कविता की है। सूर के लिए कविता साधन थी, परन्तु नन्ददास के लिए साध्य थी। इस दृष्टि से नन्ददास का स्थान कृष्ण-भक्तों में—विशेषतः अष्टछाप में अन्यतम है। उन्होंने कविता के आध्यात्मिक तथा लौकिक पक्षों में समुचित समन्वय किया है।

रास पंचाध्यायी में शृंगार के दोनों भेदों—संयोग और वियोग का आकर्षक तथा संक्षिप्त वर्णन किया गया है। मुरली की ध्वनि सुन कर सभी गोपियां कृष्ण के पास दौड़ पड़ती हैं और कृष्ण की सभी इन्द्रियाँ नूपुरों की ध्वनि सुनने के लिए कर्णेन्द्रिय में ही केन्द्रीभूत हो जाती हैं। इससे दोनों पक्षों के प्रेम में समत्व परिलक्षित हो जाता है। मुरली की मादक ध्वनि गोपियों को भाव-विभोर बना देती है और उन्हें कल्पना में संयोग सुख का अनुभव होने लगता है।

पुनि रंचक धरि ध्यान, पिया परिरंभ दियो जब।
कोटि स्वर्ग सुख भोग छिनहि मंगल कीनो तब॥

संयोग में तीव्रता का समावेश करने के लिए नंददास ने गोपियों के रूप का भी आकर्षक वर्णन किया है।

मंद परसपर हँसी, लसीं तिरछी अँखियन अस।
रूप उदधि इतराति, रंगीली मीन पाँति जस॥

इस प्रकार रास क्रीड़ा का आरम्भ होता है। इस स्थल पर संयोग का आकर्षक वर्णन हुआ है। थोड़े समय के लिए कृष्ण अन्तर्हित हो जाते हैं और गोपियों की विरह-व्यग्रता के पश्चात् फिर प्रकट होते हैं और गोपियों के साथ नित्य रास में निमग्न हो जाते हैं। उस समय का संयोग-वर्णन और भी उत्कृष्ट और चित्ताकर्षक हो गया है। विरह के दुःख ने संयोग के सुख में और भी तीव्रता ला दी है। इस स्थल पर नंददास ने अनेक भाव-व्यंजक शब्दों के प्रयोग के द्वारा संयोग के बाह्य रूप को प्रकट किया ही है साथ ही सुन्दर उत्प्रेक्षाओं के प्रयोग के सहारे संयोग सुख को भी साकार करने में समर्थ हुए हैं। इस प्रसंग में निम्न-लिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

दौरि लिपट गइ ललित लाल सुख कहत न आवै।
मीन उछारि ज्यों पुलिन परे पै पानी पावै॥
हार हार में उरझि उरझि बँहियों में बँहियाँ।
नील पीत पट उरझि उरझि बेसर नथ मँहियाँ॥

रास करते करते रात्रि बहुत बढ़ जाती है :—

थकित सरद की रजनि न जानी केतिक बाढ़ी।
बिहरत सजनी स्याम जथा रुचि अति रति बाढ़ी॥

रास पंचाध्यायी का मुख्य रस संयोग शृंगार ही है परन्तु उस संयोग को और भी गम्भीर तथा तीव्र रूप प्रदान करने के लिए नंददास ने कृष्ण को थोड़े समय के लिए तिरोहित करा दिया है। गोपियों के हृदय में विरह की तीव्र अनुभूति जाग्रत हो जाती है और वे जड़ वृक्ष-लताओं से कृष्ण का पता पूछने लगती हैं।

हे अवनी ! नवनीत चोर चित चोर हमारे।
राखे कितहिं दुराइ बतावहु प्रान पियारे ॥
अहो तुलसी कल्यानि ! सदा गोविंद-पद-प्यारी।
क्यों न कहति तू नँद नंदन सों दसा हमारी ॥

गोपियाँ विरह से व्याकुल होकर अचेतन पदार्थों से भी कृष्ण का पता पूछ रही हैं। नंददास इसके कारण की ओर संकेत करते हैं :—

को जड़ को चैतन्य कछु न जानत बिरही जन।

कालिदास का यक्ष भी अचेतन मेघ के द्वारा अपना संदेश अपनी प्रिया के पास भेजता है। इसी तथ्य को कालिदास ने मेघदूत में कहा है :—

कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।

नंददास के शृंगार वर्णन में हमें कुछ त्रुटियां भी दिखाई देती हैं। संयोग शृंगार के वर्णन में कई स्थलों पर अश्लीलता का भी समावेश हो गया है; जैसे :—

परिरंभन मुख चुंबन कच कुच निवि परसत।
सरसत प्रेम अनंग रंग नव घन ज्यों बरसत ॥

यों नैतिक दृष्टि से भी गोपियों का प्रेम उत्कृष्ट कोटि का कहने में संकोच होता है। रास पंचाध्यायी के वियोग-वर्णन में एक अस्वाभाविकता आ गई है। कृष्ण कुछ समय के लिए लता-कुंजों की ओट में छिप जाते हैं और गोपियों की व्यग्रता अत्यधिक मात्रा में बढ़ जाती है। यह अस्वाभाविक हो गया है।

इन कतिपय त्रुटियों के निराकरण के लिए हमें नंददास के दार्शनिक दृष्टि-कोण का अवलोकन करना होगा उन्होंने इस विषय में लौकिक दृष्टि-कोण नहीं अपितु अलौकिक दृष्टि कोण अपनाया है। उनकी मान्यताएँ अलौकिक हैं परन्तु उन्होंने उन्हें लौकिक प्रतीकों के सहारे व्यक्त किया है। आध्यात्मिक प्रेम की गम्भीरता ही लौकिक अश्लीलता तथा काम वासना में परिणत हो गई है। इसी भय से नंददास ने कामदेव का प्रसंग उपस्थित करके उन्हें पराजित दिखाया है। इससे नन्ददास का उद्देश्य कृष्ण और गोपियों के प्रेम की पवित्रता दिखाना है। उन्हीं स्थलों पर नंददास ने गोपियों के ईश्वरीय प्रेम के योग्य होने का संकेत दिया है। रास पंचाध्यायी के आध्यात्मिक शृंगार का भी संकेत मिलता है :—

नित्य रास रस मत्त नित्य गोपी जन वल्लभ।
नित्य निगम जो कहत नित्य नव तन अति दुल्लभ ॥

भ्रम के निराकरण के लिए स्वयं कवि ने लिखा है :—

जे पंडित सिंगार ग्रन्थ मत यामैं सानैं ।
ते कछु भेद न जानैं, हरि को बिषयी मानैं ॥

रास के प्रसंग में स्वयं कवि भाव-विभोर हो जाता है और उसी अवस्था में कह उठता है :—

मोहन पिय की मुसकनि, ढलकनि मोर मुकुट की ।
सदा बसौ मन मेरे, फरकनि पियरे पट की ॥

लौकिक दृष्टि से क्षणिक वियोग में अस्वाभाविकता का आभास मिल सकता है परन्तु साम्प्रदायिक दृष्टि से देखने पर इसमें अस्वाभाविकता नहीं जान पड़ती और यह इस अर्थ में सर्वथा पुष्ट है ।

दार्शनिक सिद्धान्त एवं भक्ति पद्धति

नंददास वल्लभाचार्य जी के पुत्र गोसाईं विट्ठल नाथ के शिष्य और उनके तथा सूरदास के समकालीन थे । इनका भी दार्शनिक सिद्धान्त वही था जो वल्लभाचार्य जी तथा सूरदास का था । ये शुद्धाद्वैत वाद के समर्थक तथा पुष्टि मार्गी थे । ये भी कृष्ण को ब्रह्म, गोप-गोपियों को जीवात्मा तथा मुरली को योगमाया मानते थे । इनका भी सिद्धान्त था कि कृष्ण ब्रह्म हैं; ब्रह्म निर्गुण तथा सगुण दोनों है परन्तु सुविधा के लिए इन्होंने ब्रह्म को सगुण माना । सम्पूर्ण भवँर-गीत में इन्होंने तर्क-पद्धति से ब्रह्म की सगुणता सिद्ध की है । उद्धव जैसे प्रकांड पंडित के गोपियों के तर्क से परास्त हो जाने का स्पष्ट अर्थ निर्गुणवाद की व्यर्थता सिद्ध करके सगुणवाद की उपादेयता सिद्ध करना है । वस्तुतः जितने सुन्दर ढंग से नंददास ने निर्गुण पर सगुण की विजय दिखाई, उतने सुन्दर ढंग से कोई भी कवि नहीं दिखा सका । भवँर-गीत की सबसे बड़ी विशेषता उसका तर्क वाद है ।

कृष्ण का ब्रह्मत्व उन्होंने निम्न-लिखित पंक्तियों में व्यक्त किया है :—

मोहन अद्भुत रूप कहि न आवै छवि ताकी ।
अखिल अंड व्यापी जु ब्रह्म. आभा कछु जाकी ॥
परमातम पर ब्रह्म, सबन के अन्तरजामी ।
नारायन भगवान, धरम करि सबके स्वामी ॥

नंददास ब्रह्म को सर्व शक्तिमान मानते हैं । शुद्धाद्वैत वाद का सिद्धान्त है कि ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति है । नंददास यह भी मानते हैं । माया और ब्रह्म की भिन्नता के विषय में नंददास ने लिखा है :—

माया के गुन और, और हरि के गुन जानौ ।
उन गुन को इन माँहि आनि काहे को सानौ ॥

यह माया भी कृष्ण के अधीन है :—

जो माया जिनके अधीन नित रहत मृगी जस ।
विश्व-प्रभव, प्रतिपाल, प्रलै कारक, आयस-बस ॥

इसी माया के फेर में पड़ कर जीव का ईश्वरीय अंश लुप्त हो जाता है।

पुष्टि-मार्गी सिद्धान्त में लीला को बहुत महत्त्व दिया गया है। नंददास ने लीला का अत्यन्त सजीव चित्रण किया है।

नूपुर कंकन किंकिनी कर तल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली॥

× × ×

कबहुँ परस्पर छिरकत मंजुल अंजुल भरि भरि।
अरुन कमल मंडली फाग खेलत रस रंग अरि॥
रूचिर दृगंचल चंचल मैं झलकत अस।
सरस कनक के कंजन खंजन जाल परत जस॥

ज्ञानी उद्धव की पराजय का अर्थ है भक्ति की विजय। गोपियों की भक्ति-भावना के कारण उद्धव का ज्ञान समाप्त हो जाता है और वे भक्ति की श्रेष्ठता स्वीकार कर के लौटते हैं:—

प्रेम प्रसंसा करत सुद्ध जो भक्ति प्रकासी।
दुविधा ग्यान गिलानि मन्दता सिगरी नासी॥
कहत मोहि विस्मय भयो हरि के ये निज पात्र।
हौं तो कृतकृत्य ह्वै गयो इनके दरसन मात्र॥
मेटि मल ग्यान को॥

पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व नंददास राम-भक्त थे और रामचन्द्र तथा हनुमान की भक्ति के पद रचा करते थे। अतः इनके प्रारम्भिक पद राम-भक्ति के ही हैं। सूरदास और विट्ठल नाथ से प्रभावित होकर ये पुष्टि-मार्गी हो गये। पुष्टि मार्ग में सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—तीन प्रकार से भगवान् कृष्ण की भक्ति की जाती है। सूरदास ने तीनों प्रकारों को अपनाया परन्तु नंददास की रसिकता से वात्सल्य का मेल नहीं हो सका। यों तो पुष्टि मार्गी होने के नाते इन्होंने कृष्ण के बाल-रूप का भी वर्णन कुछ पदों में कर दिया है; जैसे—

(१) नंद को लाल, ब्रज पालनैं झूलैं।
कुटिल अलकावली, तिलक गोरोचन,
चरन अँगूठा मुख किलक किलक कूलैं।
(२) आज सिंगार स्याम सुन्दर को देखै ही बनि आवै।

परन्तु ये वात्सल्य के कवि और भक्त नहीं कहे जा सकते। इन्होंने सख्य और माधुर्य को ही अपनाया। सख्य की भी अपेक्षा माधुर्य ही नंद की भक्ति का मूल आधार है। वास्तव में सख्य और माधुर्य में बहुत अधिक अंतर नहीं है। जिस विषय का कथन माधुर्य में प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है उसीका कथन सख्य में एक माध्यम के

सहारे किया जाता है। नंददास की प्रवृत्ति माधुर्य में ही अधिक रम सकी। इनकी भक्ति मुख्य रूप से माधुर्य की ही है और इस विषय में इन्होंने अपनी प्रतिभा की प्रखरता पूर्णतया प्रदर्शित की है।

पुष्टि सम्प्रदाय में कृष्ण के केवल बाल रूप एवं किशोर रूप का वर्णन किया जाता है। सूरदास ने कृष्ण के वयस्क रूप का कहीं-कहीं वर्णन करके अपनी वैष्णवीय उदारता प्रदर्शित की है। किन्तु नंददास में, इस अर्थ में, साम्प्रदायिक कट्टरता कुछ अधिक है। उन्होंने कृष्ण के केवल बाल रूप और किशोर रूप तक ही अपने को सीमित रखा है और इस प्रकार अपने को पुष्टि सम्प्रदाय का वास्तविक प्रतिनिधि कवि सिद्ध किया है।

[इस विषय पर "सूरदास—दार्शनिक सिद्धान्त तथा भक्ति पद्धति" भी द्रष्टव्य है।]

रस-निरूपण

नंददास माधुर्य भाव के भक्त थे अतः उनकी कविता का मुख्य रस शृंगार है। उनकी सम्पूर्ण कविता में मुख्य तत्त्व प्रेम ही है। इसी प्रेम की व्याख्या उन्होंने अपने लगभग सभी ग्रंथों में की है भवँर गीत में प्रेम के विषय में गोपियों का कथन है :—

ग्यान जोग सब कर्म तें परे प्रेम ही साँच।
हौं या पटतर देत हौं हीरा आगे काँच॥

यह प्रेम सर्वथा शुद्ध तथा पवित्र है। इसमें वासना की गंध नहीं।

कर्म, पाप अरु पुन्य, लोह सोने की बेरी।
पायन बंधन दोउ कोउ मानौ बहुतेरी॥
उँच कर्म तें स्वर्ग है, नीच कर्म ते भोग।
प्रेम बिना सब पचि मुये विषय वासना रोग॥
सखा सुनि स्याम के॥

नंददास ने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों भेदों का वर्णन किया है। रास-पंचाध्यायी का मुख्य रस संयोग शृंगार है।

मंद परसपर हँसीं लसीं तिरछी अँखियाँ अस।
रूप उदधि उतराति रंगीली मीन पाँति जस॥

रासपंचाध्यायी में विप्रलम्भ शृंगार भी है परन्तु वह संयोग की तीव्रता बढ़ाने में सहायक होता है। विरह वर्णन की निम्न-लिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं :—

अहो मीत, अहो प्रान नाथ यह अचरज भारी।
अपननि जौ मरिहौ करिहौ काकी रखवारी॥

शृंगार के वियोग पक्ष का सजीव और स्वाभाविक वर्णन भवँर गीत में हुआ है। भवँर गीत का मुख्य रस विप्रलम्भ शृंगार है। निम्न-लिखित पंक्तियों से यह कथन स्पष्ट हो जाता है :—

ता पाछे इक बार ही रोइँ सकल ब्रज नारि।
हा करुना मय नाथ हो, केसौ कृष्ण मुरारि॥
फाटि हिय दृग चल्यौ॥

वियोग की ग्यारह अन्तर्दशाओं—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद व्याधि, जड़ता. मूर्च्छा, और मरण—के भी अनेक चित्र भवँर गीत तथा रासपंचाध्यायी में विद्यमान हैं।

भवँर गीत में शृंगार रस के बाद शान्त रस का स्थान आता है। रासपंचाध्यायी और भवँर गीत में करुणा की भी क्षीण धारा प्रवाहित होती रहती है; किन्तु शृंगार की ही मुख्यता है।

नंददास के काव्य की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसमें लगभग सर्वत्र धार्मिकता और साहित्यिकता का संयोग है। कुछ उदाहरण देखिए :—

(१) सकल विश्व अप बस करि मो माया सोहति है।
मोह-मई तुम्हरी माया सोइ मोहिं मोहति है॥
(२) जो यह लीला गावै चित दै सुनै सुनावै।
प्रेम-भगति सो पावै अरु सबके मन भावै॥

नंददास के काव्य में वर्णित प्रेम ईश्वरोन्मुख प्रेम है। शृंगार स्थल पर भी भक्ति की ओर संकेत है।

प्रकृति-वर्णन

प्राचीन हिन्दी साहित्य में प्रकृति का वर्णन अपेक्षा-कृत कम हुआ है। जहाँ प्रकृति-वर्णन हुआ भी है वहाँ प्रायः उपदेश देने के विचार से प्रकृति से उदाहरण दिये गये हैं। रीति काल में तो केवल अलंकार तथा उद्दीपन के रूप में ही इसका वर्णन हुआ। यथातथ्य चित्रण तो शायद ही किसी कवि ने किया हो।

प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से नंददास अन्य कवियों से कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं। इन्होंने प्रकृति का वास्तविक चित्र अंकित किया है। नंददास के लिए यह अंग्रेजी कवियों शैली और वर्ड्सवर्थ की प्रकृति के समान शिक्षिका नहीं है प्रत्युत् टेनीसन की प्रकृति के सदृश मानवीय विचारों के लिए केवल चित्रपट है

नंददास ने अनेक स्थानों पर प्रकृति का सुखमय शृंगार युत वर्णन किया है :—

जदपि सहज माधुरी बिपिन सब दिन सुख दाई।
तदपि रँगीली सरद समय मिलि अति छबि पाई॥

× × ×

नव फूलनि सौं फूलि फूल अस लगति लुनाई।
सरद छबीली छपा हँसत छबि सां मनु आई।

नंददास ने प्रकृति का एक अन्य रूप भी ग्रहण किया है। उन्होंने आगामी कार्यों के क्रीड़ा-स्थल के उपयुक्त इसका रूप दिखाया है। इस प्रकार प्रकृति पृष्ठ भूमि हो गई है जिसके आधार पर अनेक प्रकार के कार्य होते हैं। होनेवाले कार्यों के ही अनुरूप इसका भी रूप चित्रित किया गया है। नन्ददास ने रास क्रीड़ा की पृष्ठ-भूमि के लिये इसको साधन बनाया है। अतएव नंददास की प्रकृति कोमल है, कठोर नहीं।

उज्जल मृदु बालुका पुलिन अति सरस सुहाई।
जमुना जू निज तरंग करि आपु बनाई॥
बैठे तहँ सुन्दर सुजान, सब सुख निधान हरि।
बिलसत बिबिध विलास हास रस हिय हुलास भरि॥

नंददास की प्रकृति सहानुभूति पूर्ण है। कृष्ण के विरह में गोपियाँ इसके विभिन्न उपादानों से कृष्ण का पता पूछती चलती हैं :—

हे मालति ! हे जाति ! जूथिके ! सुनियन दै चित।
मान हरन मन हरन गिरि धरन लाल लखे इत॥

नंददास ने प्रकृति का एक और रूप लिया है। अलंकार के लिए भी उन्होंने इसके विभिन्न रूपों का प्रयोग किया है। इस तथ्य को प्रदर्शित करने के लिए उदाहरण सर्वत्र अनायास मिलेंगे।

नीलोत्पल दल स्याम अंग नव जोबन भ्राजै।
कुटिल अलक मुख-कमल मनो अलि अवलि बिराजै॥

× × ×

सुन्दर उदर उदार रोमावलि राजति भारी।
हिय सरवर रस-पूरि चली मनु उमगि पनारी॥

प्रकृति के प्रांगण में ही कृष्ण गोपियों के साथ उन्मुक्त एवं स्वच्छन्द विहार करते हैं। रास क्रीड़ा वृन्दावन में, शरद्पूर्णिमा की धवल चन्द्रिका में होती है। यमुना का 'उज्जल मृदु बालुका पुलिन' ही उनका क्रीड़ा-स्थल है। फिर नंददास प्रकृति का मृदुल मनोहारी वर्णन कैसे नहीं करते ? रासपंचाध्यायी में प्रकृति के सुन्दर से सुंदर चित्र मिलेंगे। कृष्ण और गोपियों की नानाविध क्रीड़ाओं में प्रकृति सहायिका-रूप में पदर्शित की गई है। विरह मंजरी में भी यह सहायिका के रूप में ही दिखाई गई है :—

मोहि तो ले चलि चन्दा मन्दा। जहं मोहन सोहन नँद नंदा॥

विरहणी चन्द्र से अनुरोध करती है कि मुझे कृष्ण के पास ले चलो।

भाषा शैली

नंद दास की भाषा एवं शैली के सम्बन्ध में निम्न-लिखित तथ्य ध्यातव्य हैं।

(१) नंद दास के सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध उक्ति है, 'और कवि गढ़िया नंद दास जड़िया।' सचमुच वे शब्दों को जड़ने की कला जानते थे। उन की अनेक विशेषताएं

इस एक ही वाक्य में आ जाती हैं। वे अपने काव्य में शब्द जड़ देते थे। यदि एक भी शब्द अपने स्थान से हटा दिया जाय तो काव्य-सौन्दर्य बहुत अंशों में कम हो जाता है। वे उपयुक्त शब्द को उपयुक्त स्थान में रखने में निपुण थे। भाषा की मधुरता और शब्दों की सजावट के लिए नंद दास का विशेष महत्त्व है।

(२) नंद दास के पास शब्दों का वृहत भंडार था। यह इस बात से प्रकट हो जाता कि उन्होंने दो शब्द कोश पद्य में तैयार किये थे। नंद दास का सिद्धान्त ही था कि ऐसे शब्दों का प्रयोग होना चाहिये जो सुन्दर तथा कोमल हों और जिनके कहने सुनने और समझने में मिठास का अनुभव हो। उनके काव्य ग्रन्थों का अध्ययन करने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि वे अपने सिद्धान्त को व्यवहार में भी लाने वाले व्यक्ति थे और भाषा-सम्बन्धी अपने विचारों को उन्होंने कार्यरूप में परिणत कर के दिखा दिया। शब्द जैसे उनकी आज्ञा मानने को करबद्ध खड़े रहते हों।

(३) नंद दास की ब्रज भाषा में सरल, स्वाभाविक प्रवाह है। उनकी भाषा में तत्सम शब्दों की प्रचुरता है परन्तु अर्थ समझने में कहीं भी कठिनाई का अनुभव नहीं होता। संस्कृत-निष्ठ भाषा होने पर भी प्रसाद गुण के कारण सर्वत्र सुबोधता है। ऊपर जितने भी उदाहरण दिये गये हैं उनको देखने से इस कथन का पर्याप्त प्रमाण मिल जाता है। एक अन्य उदाहरण देखा जायः—

बदंन करौं कृपा-निधान श्री शुक सुभकारी।
सुद्ध ज्योति मय रुप सदा सुन्दर अविकारी॥
हरि-लीला रस-मत्त मुदित नित बिचरत जग मैं।
अद्भुत गति कतहूं न अटक है निकसत मग मैं॥

(४) नंद दास की रचनाओं में माधुर्य गुण प्रचुर परिमाण में प्राप्य है। 'प्रत्येक पद मानो अंगूर का गुच्छा है जिसमें मीठा रस भरा हुआ है।' *कोमल कान्त पदावली का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। संयुक्ताक्षरों का प्रयोग बहुत कम है। लम्बे समास भी बहुत कम ही हैं। माधुर्य की दृष्टि से रास पंचाध्यायी हिन्दी का सर्व-श्रेष्ठ ग्रन्थ है। यह हिन्दी का गीत गोविन्द है। नंद की कविता में प्रसाद गुण भी प्रायः सर्वत्र मिलता है परन्तु ओज गुण का अभाव है।

(५) नंद दास की भाषा के सम्बन्ध में एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इस में शब्दों का तोड़ मरोड़ बहुत कम है—नहीं के बराबर है। जहाँ कहीं थोड़ा तोड़ मरोड़ है भी वहां भी ध्वनि परिवर्तन के नियमों के अनुसार ही, जिसके फलस्वरूप उन विकृत रूपों को भी समझने में प्रयास नहीं करना पड़ता। तीरथ (तीर्थ) सुच्छम (सूक्ष्म), विथा (व्यथा) आदि ऐसे शब्द हैं जिनकी स्वाभाविकता नष्ट नहीं होने पाई है। इस दृष्टि से नंददास सभी कवियों—सूर तुलसी आदि से भी बढ़ कर हैं। कोई भी इनका समकक्ष नहीं हो सकता।

(६) नंद दास ने अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर किया है। एक

* प्रभुदयाल मीतल।

आध कहीं हैं भी तो वे अत्यन्त प्रचलित हैं, जैसे गरज, लायक आदि। नंद दास की यह भी महत्त्व—पूर्ण विशेषता है। अनेक बड़े बड़े कवि अरबी फारसी से सर्वथा मुक्त नहीं हैं।

(७) नंद दास तो ब्रज मंडल के निवासी ही थे। ब्रज भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था परन्तु उन्होंने कहीं कहीं अवधी आदि पूरबी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए अवधी का 'अहि' शब्द लिया जा सकता है।

(८) नंद दास ने मुहावरों और कहावतों का भी प्रयोग किया है। रास पंचाध्यायी से अधिक मुहावरे भवँर गीत में आये हैं। इसका कारण यह है कि वार्त्तालाप में मुहावरों का प्रयोग अधिक किया जाता है और इनके प्रयोग से वार्त्तालाप सजीव हो जाता है। भवँर गीत वार्त्तालाप की शैली में लिखा गया है। कहावतों के भी सम्बन्ध में यही बात है। इस लिए भवँर गीत में कहावतों का भी प्रयोग विशेष हुआ है। कुछ मुहावरें देखें—

(क) दुरि दुरि बन की ओट कहा हिय लोन लगावौ।
(ख) लिये फिरत मुख जोग गाँठ काटत बेकारी॥
(ग) जबहीं ज्यों नहिं लखौ तबहिं लौं बाँधी मूठी।
(घ) जो तुम को अवलम्बही तिनको मेलो कूप।
(ङ) बहुत पाइ कै रावरे प्रीति न डारो तोरि।

कहावतें:—(क) नैननि के नहिं बैन बैन के नैन नहीं जस।
(गिरा अनयन नयनि बिनु बानी—तुलसीदास)

(ख) बीज बिना तरु जमै मोहिं तुम कहो कहां तें।
(ग) दाधे पर जिमि लागत लोन।

(९) नंददास ने ब्रज भाषा के कुछ ऐसे ठेठ शब्दों का प्रयोग किया है जिनका प्रयोग अन्य लोगों ने बहुत कम किया है। 'रूसना' शब्द भी कुछ ऐसा ही है। 'चटसार' (जोग चटसार नें) भी ठेठ शब्द है। ऐसे शब्दों के प्रयोग से कोई त्रुटि नहीं आई है प्रत्युत् स्वाभाविकता में वृद्धि ही हुई है। इन शब्दों में एक विशेष अभिव्यंजना-शक्ति है जिसे तत्सम शब्दों में पाना थोड़ा कठिन हो जाता है।

(१०) नंददास की भाषा में एक और विशेषता है चित्र-शक्ति। वे जिस दृश्य का वर्णन करते हैं उसका चित्र आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। रास पंचाध्यायी के रास-वर्णन से इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं

(११) नंददास की भाषा में ध्वनि-व्यंजना भी मिलती है। शब्दों के उच्चारण मात्र से ही उन पंक्तियों में वर्णित ध्वनि भी सुनाई पड़ने लगती है। उदाहरण देखें:—

नूपुर कंकन किंकिनी कर तल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली॥

इन पंक्तियों के उच्चारण मात्र से नूपुर, कंकन, तथा मृदंग की ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है। इन पंक्तियों को चित्र-शक्ति के भी उदाहरण में ले सकते हैं।

(१२) अनुप्रास तो नंददास की प्रायः प्रत्येक पंक्ति में है। उसे ढूँढने में कोई प्रयास नहीं करना पड़ेगा।

(१३) रास पंचाध्यायी तथा भँवर-गीत की भाषा अत्यन्त प्रौढ़ तथा परिमार्जित है। परन्तु नंददास के अन्य ग्रन्थों की भाषा उतनी प्रौढ़ तथा परिष्कृत नहीं है। विशेषतः चौपाई वाले ग्रन्थों की भाषा बहुत कुछ लद्धड़ हो गई है। किन्तु सब मिला कर नंददास की भाषा में कलात्मकता तथा प्रांजलता है।

(१४) अष्ट छाप के कवियों में नन्ददास ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने विभिन्न शैलियों में कविता रची है। सूरदास ने पद के अतिरिक्त अन्य शैलियों में बहुत कम लिखा है। किन्तु नन्ददास ने तो अनेक शैलियों में लिखा है। रास पंचाध्यायी की रचना उन्होंने आदि से अन्त तक रोला छन्द में की है। नन्ददास का रोला छन्द मँजा हुआ है। वस्तुतः रोला में जो सफलता उन्हें मिली हैं वह किसी भी अन्य कवि को नहीं मिली।

(१५) छन्द की दृष्टि से नन्ददास ने भवँर गीत में और भी कला का प्रदर्शन किया है। भवँर गीत की रचना एक मिश्रित छन्द में की गई है। इसमें पहले रोला छन्द के दो चरण हैं फिर एक दोहा है, और अन्त में दस मात्राओं का एक चरण जोड़ दिया गया है। यह नवीन छन्द योजना कथोपकथन की शैली के अधिक उपयुक्त है।

(१६) नन्ददास ने पदों में भी रचना की है और चौपाई में भी; परन्तु वे अपने रोला के लिए ही अधिक प्रसिद्ध हैं। उनकी अभिव्यंजना शक्ति अतीव प्रबल है। वे चाहे जिस प्रकार से कहें, कहीं भी स्वाभाविकता का अभाव नहीं रहता। चाहे अलंकारों से बोझिल शैली में लिखें, चाहे सीधे सादे ढंग से, उनमें सर्वत्र सुबोधता है और है अभिव्यंजना की परिपूर्णता।

नन्ददास का कला-पक्ष बहुत उत्तम है इसमें कोई भी सन्देह नहीं हो सकता। हिन्दी के बहुत कम ही कवि कला-पक्ष में नन्ददास के समकक्ष होंगे।

—:०:—

मीराँ बाई

जीवन-वृत्त

जिस राजस्थान की बालुका-राशि को वहां की वीरांगनाओं ने अपने रक्त से अभिसिंचित किया उसी राजस्थान में प्रेम और भक्ति की पवित्र मंदाकिनी की धारा बहाने वाली राजस्थान कोकिला मीराँ बाई का स्थान हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। माधुर्य भक्ति की जो धारा गिरिधर की रंगराती' मींरा ने बहाई उसका कल कल निनाद अभी कानों में गूँज रहा है।

मीराँ बाई का जन्म राठौर वंश में हुआ था। वे जोधपुर के संस्थापक राव जोधा जी के पुत्र दूदा जी की पौत्री और रत्न सिंह की पुत्री थीं। इन के जन्म-संवत के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। कुछ विद्वान् संवत १५७३ मानते हैं. कुछ लोग संवत १५६० के आस पास मानते हैं, परन्तु ग्वालियर राज्य के राज ज्योतिषी पं० बनवारी लाल ने लिखा है, "मीराँ बाई का जन्म वि० सं० १५५७ वैशाख शुक्ल ३, प्रातः काल हुआ।" यह तिथि अधिक विश्वसनीय जान पड़ती है। मेड़ता के कुड़की गांव में उनका जन्म हुआ था।

बचपन में ही गिरधर लाल मीराँ के इष्टदेव हो गये। किम्वदन्ती है कि जब मीराँ बच्ची थीं उसी समय एक साधु के पास कृष्ण की मूर्त्ति देख कर ये मचल गईं। साधु ने वह मूर्त्ति मीराँ को नहीं दी। रात को साधु को स्वप्न हुआ कि मीराँ को वह मूर्त्ति दे दे। तबसे गिरिधर की इस मूर्त्ति को मीराँ अपने पास रखने लगीं। एक बार पड़ोस में एक लड़की का विवाह था। बर को देखकर मीराँ ने अपनी मां से पूछा—मेरा दुल्हा कहां है? मां ने विनोद वश उस मूर्त्ति की ओर संकेत कर दिया। तब से मीराँ उसी मूर्त्ति को अपना पति मानने लगीं। ये कहानियां झूठी हों या सच्ची किन्तु इतना अवश्य सत्य है कि बचपन में ही मीराँ को गिरधर लाल की लगन लग गई थी।

मीराँ के बचपन में ही उनकी माता का देहान्त हो गया। उनके पितामह दूदा जी ने मीराँ को कुड़की से मेड़ता बुला लिया और उन्हीं की देख-रेख में मीराँ का लालन-पालन हुआ। दूदा जी परम वैष्णव थे अत. मीराँ पर भी वैष्णव मत का प्रभाव पड़ना अनिवार्य ही था। उन्हीं के सम्पर्क के कारण मीराँ में भक्ति-भावना का बीजारोपण हुआ और यही बीज उनके भावी जीवन में पल्लवित तथा पुष्पित हुआ।

संवत् १५७२ में दूदा जी का देहान्त हुआ और उनके पुत्र बीरमदेव जी सिंहासनारूढ़ हुए। सं० १५७३ में १८ वर्ष की आयु में मीराँ का विवाह उन्होंने मेवाड़ के महाराणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से कर दिया। श्रीमती पद्मावती 'शबनम' ने इस विषय में शंका प्रकट की है। उनका कहना है, 'इतिहास की परम्परा से भोजराज मीराँ के फुफेरे भाई सिद्ध होते हैं। अतः ऐसी अवस्था में भी भोजराज से मीराँ का विवाह असंगत ही प्रतीत होता है।" १ उनका अनुमान है कि मीराँ का विवाह 'कुम्भा' से हुआ था। किन्तु अधिक विद्वान् भोजराज को ही मीराँ का पति मानते हैं। अस्तु, थोड़े ही समय में भोजराज की मृत्यु हो गई। पाँच वर्ष के पश्चात् मीराँ के पिता भी एक युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए। इन बातों से मीराँ के हृदय पर गहरा आघात पहुंचा और उन्होंने पूर्ण रूप से विरक्त होकर 'गिरिधर नागर' में अपना मन लगा दिया। थोड़े दिनों में उनके ससुर राणा सांगा की भी मृत्यु हो गई।

राणा सांगा के पश्चात् भोजराज के छोटे भाई सिंहासनारूढ़ हुए। मीराँ अपने अधीर मन को शान्त करने के लिए भगवद् भजन में लीन हुईं। पैरों में घुंघरु बाँधकर ये अपने आराध्य देव के सामने नाचने लगीं, और साधुओं के संग में कीर्त्तन करने लगीं। राणा को ये बातें राजवंश की मर्यादा के विरुद्ध जान पड़ीं। उन्होंने मीराँ को बहुत समझाया परन्तु वे अपने पथ से नहीं डिगीं। थोड़े दिनों में राणा रत्न सिंह की भी मृत्यु हो गई और उनके छोटे भाई विक्रमाजीत सिंह महाराणा हुए। उन्होंने मीराँ पर अनेक प्रकार के अत्याचार किये। 'राज्यासन के इस प्रकार शून्य और अलंकृत होने की संधि में—राज्य का उत्थान और पतन होने के परिवर्त्तन काल में—मीराँ की भक्ति का स्रोत वेगवान नदी के समान तीव्र वेग से बहने लगा था। साधु-सन्दर्शन, कृष्ण कीर्त्तन के आध्यात्मिक प्रवाह में बह कर वे संसार की असारता का स्वप्न देखा करती थीं। इनके भजनों की लहर में भक्ति की ऐसी धाराएँ उठीं कि उनसे न जाने कितनी पापात्माएँ पुण्य के उज्ज्वल रंग में रँग गईं। साधु-सन्तों का समागम उस समय चित्तौड़ के महाराणा विक्रमादित्य जी सहन नहीं कर सके, उन्होंने मीराँ को समझाने का बहुत प्रयत्न किया। अनेक स्त्रियों को भेजा, स्वयं अपनी बहन ऊदा बाई को भी समीप रखा, पर कुछ फल नहीं हुआ। कहते हैं, क्रोध में आकर राणा ने विष भेजा, यह कह कर कि यह भगवान का चरणामृत है। मीराँ बाई ने उसे सहर्ष पान कर लिया। उनके लिए वह

१ मीराँ—एक अध्ययन।

अमृत हो गया। कुछ लोगों का मत है कि इसी विष से मीराँ का अन्त हुआ पर मीराँ ने इस घटना का निर्देश किया है।" १

तब महाराणा ने मीराँ के लिए साँप भेजा जिसे तुलसी की माला समझ कर उन्होंने गले में पहन लिया। उन्हें सूली पर सुलाया गया और मीराँ उसे अपने प्रिय की सेज समझ कर उसपर सो गईं। मीराँ ने अपने पदों में इन घटनाओं का उल्लेख किया है। कहा जाता है कि उन्होंने इन अत्याचारों से तंग आकर गोस्वामी तुलसी दास को इन बातों की सूचना दी थी और गोस्वामी जी ने निम्न लिखित पद उत्तर में लिख भेजा था :—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।

किन्तु गोस्वामी जी के प्रसिद्ध होने के पूर्व ही मीराँ की मृत्यु हो गई थी, अतः यह किम्वदन्ती भ्रम पूर्ण है।

श्रीमती पद्मावती 'शबनम' ने राणा के अत्याचारों के कारण का विश्लेषण करते समय एक गहरे रहस्य की ओर संकेत किया है। किन्तु प्रमाण के अभाव में इस प्रकार का कोई भी कथन उचित नहीं है। अस्तु! जब बीरमदेव ने सुना कि मीराँ को कष्ट दिया जा रहा है तो उन्होंने उन्हें चित्तौड़ से बुला लिया। थोड़े दिनों में मेड़ता भी उनके सम्बधियों के हाथ से निकल गया, तब वे वृन्दावन चली गईं। वहां से वे द्वारका गईं और रणछोड़ जी की भक्ति में लीन हुईं। कुछ वर्षों में मेवाड़ और मेड़ते की दशा में सुधार हुआ और तत्कालीन राणा ने कुछ ब्राह्मणों को मीराँ को बुला लाने के लिए द्वारका भेजा। कहा जाता है कि वहां ब्राह्मणों को सत्याग्रह का आश्रय लेना पड़ा तब मीराँ ने वापस आना स्वीकार किया। मीराँ भगवान की आज्ञा लेने मन्दिर में गईं और फिर लौटीं नहीं, वहीं मूर्ति में अन्तर्हित हो गईं। यह घटना संवत १६३० के आसपास की बताई जाती है। कुछ विद्वान मीराँ की मृत्यु संवत १६०३ वि० में बताते हैं।

मीराँ के गुरु कौन थे? कहा जाता है कि वृन्दावन में मीराँ ने चैतन्य सम्प्रदाय के जीव स्वामी से भेंट की थी। कुछ लोगों का अनुमान है कि उन्होंने जीव स्वामी का शिष्यत्व स्वीकार किया था। दूसरे लोगों ने रैदास को मीराँ का गुरु माना है। स्वयं मीराँ ने अपने गुरु का नाम रैदास बताया है:—

(क) मेरो मन लागो हरि सूँ, अब न रहूँगी अटकी
गुरु मिल्या रैदास जी, दीन्हीं ग्यान की गुटकी।
(ख) मीराँ ने गोविन्द मिलाया जी, गुरु मिलिया रैदास।

इन पदों से स्पष्ट हो जाता है कि मीराँ के गुरु रैदास थे। परन्तु ये रैदास प्रसिद्ध सन्त रविदास नहीं हो सकते। सन्त रविदास कबीर के गुरुभाई थे और मीराँ के लगभग सौ वर्ष पहले हो चुके थे। वे जाति के चमार थे। सम्भव है कि संत रविदास के मत में दीक्षित हुआ यह रैदास कोई अन्य व्यक्ति हो जिसका शिष्यत्व मीराँ ने स्वीकार किया।

---

१ आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा।

अब 'मीराँ'नाम पर थोड़ा विचार करें। डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के विचार से 'मीराँ' शब्द ईश्वर के अर्थ में है और 'बाई' का अर्थ है पत्नी। अतः 'मीराँ बाई' का अर्थ हुआ ईश्वर की पत्नी। पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने मीराँ की व्युत्पत्ति 'मीर' से की है जिसका अर्थ सागर होता है। वास्तव में मीराँ फारसी शब्द है जिसका अर्थ मुखिया होता है। बाई का अर्थ राजस्थान में पुत्री होता है 'पत्नी' नहीं। इस तरह मीराँ बाई उपनाम नहीं बरन् वास्तविक नाम है। डा० श्री कृष्ण लाल के अनुसार "राजपूतों में 'मेरा' नाम असाधारण नहीं था। यदि बालक का नाम 'मेरा' रखा जा सकता है तो कन्याओं का 'मीराँ'अथवा 'माराँ' नाम असाधारण नहीं कहा जा सकता। अस्तु, मीराँ बाई का यह सन्तों द्वारा दिया गया उपनाम मात्र नहीं जान पड़ता, बरन्, यह उनका प्रकृत नाम था।"१

रचनाएं

मीराँ की प्रारम्भिक शिक्षा मेड़ते में हुई थी। सम्भवतः वहां उन्हें संगीत तथा काव्य कला की भी शिक्षा दी गई थी। मेवाड़ में भी अनुकूल वातावरण मिला और उन्हें अपनी शक्ति का विकास करने का अवसर दिया गया। कुवँर भोजराज ने उनके उत्साह में किसी प्रकार की बाधा नहीं दी। विधवा होने पर भी उन्होंने काव्य और संगीत का सहारा लेकर अपने दुःख पूर्ण दिन व्यतीत किये।

यह कहना कठिन है कि मीराँ के कौन कौन ग्रन्थ प्रमाणिक हैं और कौन अप्रामाणिक। अनेक परवर्ती कवियों ने अपने पदों में मीराँ का नाम जोड़ कर मीराँ के भी ग्रन्थों की प्रामाणिकता में सन्देह उत्पन्न कर दिया है। 'मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर' जोड़ देने से ही कोई पद मीराँ का नहीं हो सकता।

मीराँ की निम्नलिखित रचनाएँ बताई जाती हैं:—

(१) नरसी जी रो माहेरो--इस में गुजरात के प्रसिद्ध भक्त नरसी मेहता के माहेरा या भात भरने की कथा है। इस ग्रन्थ का कुछ ही अंश प्राप्य है, परन्तु इसे मीराँ की रचना मानने में कठिनाई है।

(२) गीत गोविन्द की टीका--इस ग्रन्थ में जयदेव के गीत गोविन्द की टीका है। परन्तु इस ग्रन्थ का प्रमाण नहीं मिला है।

(३) राग गोविन्द।

(४) सोरठ के पद---इस ग्रन्थ का भी प्रमाण प्राप्त नहीं हैं।

(५) मीराँ बाई का मलार।

(६) गर्वा गीत--ये गीत गुजरात में रास मंडली के गीतों के समान गाये जाते हैं।

(७) फुटकर पद---इन्हीं पदों पर मीराँ बाई का यश निर्भर करता है। ये ही मीराँ की सब से अधिक प्रामाणिक रचनाएँ हैं। इनकी संख्या दो ढाई सौ के लगभग है। कुछ लोग इनकी संख्यां कुछ अधिक बताते हैं।

---

१ मीराँ बाई—डा० श्रीकृष्ण लाल।

मीराँ बाई के गुजराती पदों की संख्या दो सौ से ऊपर हैं और उनका संग्रह "बृहद् काव्य दोहन" में हुआ है।

मीराँ ने अधिक पदों की रचना नहीं की। हिन्दी और गुजराती के पदों को मिलाया जाय तो उनकी संख्या चार सौ से कुछ ऊपर जायगी। तथा कथित सभी पद मीराँ के ही नहीं हैं और उन के प्रामाणिक और अप्रामाणिक पदों को पृथक करना कठिन कार्य है। माधुर्य भाव की भक्ति के लिए मीराँ के पद उसी प्रकार प्रसिद्ध हो गये जिस प्रकार निर्गुण भाव के लिए कबीर के पद। इसी लिए मिलावट सम्भव हो सकी। जिस प्रकार 'कहे कबीर सुनो भाई सन्तों' मिला कर कोई भी पद कबीर का कहा जाने लगा उसी प्रकार "मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर" मिला कर कोई भी लीला पद मीराँ का पद हो गया।

काव्य-विषय

मीराँ भक्त कवयित्री थीं। भक्ति उनके लिए साध्य थी। भगवान् के प्रति अपना प्रगाढ़ प्रेम प्रदर्शित करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। मीराँ के आविर्भाव के कुछ पूर्व से ही भक्ति को काव्य का विषय बनाने की परम्परा चली आ रही थी। इस परम्परा में अनेक समर्थ कवि हुए जिन्होंने अपने हृदय की स्निग्धता तथा काव्य-प्रतिभा के द्वारा हिन्दी साहित्य के इतिहास में अमर स्थान बना लिया है सभी का काव्य-विषय एक ही रहा है— भक्ति, परन्तु सभी ने अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से की। अभिरुचि एवं प्रतिभा के वैभिन्न्य के कारण अनेक प्रणालियां हुईं। किसी ने साखी, सबद, रमैनी की 'अटपटी बानी' में अपनी भक्ति-भावना प्रदर्शित की; किसी ने प्रबन्ध काव्य का उपहार अपने आराध्य देव के चरणों पर अर्पित किया तो किसी ने मुक्तक पदों की पुष्पांजलि से अपने इष्ट देव का समाराधन किया। सभी के विषय में एकता रहने पर भी शैली की भिन्नता के कारण एक-रसता नहीं आने पाई प्रत्युत् सजीवता तथा व्यापकता की ही प्रधानता रही। मीराँ ने अपनी वैयक्तिक भावना के अनुकूल अपने आराध्य के प्रति भक्ति प्रकट की। इनकी अपनी विशेष प्रणाली है। काव्य-विषय की दृष्टि से मीराँ के काव्य के ६ विभाग कर सकते हैं: -

(१) स्तुति प्रार्थना (२) प्रेम एवं विरह, (३) संत मत से प्रभावित पद, (४) रहस्य वादी पद, (५) वैयक्तिक संकेत वाले पद, और (६) पौराणिक कथाओं से सम्बद्ध पद।

(१) स्तुति प्रार्थना—स्तुति प्रार्थना से सम्बन्ध रखने वाले पद संख्या में अधिक नहीं हैं। ऐसे पद मीराँ की प्रतिनिधि रचना के अन्तर्गत शायद ही आवें। स्तुति में दैन्य भाव की अत्यन्त आवश्यकता होती है। दैन्य भाव के अभाव में प्रार्थना ही क्या ? किन्तु मीराँ के इस कोटि के पदों में दैन्य भाव का सर्वथा अभाव रहा है यद्यपि इन पदों में ईश्वर की सर्व शक्तिमत्ता तथा अपार करुणा का यथेष्ट वर्णन है। सम्भवतः ऐसे पदों की रचना किसी विशेष परिस्थिति के कारण हुई है; अतएव इन में सच्ची भक्ति भावना की वास्तविक

गहराई के दर्शन नहीं होते। सूर और तुलसी के ऐसे पदों में दैन्य भाव पूर्ण मात्रा में प्रकट होता है और उनके पीछे उन भक्तों के हृदय की पूरी झलक मिलती है परन्तु मीराँ के ऐसे पदों में दीनता का अभाव है; केवल सख्य भाव ही मिलता है। इस कोटि के पदों के कुछ उदाहरण देखें जायः —

(क) मन रे परसि हरि के चरण।
सुभग सीतल कवँल कोंमल त्रिविध ज्वाला हरण॥
जिण चरण प्रहलाद परसे; इन्द्र पदवी धरण।
जिण चरण ध्रुव अटल कीने राखि अपनी सरण॥

(ख) हरि मोरे जीवन प्रान अधार।
और आसिरो नाहीं तुम बिनु तीनों लोक मँझार।

(ग) हरि तुम हरो जन की भीर।
द्रौपती की लाज राखी, तुरत बाढ़्यौ चीर।
भक्त कारण रूप नरहरि धर्यौ आप सरीर॥
हिरणाकुस मारि लीन्ह, धर्यौ नाहिंन धीर॥

(२) प्रेम और विरहः — मीराँ के समस्त काव्य में प्रेम और विरह के पद संख्या में सर्वाधिक हैं। इन्हीं पदों में मीराँ की आत्मा बसती है। भावाभिव्यक्ति, काव्य-कला, अनुभूति की गम्भीरता तथा वेदना की तीव्रता की दृष्टि से इस कोटि के पद सर्वश्रेष्ठ हैं। मीराँ अपने प्रियतम के विरह में जल विहीन मीन के समान तड़प रही हैं। उनके प्रेम में वेदना का सन्निवेश है। मीराँ की विरह-वेदना उस सीमा तक पहुँच चुकी है जिसके आगे सम्भवतः कुछ नहीं होता। उनकी एक-एक पंक्ति, एक एक शब्द से वेदना की ध्वनि निकलती है। पीड़ा ही वह सम्बल है जिसका आधार ग्रहण कर मीराँ अपने काव्य पथ पर अग्रसर होती हैं। उनका विरह वर्णन अत्यधिक होने पर भी अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है, और इसीलिए उसका इतना गहरा प्रभाव पड़ता है। उनकी उक्तियाँ ऊहात्मक नहीं हैं, प्रत्युत् उनमें तन्मयता तथा गम्भीरता का पूर्ण समावेश है। सीधे सादे शब्दों में मीराँ के विरह की अभिव्यक्ति हुई है; इसलिए मानव मात्र के हृदय के अन्तरतम प्रदेश को स्पर्श करने की शक्ति उनमें आ गई है। मर्म स्पर्शिता का दूसरा कारण सच्चीवेदना की सच्ची अनुभूति है! मीराँ के पदों में संयोग वर्णन बहुत कम ही स्थलों पर दृष्टि-गोचर होता है; उनका सम्पूर्ण काव्य विरह-वर्णन से ही भरा पड़ा है।

मीराँ की कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने वेदना का चित्र उपस्थित कर दिया है। विरह का वर्णन अनेक कवियों ने किया है परन्तु मीरां के विरह में जो संवेदना और हार्दिक आवेग प्राप्य है, वह अन्यत्र नहीं। इस का कारण यही जान पड़ता है कि मीराँ ने जीवन भर पीड़ा का अनुभव किया और वही पीड़ा उनकी कविता में साकार हो गई है। अतः उनकी कविता पढ़ते समय पाठक के हृदय के तार एकबारगी झंकृत हो उठते हैं। यही कारण है कि मीराँ की वेदना-पूर्ण कविता में इतनी प्रेषणीयता है।

विरह सम्बन्धी कुछ के पदों उदाहरण दिये जाते हैं:—

(क) पीया बिना रह्यौई न जाइ।
तन मन मेरो पिया पर वारूं बार बार बलि जाइ॥
निसि दिन जोऊँ बाट पिया की, कबरे मिलोगे आइ।
मीरॉं के प्रभु आस तुम्हारी, लीज्यौ कंठ लगाइ॥

(ख) हेरी मैं तो दरद दिवाणी होई दरद न जाणै देशे कोई।
घायल की गति घायल जानै कीं जिन लाई होई॥

(ग) मैं विरहिण बैठी जागूं जगत सब सोवै री आली।
विरहिण बैठी रंग महल में, मोतियन की लड़ पोवै॥
इक विरहिण हम ऐसी देखी, अंसुवन की माला पोवै।
तारा गिण गिण रैन बिहाणी, सुख की घड़ी कब आवै।
मीरॉं के प्रभु गिरिधर नागर, मिल कर बिछुड़ न जावै॥

(३) संत मत से प्रभावित पद:—मीरॉं के काव्य में संत मत से प्रभावित पदों की संख्या पर्याप्त है। इन के गुरु रैदास ज्ञानाश्रयी संत थे, अतः मीरॉं की भक्ति-पद्धति पर अपने गुरु का प्रभाव पड़ना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य था। मीरॉं की काव्य साधना के सम्भवतः ये प्रारम्भिक पद थे जिन में संत साधना दृष्टिगोचर होती है। इन पदों में काव्यत्व का अभाव है; मत प्रचार एवं उपदेश का ही प्राधान्य है। इन पदों पर सगुण भक्ति का कोई भी प्रभाव नहीं है, शत प्रति शत कबीर आदि निर्गुण मार्गी सन्तों का ही प्रभाव है। ऐसे पदों में गुरु की महिमा गायी गई है तथा अदृश्य एवं अलक्ष्य पिया की सेज की चर्चा की गई है। मीरॉं के अन्य पदों में उनके आराध्य स्पष्ट रूप से गिरिधर नागर ही हैं; किन्तु सन्त मत से प्रभावित पदों में गिरिधर नागर के स्थान पर निर्गुण ब्रह्म हैं। अनेक पदों में ज्ञान और योग की बातें हुई हैं। इस कोटि के पदों के कुछ उदाहरण देखें:—

(क) जिनके पिया परदेस बसत हैं लिखि लिखि भेजैं पाती।
मेरो पिया मेरे हीय बसत हैं न कहुँ आती जाती॥
सुरत निरत का दिवला सँजो ले मनसा की कर ले बाती।

(ख) नैनन बनज बनाऊँ री जो मैं साहिब पाऊँ।
इन नैनन में साहब बसता, डरती पलक न नाऊँ री॥
त्रिकुटी महल में बना झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।
मीरॉं के प्रभु गिरिधर नागर, बार बार बलि जाऊँ री॥

(ग) मान अपमान दोऊ धर पटके, निकसी हूँ ग्यान गली।
ऊँची अटरिया लाल किवँड़िया, निरगुण सेज बिछी॥
पँचरंगी झालर सुभ सोहै, फूलन फूल कली।
बाजू बंद कठूला सोहै, सिंदूर मांग भरी॥

सुमिरन थाल हाथ में लीन्हा, सोभा अधिक खरी।
सेज सुखमना मीराँ सोहै, सुभ है आज घरी।
तुम जाओं राणा घर अपने, मेरी तेरी नाहिं सरी॥

(४) रहस्यवादी पदः—मीराँ बाई ने सन्त मत से प्रभावित होकर अनेक पदों की रचना की जिनमें ब्रह्म की अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है। ऐसे अनेक पदों में रहस्यवाद की अच्छी झलक मिल जाती है। मीराँ की उपासना माधुर्य भाव की थी और रहस्यवादी सूफियों की भी उपासना माधुर्य भाव की ही है। सूफी रहस्यवादी भी ब्रह्म और जीव के प्रणय का अनुभव करते हैं। वे ब्रह्म के साथ जीव के मिलन और विरह का वर्णन करते हैं जिसमें मूर्च्छा और उन्माद की अवस्थाओं का सन्निवेश रहता है। मीराँ की भक्ति-पद्धति पर सूफियों का भी प्रभाव पड़ा है। किन्तु अन्य भक्तों के रहस्यवाद और मीराँ के रहस्य-वाद में अन्तर है। अन्य भक्त पुरुष थे और उन्हें ब्रह्म-पुरुष के समक्ष अपने को नारी मानना पड़ा जो उतना स्वाभाविक नहीं। मीराँ स्वयं नारी थीं, उन्हें अपने में नारी का आरोप नहीं करना पड़ा वरन् उनमें नारी के हृदय में उठने वाली भावनाएँ प्रकृति के ही द्वारा दी हुई थीं। इस अर्थ में सूफियों का रहस्यवाद अधिक स्वाभाविक है। सूफी रहस्यवादी ब्रह्म को नारी और जीव को पुरुष रूप में देखते हैं। अतः उन्हें अपने को नारी नहीं मानना पड़ता प्रत्युत् अपने को पुरुष ही मान कर ब्रह्म-नारी के प्रति अपनी विरह व्यथा प्रकट करनी पड़ती है। मीराँ ने अपने को अपने गिरिधर नागर की दासी मान लिया, फलस्वरूप उन्होंने सच्चे एवं स्वाभाविक प्रणय-भाव की अभिव्यंजना की। अन्य रहस्य-वादी भक्तों की अपेक्षा मीराँ के रहस्यवाद में, इसीलिए, अधिक स्वाभाविकता तथा मर्म-स्पर्शिता विद्यमान है। एक उदाहरण देखिए :—

मैं गिरिधर की रँगराती।
पँच रँग चोला पहिर सखी मैं झिरमिट खेलन जाती।
ओहि झिरमिट माँ मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती॥

(५) वैयक्तिक संकेत वाले पद :—मीराँ के काव्य में उनके वैयक्तिक संकेत वाले पदों की संख्या बहुत बड़ी है। ये ही पद उनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में अन्तः-प्रमाण का कार्य सम्पन्न करते हैं क्योंकि ये उनके जीवन में घटने वाली अनेक घटनाओं की ओर स्पष्ट शब्दों में संकेत करते हैं। अनेक पदों में मीराँ और उनकी ननद ऊदा बाई के बीच हुए सम्भाषण का उल्लेख है; मीराँ और महाराणा के वार्तालाप का भी उल्लेख अनेक पदों में मिलता है। कुछ पदों में विष का प्याला तथा सांप का पिटारा भेजे जाने वाली घटनाओं का स्पष्ट उल्लेख है। मीराँ के काव्य तथा भक्ति-भाव को स्पष्ट करने के लिए इन पदों का जो कुछ मूल्य हो परन्तु उनके जीवन तथा संघर्षों पर प्रकाश डालने में इनका मूल्य निर्विवाद है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं. सर्प भेजे जाने की घटना व्यक्त करने वाले निम्न-लिखित पद हैं :—

(क) पेटिया वासक भेजिया जी यो छै मोती डाँरो हार।
नाग गले में पहिरिया, म्हाँरे महला भयो उजार॥

(ख) डबिया में भेज्या भुजंगम, सालिगराम करि जाणा।

(ग) साँप पिटारो राणा जी भेज्यो, द्यो मेड़तणी गल डार।
हँस हँस मीराँ कंठ लगायो, यो म्हाँरे नौसर हार ॥

(घ) साँप पिटारा राणा भेज्यो, मीराँ हाथ दियो जाय।
न्हाय धोय जब देखण लागी, सालिगराम गई पाय ॥

विष का प्याला भेजे जाने वाली घटना का उल्लेख नीचे लिखे पदों में है :—

(क) विष का प्याला राणा जी भेज्या, पीवत मीराँ हाँसी रे।

(ख) विष का प्याला राणा जी भेज्या, अमृत का आरोजी रे।

'सूल-सेज' वाली घटना को व्यक्त करने वाले पद निम्न-लिखित हैं :—

(क) सूल सेज राणा ने भेजी दीजो मीराँ सुलाय।
साँझ भई मीराँ सोवण लागी, मानो फूल विछाय ॥

(ख) राणो जी मो पर कोप्यो रे मारूँ एकज सेल।
मार्‌याँ पिराछित लागसी, म्हाँ ने दीजो पीहर मेल ॥

(६) पौराणिक कथाओं से सम्बद्ध पद :—मीराँ ने अपने काव्य में पौराणिक कथाओं की ओर भी संकेत किया है। पौराणिक भक्तों से उन्होंने प्रेरणा ग्रहण की है और कई पदों में उन्होंने उनसे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का उल्लेख किया है। अन्य भक्तों के समान मीराँ को भी पौराणिक कथाओं में विश्वास था। कुछ उदाहरण देखें :—

(क) अजामील अपराधी तारे, तारे नीच सदान।
जल डूबत गजराज उबारे, गणिका चढ़ी विमान ॥
और अधम तारे बहुतेरे भाखत संत सुजान।
कुबजा नीच भीलनी तारी, जानै सकल जहान ॥

(ख) जिण चरण प्रह्लाद परसे, इन्द्र पदवी धरण।
जिण चरण ध्रुव अटल कीने राखि अपनी सरण ॥

(ग) द्रौपदी की लाज राखी, तुरत बाढ़ी चीर।
भक्त कारण रूप नरहरि, धर्‌यौ आप सरीर ॥

भक्ति-भावना

[मीराँ का स्थान भक्ति के क्षेत्र में अत्यन्त उच्च है। जिस युग में उनका प्रादुर्भाव हुआ था, वह युग भारत में काव्य और भक्ति दोनों के लिए अत्यन्त विख्यात रहा है। वास्तव में वह युग भक्ति के लिए भारत का स्वर्ण-युग था और उस काल का समस्त साहित्य भी भक्ति की ही देन के रूप में था। उत्तर भारत में शंकराचार्य के अद्वैतवाद के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न रूपों में विवाद हो रहे थे। विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत तथा द्वैताद्वैत का पूर्ण प्रचार हो रहा था। दूसरी ओर नाथ-पंथी योगियों का बोलबाला था।

इस प्रकार समस्त भारत में भक्ति की लहर फैल गई थी। एक ओर सगुण भक्ति का प्रचार हो रहा था तो दूसरी ओर निर्गुण मार्गी भक्त अपने मत का प्रचार कर रहे थे। गोस्वामी तुलसीदास तथा सूरदास ने सगुण भक्ति-विषयक काव्य की रचना की तो कबीर आदि निर्गुण-पंथियों ने निराकार ब्रह्म की उपासना का प्रचार किया तथा योग के द्वारा अनहद नाद सुना।

इस प्रकार उस युग में भक्ति के तीन स्वरूप हो गये। प्रथम स्वरूप गोस्वामी तुलसीदास का दिया हुआ था जिसमें रामचन्द्र का चरित्र अत्यन्त मर्यादा-पूर्ण तथा महान् बनाया गया और उस चरित्र की उच्चता के कारण केवल दास्य भाव की ही भक्ति हो सकती थी। भक्ति का द्वितीय स्वरूप सूरदास का दिया हुआ था जिसमें श्री कृष्णचन्द्र के चरित्र की मर्यादा एक सीमा तक ही है और कृष्ण मानव के ही रूप में रहे, भगवान् के रूप में नहीं रखे गये। दास्य भाव के अतिरिक्त भी इनकी उपासना हो सकती थी। भक्ति का तृतीय स्वरूप कबीर दास का दिया हुआ था जिसमें भगवान् निर्गुण और निराकार माने गये और योग एवं साधना के द्वारा उनकी प्राप्ति हो सकती थी। कबीर के ब्रह्म अगोचर हैं।

मीराँ की भक्ति में हम इन तीनों स्वरूपों को समन्वित पाते हैं। वे अपने आराध्य देव के अधिक सन्निकट थीं, अतः उनकी भक्ति में एक प्रचंड आवेग है। अन्य भक्त गण में उतना आवेग पाना कठिन है क्योंकि इन लोगों ने बहुत कुछ कल्पना के सहारे अपने में भक्ति-भावना का सन्निवेश किया था जहां मीराँ ने व्यक्तिगत रूप से उस भावना का अनुभव किया था। मीराँ अपने प्रियतम गिरिधर नागर से मिलने के लिए हृदय से आतुर हैं। सम्पूर्ण उत्तरी भारत में भक्ति के जितने स्वरूप प्रचलित थे सभी का प्रतिनिधित्व मीराँ ने किया और सभी भावनाओं का समन्वय उन्होंने अपनी भक्ति में किया। उनके पदों की संख्या अधिक नहीं है इसलिए सभी भावनाओं के अधिक पद उनकी रचना में नहीं प्राप्त होते किन्तु यह तो निर्विवाद है कि सभी भावनाएँ उनकी भक्ति में विद्यमान हैं।

मीराँ के इष्ट देव गिरिधर नागर श्री कृष्ण चन्द्र हैं। परन्तु समय-समय पर इष्ट-देव के रूप में परिवर्त्तन होता रहा है। (प्रथम अवस्था में वे अपने गुरु सन्त रैदास तथा अन्य निर्गुणवादी सन्तों से प्रभावित होकर निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना करती हैं। इस दशा में मीराँ अपनी अन्तरात्मा में बसने वाले भगवान् की अनुभूति से पुलकित हो जाती हैं :—

जिनके पिया परदेश बसत हैं लिखि लिखि भेजैं पाती।
मेरे पिया मेरे हीय बसत हैं न कहुँ आती जाती।
सुरत निरत का दिवला सँजो ले मनसा की कर ले बाती॥

इस सम्बन्ध में श्री परशुराम चतुर्वेदी जी का मत उद्धृत करना समीचीन होगा। "इन रचनाओं द्वारा ये अपने इष्टदेव को पूर्ण ब्रह्म परमात्मा समझती हुई दीख पड़ती हैं।

इन पदों में उसे ये न केवल निर्गुण, निरंजन, अविनाशी आदि कह कर ही व्यक्त करती हैं, किन्तु उसके मिलने के लिए एक नितान्त भिन्न साधना-प्रणाली की ओर भी संकेत करती हैं, जिससे प्रकट होता है कि इन पर संत मत व निर्गुण पंथ का भी प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ चुका था। इनकी ऐसी रचनाएँ अभी तक अधिक संख्या में नहीं मिली हैं और बहुत से लेखक इनमें कुछ को कभी-कभी प्रक्षिप्त मानते हुए भी जान पड़ते हैं। तो भी, इस बात को स्वीकार कर लेना अनुचित नहीं कहा जा सकता कि मीराँ बाई का वातावरण सगुणोपासक भक्ति तथा निर्गुण-पंथी संतों, दोनों के ही प्रभावों से न्यूनाधिक प्रभावित था और उन दोनों प्रकार के साधकों के सत्संग का इन्हें सुअवसर मिल चुका था। फलतः इनके सरल व शुद्ध हृदय को उन दोनों प्रकार के साधनों ने ही अपने-अपने ढंग से गढ़ने के प्रयत्न किये थे और समय-समय पर इन्होंने उन दोनों ही प्रकार के भावों को अपनी रचनाओं द्वारा व्यक्त कर उनकी सचाई का परिचय दिया था। मीराँ बाई की उक्त दूसरे प्रकार की रचनाओं से प्रकट होता है कि इन्हें साहब रैदास जैसे संतो की भांति 'पिऊ' के रहस्य का पूरा परिचय उपलब्ध था और ये प्रायः उन्हीं शब्दों में इनकी ओर सदा संकेत भी किया करती थीं।"[१]

मीराँ ने अपने इष्ट देव का दूसरा रूप रखा है योगी का। स्पष्ट रूप से इसपर नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा है। उस युग में राजस्थान नाथ-सम्प्रदाय के योगियों का अड्डा बन रहा था। मीराँ मेवाड़ जाने के पूर्व इन योगियों से अत्यन्त प्रभावित थीं। सम्भवतः मीराँ के योगी का वेश गीता के योगेश्वर कृष्ण और नाथ सम्प्रदाय के योगी का मिश्रित रूप है। राजस्थानी भाषा के अनेक पदों में मीराँ ने अपने इस योगी इष्ट के प्रति भक्ति प्रदर्शित की है।

(क) तेरो मरम नहिं पायो रे जोगी।
आसण मांडि गुफा में बैठियो, ध्यान हरी को लगायो॥
गल बिच सेली हाथ हाजरियो, अंग भभूत रमायो।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, भाग लिखो सो ही पायो॥

(ख) जोगिया जी निसि दिन जोऊँ बाट।
पाँव न चालै पंथ दुहेली, आड़ा औघट घाट॥
नगर आय जोगी रम गया रे, मो मन प्रीत न पाइ।
मैं भोली भोलापन कीन्हौं, राख्यौ नहिं बिलगाइ॥

इस सम्बन्ध में श्रीमती पद्मावती 'शबनम का कथन है, "संत मत से प्रभावित, रैदास सन्त की शिष्या, आजीवन 'मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर' गा गा कर नाच उठने वाली मीराँ अपने 'साहिब' के अनुकूल ही 'खप्पर' 'सेली' 'नाद' आदि को अपना कर 'जोगण' बनने को आकुल व्याकुल हैं अतएव मीराँ की साधना शुद्ध सगुणोपासना की

१ मीराँ-स्मृति ग्रन्थ—संत मत और मीराँ।

परम्परा में तो कदापि नहीं आ सकती अपितु वह नाथ-परम्परा के ही अधिक निकट जान पड़ती प्रतीत होती है; तथापि पदों से व्यक्त होती विभिन्न भावनाओं के कारण मीराँ को किसी भी पंथ या सम्प्रदाय विशेष तक सीमित कर नहीं रखा जा सकता। मीराँ की स्वतंत्र आत्मा पंथ और सम्प्रदाय की सीमा से ऊपर उठ कर शुद्ध सत्य की खोज में अग्रसर दृष्टि-गोचर होती है।" १

मीराँ ने अपने गिरिधर नागर का सगुण रूप भी देखा है। उनके कृष्ण भागवत पुराण के कृष्ण हैं। सभी कृष्ण भक्तों ने कृष्ण का जो रूप ग्रहण किया, वही रूप मीराँ ने भी अंगीकृत किया। मीराँ अपने भगवान् कृष्ण के सौन्दर्य पर न्योछावर हैं, उनकी करुणा तथा भक्तवत्सलता पर नहीं। यों तो वैष्णव भक्त होने के कारण मीराँ को अपने इष्ट देव की दीन-बन्धुता पर विश्वास है ही और उन्होंने भनवान् के इस रूप का भी वर्णन किया ही है :—

हरि तुम हरहु जन की भीर।
द्रौपती की लाज राखी तुरत बढ़ायो चीर॥

किन्तु वास्तव में मीराँ भी कृष्ण के सौन्दर्य पर ही मुग्ध हैं। उनके सौन्दर्य-वर्णन में जो सजीवता है वह दूसरे कवियों के वर्णन में पाना कठिन है।

बसौ मेरे नैनन में नंदलाल।
मोहनी मूरत साँवली सूरत नैना बसे विसाल॥
अधर सुधा रस मुरली राजत उर बैजन्ती माल।
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित नूपुर सबद रसाल।
मीराँ प्रभु सन्तन सुखदाई भगत बछल गोपाल॥

मीराँ की भक्ति माधुर्य भाव की है। उन्होंने गिरिधर गोपाल श्री कृष्ण को पति रूप में स्वीकार किया है।

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥

कुछ लोगों का अनुमान है कि मीराँ की माधुर्य भक्ति पर चैतन्य का प्रभाव पड़ा था परन्तु वास्तव में अपनी व्यक्तिगत भावना के कारण ही उनकी यह भावना हुई।

मीराँ कृष्ण को अपने इसी जन्म का नहीं प्रत्युत् जन्म-जन्मान्तर का पति तथा साथी मानती हैं।

मीराँ के प्रभु कबर मिलोगे पूरब जनम का साथी।

इसलिए उस अपने जन्म जन्मान्तर के पति के सामने नाचने तथा उसकी सेज पर सोने में उन्हें कोई हिचक नहीं है।

श्री गिरिधर आगे नाचूँगी।
नाचि नाचि पिय रसिक रिझाऊँ प्रेमी जन कूँ जाचूँगी॥
पिय के पलंगा जा पौढ़ूँगी, मीराँ हरि रंग राचूँगी॥

---

१ मीराँ एक अध्ययन।

मीराँ अपने को गोपी मानकर श्री कृष्ण से प्रेम करती थीं। कहा जाता है कि वे अपने को ललिता नाम की गोपी का अवतार मानती थीं। कहीं कहीं उन्होंने अपने को 'गोकुल अहीरिणी' कहा है। कहीं कहीं मीराँ ने अपने को राधा मान लिया है और इस प्रकार उनका प्रेम स्वकीया का प्रेम हो जाता है।

आवत मोरी गलियन में गिरिधारी।
मैं तो छुप गई लाज की मारी॥
आवत देखी किसुन मुरारी, छिप गई राधा प्यारी।
मोर मुकुट मनोहर सोहैं नथनी की छवि न्यारी॥
ऊभी राधा प्यारी अरज करत है सुण जे किसन मुरारी।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, चरण कमल पर वारी॥

किन्तु कई स्थानों पर मीराँ ने अपने को परकीया नायिका मान कर अपनी भावनाओं को अभिव्यक्ति दी है :—

छाँड़ो लँगर मोरी बहियाँ गहो ना।
मैं तो नार पराये घर की, मेरे भरोसे गोपाल रहो ना॥

मीराँ अपने को कभी स्वकीया और कभी करकीया मानती थीं इसमें कुछ लोगों को असंगति जान पड़ती है। किन्तु मनोवैज्ञानिक कारण जान लेने पर इसमें असंगति का आभास नहीं मिलेगा। मीराँ अपने को स्वकीया मानकर ही भगवान् कृष्ण की भक्ति करती थीं, परन्तु समाज की दृष्टि में वे विवाहिता और विधवा थीं, इसलिए भगवान् के सामने खुलकर नाचने में उन्हें संकोच होता था; लोक-लज्जा का डर था। किन्तु धीरे धीरे उनका संकोच दूर होता गया और उनके आध्यात्मिक प्रेम की बात फैलती गई।

अब तो बात फैल गई जाने सब कोई।
संतन ढिग बैठि बैठि लोक लाज खोई॥

रस-निरूपण

रस की दृष्टि से मीराँ की कविता प्रधानतः शृंगार के अन्तर्गत है। शृंगार रस के दोनों पक्षों का समावेश इनकी कविता में है किन्तु संयोग शृंगार के चित्र अल्प संख्या में हैं। वियोग का ही प्राधान्य इनकी कविता में है। मीराँ का शृंगार आध्यात्मिक शृंगार है; उसमें वासना तथा शारीरिकता का सर्वथा अभाव है। इनके काव्य में आलम्बन सदा गिरिधर नागर भगवान् कृष्ण हैं; रति स्थायी भाव है। संचारी भावों का वर्णन कम हुआ है; अनुभावों का वर्णन विशेष हुआ है। इस प्रकार रति स्थायी भाव विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के द्वारा पुष्ट हो कर शृंगार रस में परिणत हो जाता है।

मीराँ के काव्य में विरह की व्याकुलता अत्यधिक मात्रा में है। उन्हें जान पड़ता है कि उनके प्रियतम ने उनकी सुधि भुला दी है और फलतः वे बेचैन हो जाती हैं।

(क) हेरी मैं तो दरद दिवाणी, मेरा दरद न जाणै कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, सोना किस विध होय॥
सुख सम्पति में सब मिलि आवै, दुख में बलम न कोय।
मीराँ के प्रभु पीर मिटैगो जब बैद सँवलिया होय॥

(ख) रैन अंधेरी विरह घेरी, तारा गिनत निसि जात।
लै कटारी कंठ चीरूँ करूँगी अपघात॥

मीराँ के पदों में कहीं कहीं संयोग का भी वर्णन है। उन्हें जान पड़ता है कि प्रियतम निकट आ गये हैं और सम्पूर्ण प्रकृति उस प्रियतम के आने का संदेश दे रही है। प्रकृति के सभी उपादान प्रिय के आगमन के कारण आनन्द मग्न हैं।

• सुनी हो हरि आवन की आवाज।
दादुर मोर पपीहा बोलै, कोइल मधुरै साज॥
उमग्यौ इन्दु चहूँ दिस बरसै दामिनि छोड़ै लाज।
धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलन के काज।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी बेगि मिलो महाराज॥

मीराँ का प्रेम आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक प्रेम में मिलन और विरह मानसिक ही हो सकते हैं, शारीरिक नहीं। विरह और मिलन केवल विश्वास ही है। कभी मन में मिलन का अनुभव होता है तो दूसरे क्षण विरह की व्याकुलता बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त मीराँ का जीवन दुःखमय रहा। उनके सम्पूर्ण जीवन में अनेक प्रकार के कष्ट आते रहे। अतएव उनके काव्य में भी वेदना का अक्षय्य भंडार मिलता है। जो सुख उन्हें अपने जीवन में नहीं प्राप्त हो सका वह अपने काव्य में वे पाना चाहती हैं। मानसिक संयोग का सुख थोड़ी देर के लिए मिलता भी है किन्तु कुछ ही क्षणों में विरह वेदना आ घेरती है। मीराँ के काव्य में हमें जो प्रसन्नता दिखाई देती है वह उनकी भक्ति के कारण और जो वेदना दृष्टि-गोचर होती है वह उनके जीवन से ही निकलती है।

भाषा-शैली

मीराँ बाई की भाषा और शैली के विषय में निम्न-लिखित तथ्य ध्यातव्य हैं।

(१) मीराँ बाई की कविता में अनेक भाषाओं का प्रयोग हुआ है। वे स्वयं राजस्थान की रहने वाली थीं और उनके जीवन का कुछ अंश व्रज में और शेष अंश द्वारका में व्यतीत हुआ था। अतः उन्होंने तीनों प्रदेशों की भाषाओं में रचना की। उनके जीवन का आरम्भिक काल राजस्थान में बीता था अतः उस काल की रचनाओं में अधिकांश राजस्थानी भाषा में ही लिखा गया। उनकी व्रज भाषा भी राजस्थानी से बहुत प्रभावित है; जैसे :—

तारा गिण गिण रैन बिहाणी सुख की घड़ी कब आवै।

(२) शुद्ध साहित्यिक ब्रज भाषा का भी प्रयोग मीराँ ने अपनी कविता में अनेक स्थानों पर किया है, ऐसी ब्रज भाषा जो परवर्त्ती कवियों के लिए आदर्श हो सकती है। निम्न-लिखित उदाहरण दिया जा सकता है :—

मन रे परसि हरि के चरण।
सुभग शीतल कवँल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरण।
जिण चरण प्रहलाद परसे, इन्द्र पदवी धरण।
जिण चरण ध्रुव अटल कीने राखि अपनी सरण॥

(३) अनेक पदों में मीराँ ने तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक किया है :—

अधर सुधा रस मुरली राजति, उर बैजन्ती माल।
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित, नूपुर सबद रसाल।
मीराँ प्रभु संतन सुखदाई भक्त बछल गोपाल॥

(४) यद्यपि राजस्थान के राजाओं ने मुगलों का गहरा विरोध किया था तथापि उनकी भाषा पर मुगलों की भाषा का प्रभाव पड़ चुका था। मीराँ के कुछ पदों पर यह प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टि-गत होता है; जैसे :—

मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर धणी मिलिया छै 'हजूर'।

ऐसे कितनें उदाहरण दिये जा सकते हैं जहां अरबी और फारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है। हां, यह कहा जा सकता है कि ऐसे शब्दों का बाहुल्य नहीं है।

(५) मीराँ के कुछ पद आधुनिक खड़ी बोली में भी पाये जाते हैं। जान पड़ता है कि ये पद प्रक्षिप्त हैं क्योंकि उस युग में खड़ी बोली का प्रचार इस सीमा तक नहीं था कि शुद्ध और परिष्कृत खड़ी बोली में मीराँ लिख सकतीं। खड़ी बोली कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

(क) आली साँवरे की दृष्टि, मानो प्रेम की कटारी है।
(ख) अच्छे मीठे चाख चाख, बेर लाई भीलणी।
ऐसी कहा अचार वती, रूप नहीं एक रती।
नीच कुल ओछी जात, अति ही कुचीलणी॥

(६) मीराँ के कुछ पदों पर पंजाबी भाषा का भी प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है; जैसे :—

(क) हो कॉनाँ किन गूँथी जुल्फाँ कारियाँ।
सुघर कला प्रवीन हाथ सूँ जसुमति जू ने संवारियाँ।
(ख) लागी सोही जाणै, कठण लगन दी पीर।
विपति पड्यों कोई निकट न आवै सुख से सब को सीर॥

(७) मीराँ के काव्य में प्रसाद और माधुर्य गुणों का समन्वय है और ओज का अभाव है। उन्होंने जिस विषय को अपनाया उसमें माधुर्य गुण ही उपयुक्त होता है। इसके उदाहरण ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं। सर्वत्र ही माधुर्य गुण विद्यमान है।

(८) मीराँ की भाषा में चित्रमयता भी अनेक स्थानों पर मिलती है। विशेषतः कृष्ण के सौन्दर्य-वर्णन में भाषा की चित्रमयता मुखर हो उठती है। नीचे का उदाहरण देखा जाय।

मोरन की चन्द्र कला सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल, तीन लोक मोहै।
कुंडल की अलक झलक, कपोलन पर छाई।
मनो मीन सरवर तजि, मकर मिलन आई

(९) मीराँ बाई के काव्य में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति तथा सांकेतिक लाक्षणिकता के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं।

(१०) मीराँ अपने आराध्य के प्रेम की साधना में मग्न थीं और अपनी भावना की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने गीति-शैली अपनायी। गीत में उनके हृदय की वेदना पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुई है। मीराँ की वेदना ही जैसे उन गीतों में साकार हो गई है। गीत की एक विशेषता यह भी है कि वह आत्मनिष्ठ होता है, वस्तुनिष्ठ नहीं। अतः हृदय की कसक और वेदना को अभिव्यक्त करने के लिए गीतों का ही माध्यम प्रायः अपनाया जाता है मीराँ ने भी अपने भावों की अभिव्यंजना के लिए गीति-पद्धति को ही अपनाया। इनके पदों की लोक-प्रियता का एक कारण उनकी गीतात्मकता भी है।

(११) मीराँ बाई ने अपने छन्दों में पिंगल शास्त्र के नियमों पर विशेष ध्यान नहीं दिया है, इसलिए कहीं-कहीं मात्रा की अव्यवस्था को संगीत के स्वर तथा लय ने बहुत कुछ दूर कर दिया है। मीराँ ने अनेक मात्रिक छन्दों का भी प्रयोग किया है।

(१२) मीराँ की कविता में काव्य-कला का आडम्बर नहीं है। उनकी कविता में जो कुछ है, वह स्वाभाविक है कृत्रिम नहीं। सहज नैसर्गिक रूप में उनकी भावना की अभिव्यक्ति होती चलती है, कहीं भी प्रयास का आभास नहीं मिलता। श्री कन्हैया लाल मुंशी का कथन है कि कला-विहीनता ही मीराँ की सबसे बड़ी कला है। मीराँ हिन्दी की कवयित्रियों में सर्वश्रेष्ठ हैं ही, कवियों में भी उनका स्थान अत्यन्त उच्च है।

"मीराँ बाई में एक साथ ही विद्यापति की मादकता, सूरदास की भक्ति और कबीर का रहस्यवाद है। मीराँ बाई हिन्दी की एक विलक्षण कवयित्री हैं। दरद दिवानी मीराँ की काकली हिन्दी काव्य के मधुवन को युगों तक गूँजित रखेगी।"[१]

—:०:—

१ स्वर्ण-मंजूषा : भूमिका।

रसखान

जीवन-वृत्त

हिन्दी में ऐसे अनेक कवि हो गये हैं जिनके उपनामों से ही लोग परिचित हैं, उनके वास्तविक नाम ज्ञात नहीं। रसखान भी उन्हीं कवियों में से हैं। 'शिव सिंह सरोज' में उन्हें सैयद इब्राहीम पिहाने वाले लिखा गया है। किन्तु यह विचारणीय है कि यदि रसखान पिहानी के सैयद इब्राहीम थे तो इनका सम्बन्ध दिल्ली से कैसे हुआ। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में ये दिल्ली के पठान बताये गये हैं। सम्भवतः रसखान उपनाम वाले दो कवि हो गये हैं; एक पिहानी वाले सैयद इब्राहीम और दूसरे गोसाईं विठ्ठल नाथ के शिष्य सुजान रसखान। सुजान रसखान ही कवि रूप में विशेष प्रसिद्ध हुए और इन्हें हीं हमलोग साधारणतया जानते हैं। स्वयं रसखान ने अपनी 'प्रेम वाटिका' में लिखा है:—

देखि गदर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा वंश की ठसक छाँड़ि रसखान ॥
प्रेम-निकेतन श्री बनहिँ आय गोवर्धन धाम।
लह्यौ सरन चित चाहि कै जुगल सरूप ललाम ॥

इन दोहों से संकेत होता है कि रसखान दिल्ली के निवासी पठान थे और इनका सम्बन्ध शाही खान्दान से था ये दिल्ली से उस समय हटे जब वहां 'माहबो' के लिए गदर हुआ और दिल्ली नगर 'मसान' हो गया। इन्होंने बादशाहवंश की 'ठसक' छोड़ दी और बृन्दाबन में आकर रहने लगे।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' के अनुसार रसखान गोसाईं विठ्ठल नाथ जी के शिष्य थे। विठ्ठल नाथ जी का स्वर्गवास संवत् १६४३ वि० में हुआ, अतः उस वर्ष के

पहले ये उनके शिष्य हो गये होंगे। अपनी प्रेम-वाटिका का निर्माण काल इन्होंने निम्न-लिखित दोहे में बतलाया है:—

१ ७ ६ १
विधु सागर रस इन्दु सुभ बरस सरस रसखानि,
प्रेम वाटिका रचि रुचिर, चिर हिय हरष बखानि ॥

'अंकानां वामतो गतिः' इस प्रकार संवत् १६७१ हमें प्राप्त होता है। अनुमानतः इनके जन्म तथा मरण के संम्वत् क्रमशः १६१५ तथा १६८५ हैं।

इनके प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में कई कहानियां प्रचलित हैं 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में रसखान की भगवद्भक्ति के कारण के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि ये एक वणिक् पुत्र पर आसक्त थे। कुछ वैष्णवों ने इन्हे श्री नाथ जी का चित्र दिखाया। उस चित्र में अंकित श्रीकृष्ण का सौन्दर्य देख कर ये मुग्ध हुए और वृन्दावन आकर गोसाईं विठ्ठलनाथ जी के शिष्य हो गये। निम्नलिखित दोहों में श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन मिलता है। सम्भव है, इन दोहों में उक्त घटना की ओर संकेत हो।

मोहन-छवि रसखान लखि, अब दृग अपने नाहिं।
ऐंचे आवत धनुष से, छूटे सर से जाहिं ॥
देख्यौ रूप अपार, मोहन सुन्दर स्याम को।
वह ब्रज राज कुमार, हिय जिय नैनन में बस्यौ ॥

रसखान के सम्बन्ध में एक दूसरी प्रेम कहानी भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि रसखान एक सुन्दर स्त्री पर आसक्त थे। वह स्त्री अपने सौन्दर्य के अभिमान में इनका अनादर किया करती थी। एक दिन वे फारसी में श्रीमद्भागवत पुराण का अनुवाद पढ़ रहे थे। गोपियों के अलौकिक प्रेम का वर्णन पढ़ कर इनके मन में आया कि क्यों नहीं उसी कृष्ण से प्रेम किया जाय जिस पर हजारों रूपवती गोपियाँ न्योछावर थीं। उनके मन में आन्दोलन हुआ; हृदय में कृष्ण की भक्ति का सागर उमड़ पड़ा। वे उस स्त्री को छोड़ कर वृन्दावन आ गये और गोस्वामी विठ्ठल नाथ के शिष्य हो गये। विठ्ठल नाथ जी ने उनकी भक्ति से प्रभावित हो कर विजातीय होने पर भी उन्हें वैष्णव धर्म में दीक्षित कर लिया। प्रेम वाटिका के निम्नलिखित दोहे का संकेत इसी घटना की ओर है।

तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहिनी मान।
प्रेम देव की छविहिं लखि, भये मियां रसखान ॥

इन कहानियों से इतना स्पष्ट हो जाता है कि वे बड़े प्रेमी जीव थे और कारणवश उनका लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम में परिणत हो गया। जिस प्रकार उनका लौकिक प्रेम गम्भीर था, उसी प्रकार उनका आध्यात्मिक प्रेम भी गम्भीर था। अनन्यता, तल्लीनता किसी भी बात में कोई अन्तर नहीं।

गोस्वामी राधा चरण जी ने रसखान का उल्लेख निम्न-लिखित छप्पय में इस प्रकार किया है :—

दिल्ली नगर निवास, बादसा वंश विभाकर।
चित्र देखि मन हरो, भरो पन-प्रेम सुधाकर ॥
श्री गोबर्द्धन आय जबै दरसन नहिं पाये।
टेढ़े मेढ़े बचन रचन निर्भय ह्वै गाये ॥
तब आप आय सुमनाय करि सुश्रुषा महमान की।
कवि कौन मिताई कहि सकै, श्री नाथ-साथ रसखान की ॥

रसखान ने अच्छा अध्ययन किया था। वे फारसी के योग्य विद्वान् थे और पहले उन्होंने फारसी में ही भागवत का अनुवाद पढ़ा था। गोस्वामी विट्ठल नाथ से दीक्षा लेने पर साधु सन्तों से उनका साथ हुआ और फल-स्वरूप संस्कृत का भी उन्हें पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो गया। ब्रज में तो निवास ही हो गया था, अतः ब्रज भाषा पर भी उनका पूर्ण अधिकार हो गया।

रचनाएँ

रसखान ने बहुत कम लिखा है परन्तु अपनी भक्ति की अनन्यता, अनुभूति की गम्भीरता तथा भाषा की स्वच्छता के कारण वे हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों में गिने जाते हैं। उनके दो छोटे-छोटे ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रेम-वाटिका' एक अत्यन्त छोटी पुस्तक है जिसमें केवल ५२ दोहे हैं। इन दोहों में विशुद्ध प्रेम का चित्रण है। 'सुजान रसखान' में १० दोहे तथा सोरठे हैं और शेष ११६ कवित्त सवैये हैं। इस ग्रन्थ के कई संस्करण हैं और सभी में पदों की संख्या में अन्तर पड़ता गया है। 'सुजान रसखान' में भक्ति और प्रेम का सुन्दर सम्मिश्रण है। रसखान-रचित काव्य के अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि उनमें प्रचंड सर्जनात्मक प्रतिभा थी। ऐसा विश्वास करने को जी नहीं चाहता कि उन्होंने केवल इतना ही (लगभग ६०० पंक्तियां) लिखा होगा। सम्भव है कि उनकी रचनाएँ लुप्त हो गई हों और सम्यक् अनुसंधान से प्राप्त हो सकें। यह भी सम्भव है कि उनकी रचनाएँ प्राप्य हों परन्तु प्रकाश में नहीं आई हों।

भक्ति-भावना

रसखान को गोस्वामी विट्ठल नाथ ने वैष्णव धर्म की दीक्षा दी थी अतः उनपर अपने गुरु की भक्ति-भावना का प्रभाव पड़ना आवश्यक था। यह प्रभाव स्पष्ट रूप में दो प्रकार से पड़ा था :—(१) रसखान भगवान् के सगुण रूप कृष्ण के उपासक हुए, और (२) उनकी भक्ति प्रेम-लक्षणा हुई। रसखान एक प्रेमी जीव थे अतः उनकी

प्रकृति के लिए कृष्ण के प्रति प्रेम ही अनुकूल पड़ता था। रसखान मानते हैं कि कृष्ण भगवान् के अवतार हैं और वे भगवान् के अनादि, अनंत, अखंड रूप से पूर्ण परिचित हैं जिनका भेद शेष, महेश, गणेश आदि कोई भी नहीं पा सकते।

सेस, महेस, गनेस दिनेस, सुरेस हु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि, अनंत, अखंड, अछेद, अभेद सुवेद बतावैं॥

किन्तु रसखान के आराध्य देव ये 'अनादि, अनंत अखंड, अछेद, अभेद' ब्रह्म नहीं जनको पाने के लिए "नारद से सुक व्यास रहैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।" उनके आराध्य कृष्ण भगवान् हैं जो प्रेम के कारण सब के वशीभूत हो जाते हैं और जिन्हें

ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।

क्योंकि वे जानते हैं कि उसी अनादि ब्रह्म ने कृष्ण के रूप में अवतार ग्रहण किया है और वे ही कृष्ण भगवान् गोप गोपियों के साथ अनेक रूपों में क्रीड़ा करते हैं। वे ही कृष्ण रसखानि के प्रिय हैं।

यद्यपि रसखान गोस्वामी विट्ठल नाथ के शिष्य थे तथापि उनपर साम्प्रदायिकता की छाप बिल्कुल नहीं पड़ी है। रसखान की भक्ति न माधुर्य भाव की है और न दास्य भाव की। वात्सल्य भाव के सवैये केवल दो ही तीन हैं। पुष्टि-मार्ग से रसखान का सम्बन्ध अत्यल्प है यद्यपि इनके गुरु गोसाईं विट्ठल नाथ की भक्ति-पद्धति पुष्टि-मार्गी है। रसखान की भक्ति सख्य भाव की है। सखा की ही प्रगल्भता तथा आत्मीयता उनकी भक्ति-भावना में सर्वत्र दिखाई देती है।

सख्य भाव के ही कारण रसखान अपने आराध्य देव कृष्ण भगवान् के गुप्त से गुप्त क्रीड़ा स्थान में पहुँच जाते हैं और अत्यन्त प्रगल्भता से उनकी विभिन्न क्रीड़ाओं का वर्णन निस्संकोच होकर करते हैं। वे जब चारों ओर ढूँढ कर भी ब्रह्म का पता नहीं पाते तो अन्त में उन्हें कुंज में राधा के पैर पलोटते' पाते हैं:—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यौ पुरानन गानन वेद रिचा सुनि चौगुन चायन।
देख्यौ सुन्यौ कबहूँ न कहूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
हेरत हेरत हारि पर्‌यौ रसखानि बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो दुरो वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटतु राधिका पायन॥

आखिर अन्तरंग सखा के अतिरिक्त केलि कुंज में जाकर प्रेम-क्रीड़ाओं को देखने का साहस ही कौन कर सकता है? रसखान अपने को सदा कृष्ण के पास पाते हैं। सखा भाव के ही कारण वे कृष्ण की लीलाओं का वर्णन इतनी ढिठाई से करते हैं प्रसिद्ध है कि वे भावावेश में गोपाल कृष्ण के साथ गायें चराने जाया करते थे।

रसखान ने कृष्ण की यौवन-लीलाओं के ही गीत गाये हैं। बाल-लीलाओं में उनका मन नहीं रमा। साधुओं की संगति तथा अध्ययन से उन्हें कृष्ण की सारी बाल लीलाएँ ज्ञात थीं परन्तु उन्होंने उनका वर्णन नहीं किया। उन्होंने कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन केवल दो सवैयों में किया है जो निम्नलिखित हैं।

(१) आजु गई हुती भोर ही हौं रसखानि रई वहि नंद के भौनहिं ।
वाको जियौ जुग लाख करोर जसोमति को सुख जात कह्यौ नहिं ।।
तेल लगाइ लगाइ कै अंजन भौंह बनाइ बनाइ डिठौनहिं ।
डालि हमेलनि हार निहारत वारत ज्यों चुचकारत छौनहिं ।।

(२) धूरि भरे अति सोभित स्याम जू तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी ।
खेलत खात फिरैं अँगना पग पैंजनी बाजति पीरी कछोटी ।।
वा छवि को रसखानि बिलोकत वारत काम कला निज कोटी ।
काग के भाग बड़े सजनी हरि-हाथ सों ले गयौ माखन रोटी ।।

बाल लीला के ये अत्यन्त सजीव चित्र हैं। परन्तु प्रेमी रसखान का मन बाल चित्रण में नहीं लगा। वे यौवन के ही चित्रण में अधिक अनुरक्त रहे।

रसखान ने कालिय-दमन के समय का भी एक चित्र प्रस्तुत किया है। इसमें यशोदा के हृदय में उठने वाले वात्सल्य भाव का मार्मिक चित्रण है। कृष्ण कालिय-दमन कर रहे हैं और सभी लोग खड़े खड़े तमाशा देख रहे हैं। यशोदा उन्हें फटकारती हुई अपनी व्यग्रता व्यक्त कर रही है :—

कहा कहौं आली, खाली देत सब ठाली हाथ।
मेरे बनमाली को न काली तें छुड़ावहीं ।।

रसखान की भक्ति अत्यन्त स्वच्छन्द तथा उन्मुक्त है। वे किसी सम्प्रदाय के सीमित क्षेत्र में नहीं बाँधे जा सकते, साम्प्रदायिकता की परिधि से परे हैं।

रसखान की भक्ति में तन्मयता है जिसमें भक्त सर्वदा और सर्वथा अपने आराध्य देव का सामीप्य-लाभ करना चाहता है। भक्त की अभिलाषा है कि वह किसी भी दशा में रहे—चाहे पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, पाषाण आदि कुछ भी हो—सदा अपने आराध्य की लीला-भूमि में स्थान प्राप्त करे। इस प्रसंग में निम्न-लिखित सवैया द्रष्टव्य है :—

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज-गोकुल-गांव के ग्वारन ।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन ।।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यौ कर छत्र पुरंदर धारन ।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी-कूल-कदम्ब के डारन ।।

रसखान मुक्ति के इच्छुक नहीं। उन्हें तो कृष्ण का सामीप्य प्रिय है। कृष्ण में उनकी भक्ति अचल है। कृष्ण के साथ रहने में, उनकी गायें चराने में वे सभी सुखों का अनुभव करते हैं। वे कृष्ण की लकुटी और कम्बल पर तीनों लोकों का राज्य न्यौछावर करने को प्रस्तुत हैं। करील-कुंजों पर सोने के करोड़ों महलों को उत्सर्ग कर देने को कटि-बद्ध हैं :—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं ।
आठहु सिद्धि नवो निधि को सुख नंद की गाय चराइ बिसारौं ।।

रसखान कबौं इन आँखिन सौं ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिकहूँ कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

ऐसी तन्मयता अन्यत्र मिलना कठिन है।

रसखान कृष्ण की मंजुल मूर्त्ति पर रीझे हैं, उनके अभेद्य और अछेद्य, अनादि और अनंत रूप पर नहीं। कृष्ण का जो दृश्यमान अलौकिक सौन्दर्य है वही उनके आकर्षण का कारण है :—

कानन कुंडल मोर पखा सिर, कंठ में माल बिराजति है।
मुरली कर में, अधरा मुसकानि, तरंग महा छवि छाजति है॥
रसखान लखे तन पीत पटा सत दामिनी की दुति लाजति हैं।
वह बाँसुरी की धुनि कान परे कुल कानि हियो तजि भागति है॥

कृष्ण की इस रूप राशि के सागर में रसखान आपादमस्तक मग्न हो जाते हैं। उनका सम्पूर्ण अस्तित्व कृष्ण में लीन हो जाने को व्याकुल है। उनके मन, कर्म, हाथ, पैर आदि सभी उसी आराध्य देव की ओर द्रुत गति से बढ़ जाना चाहते हैं।

बैन वही उनको गुन गाइ, औ कान वही उन बैन सों सानी।
हाथ वही उन गात सरै अरु पाइ वही जु वही अनुजानी॥
जान वही उन आन के संग औ मान वही जो करै मनमानी।
त्यों रसखानि वही रसखानि जु है रसखानि सो है रसखानी॥

रसखान कृष्ण पर तन मन से न्यौछावर हैं जिस कृष्ण की मुसकान सम्भालना किसी के लिए भी असम्भव है :—

टेरि कहौं सिगरे ब्रज लोगनि काल्हि कोऊ कितनो समुझैहै।
माइ री वा मुख की मुसकानि सम्भारि न जैहै न जैहै न जैहै॥

रसखान ने कृष्ण की सुन्दरता तथा लीलाओं के अनेक चित्र प्रस्तुत किये हैं। उनका सम्पूर्ण काव्य इन चित्रों से भरा है। उन्होंने कृष्ण के धाम का उल्लेख बहुत कम किया और नाम का उल्लेख तो किया ही नहीं। धाम का उल्लेख निम्नलिखित दो पंक्तियों में किया गया है :—

रसखानि कबौं इन आँखिन सों ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हू कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

रसखान ने कृष्ण की भिन्न भिन्न लीलाओं—दान लीला, रास लीला, चीर-हरण आदि—का वर्णन किया है किन्तु संक्षेप में। संक्षेप होते हुए भी ये वर्णन सजीव हैं। चीर-हरण का दृश्य निम्नलिखित सवैये में देखिये:—

एक समै जमुना-जल मैं सब मज्जन हेत धसीं ब्रज गोरी।
त्यों रसखानि गयौ मन मोहन लै कर चीर कदंब की छोरी॥
न्हाइ जबै निकसीं बनिता चहुँ ओर चितै चित रोष करोरी।
हार हियें भरि भावन सों पट दीने लला बचनामृत बोरी।

कृष्ण की बाँसुरी का भी अद्भुत प्रभाव है। इस बाँसुरी ने सभी गोपियों पर जादू कर दिया है कृष्ण वंशी-वादन करें तो यह कैसे सम्भव है कि गोपियाँ अपने घर में निश्चिन्त हो कर बैठ सकें?

कोऊ न काहू की कानि करै कछु चेटक सी जु करयौ जदुरैया।
गाइगो तान जमाइगो नेह रिझाइगो प्रान चराइगो गैया॥

सूरदास और नंददास की गोपियों के समान रसखान की भी गोपियां कृष्ण की बाँसुरी से सपत्नी-भाव रखती हैं। गोपियां सहन नहीं कर सकतीं कि यह बाँसुरी कृष्ण से एक क्षण के लिए भी अलग नहीं होती जहां उन्हें स्वयं कृष्ण से विरह की वेदना सहन करनी पड़ती है। उनकी कामना है कि कोई ऐसा व्यक्ति होता जो इस बैरिन को जला डालता।

यौं रसखानि घिरौ सिगरो ब्रज आन को आन उपाय विचारै।
कोऊ न कान्हर के कर तें वहि बैरिनि बाँसुरिया गहि जारै॥

गोपियों पर कृष्ण की वंशी का प्रभाव वर्णित है:—

जल की न घट भरैं मग की न पग धरैं।
घर की न कछु करैं बैठी भरैं साँसु री॥
एकै सुनि लोट गई एकै लोट पोट भई
एकनि के दृगनि निकसि आए आँसुरी॥
कहै रसखानि सो सबै ब्रज बनिता बधि।
बधिक कहाय हाय भई कुल हाँसुरी।
करियै उपाय बाँस डारियै कटाय
नाहिं उपजैगो बाँस नाहिं बाजै फेरि बाँसुरी॥

रसखान के काव्य पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि उन के आराध्य केवल कृष्ण हैं; राधा और कृष्ण नहीं। राधा का नाम भी कवि ने कम ही स्थानों पर लिया है किन्तु उनके विषय में कुछ विशेष नहीं कहा। उनके प्रेम की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं की गयी है। वास्तव में रसखान ने अपने काव्य में राधा का नाम देकर केवल एक परम्परा का पालन-मात्र किया है। नीचे की पंक्तियों में राधा और कृष्ण दुलहिन और दुलहे के रूप में दिखाये गये हैं।

मोर के पंखन मोर बन्यो दिन दूलह है अली नन्द को नंदन।
श्री वृषभानु सुती दुलही दिन जोरी बनी विधना सुख कन्दन॥

नीचे के दोहे में कृष्ण और राधा माली और मालिन के रुप में वर्णित हैं।

प्रेम अयनि श्री राधिका प्रेम बरन नँद नन्द।
प्रेम वाटिका के दोऊ, माली मालिन द्वन्द॥

भगवान् की माधुरी के चार भेद माने गये हैं:— ऐश्वर्य माधुरी, क्रीड़ा माधुरी, वेणु माधुरी और विग्रह माधुरी। ऐश्वर्य माधुरी में भगवान के ईश्वरत्व अथवा ऐश्वर्य की भावना प्रधान रहती है। अतः यह माधुरी दास्यभाव की भक्ति के लिए अधिक उपयुक्त

होती है। कृष्ण भक्ति में सख्य, माधुर्य तथा वात्सल्य की प्रमुखता रहती है, अतः इसमे ऐश्वर्य बोध जितना ही अल्प रहता है, उतना ही अच्छा होता है। अतएव कृष्ण भक्ति के लिए क्रीड़ा माधुरी, वेणु माधुरी तथा विग्रह माधुरी अधिक उपादेय हैं। क्रीड़ा माधुरी के कई भेद हैं जिनमें सर्व श्रेष्ठ गोप लीला है। वेणु-माधुरी में वंशी के उस लोकातीत माधुर्य का वर्णन रहता है जिसके वश में ब्रह्मा, विष्णु, महेश हो जाते हैं। विग्रह माधुरी में भगवान् के सौन्दर्य का वर्णन रहता है। रसखान उच्चकोटि के कृष्ण-भक्त थे। अतः उन्होंने कृष्ण की क्रीड़ा माधुरी, वेणु माधुरी तथा विग्रह माधुरी तीनोंका हृदय-ग्राही वर्णन किया है।

रसखान कृष्ण के प्रथम कोटि के भक्त थे परन्तु उनमें साम्प्रदायिकता की भावना लेश-मात्र को भी नहीं है। दूसरों के आराध्य देवों के प्रति उन्होंने अनादर की भावना नहीं प्रदर्शित की। उनमें दूसरों के लिए उदारता है, कट्टरता नहीं। वे कृष्ण के साथ ही राम, शंकर अथवा किसी अन्य देवता का भी आदर करते थे। एक सवैये में रसखान ने कृष्ण के साथ शंकर का भी गुण-गान किया है।

इक ओर किरीट लसै दुसरी दिसि नागर के गन गाजत री।
मुरली मधुर धुनि ओठन पै, उत डामर नाद से बाजत री॥
रसखानि पितम्बर एक कँधा पर एक बघम्बर छाजत री।
अरे देखहु संगम लै बुड़की निकसे यह भेष विराजत री॥

रसखान ने अलग सवैये में भी शंकर के रूप का वर्णन किया है। उन्होंने गंगा का भी गुण-गान किया है।

बैद की औषधि खाइ कछू न करै बहु सञ्जम री सुन मोंसे।
तेरोई पानी पिये रसखानि सजीवन आनिल है सुख तो सें॥
एरी सुधामयी भागीरथी सब पथ्य कुपथ्य बनै तुहि पोसें।
आक धतूरो चबात फिरै विष खात फिरै शिव तेरे भरोसे॥

भक्ति भावना की दृष्टि से वे अन्य भक्तों से भिन्न हैं। वे कृष्ण के रूप में लय हो जाने की इच्छा करते हैं। कृष्ण से पार्थक्य की कल्पना भी उन्हें असह्य है। सारांश यह कि रसखान पूर्ण रूप से उदार और सगुणवादी, कृष्ण-भक्त हैं, और उनमें साम्प्रदायिक कट्टरता नाम को भी नहीं है।

प्रेम-निरूपण

रसखान प्रेमोन्मत्त कवि थे। प्रेम में ही उनका जीवन व्यतीत हुआ था और प्रेम के ही कारण उनमें भक्ति का समावेश हुआ था। उनका लौकिक प्रेम ही अलौकिक प्रेम में परिणत हो गया था। रसखान ने उस समय कविता रची थी जब उनका प्रेम ईश्वरोन्मुख हो चुका था।

'प्रेम वाटिका' में उन्होंने प्रेम का मार्मिक एवं सजीव वर्णन किया है। उस वर्णन में भावात्मकता है और है प्राणों का उद्वेलन। उन्होंने सुनी सुनाई बातों का

वर्णन नहीं किया वरन् जो भावना उनके रक्त में मिश्रित हो गई थी और मन तथा प्राणों पर छा गई थी उसीका सजीव चित्र उपस्थित किया। प्रेम के सम्बन्ध में उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन भी किया था जैसा निम्न-लिखित दोहे से स्पष्ट होता है :—

स्वारथ मूल अशुद्ध त्यों, शुद्ध स्वभाव ऽ नुकूल।
नारदादि प्रस्तार करि, कियो जाहि को तूल ॥

'नारदादि प्रस्तार करि' से स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है कि रसखान ने 'नारद पंचरात्रि' तथा 'शाण्डिल्य सूत्र' का अध्ययन किया था। शुद्धाशुद्ध प्रेम का वर्णन 'नारद पञ्चरात्रि' के आधार पर है। किन्तु केवल शास्त्रों के अध्ययन से कुछ नहीं होने को। प्रेम का तत्त्व जानने के लिए शास्त्रों का अध्ययन कर लिया किन्तु प्रेम का तत्त्व नहीं जान सके तो वह अध्ययन-मनन भी व्यर्थ है :—

शास्त्रन पढ़ि पंडित भये, कै मौलवी कुरान।
जु पै प्रेम जान्यौ नहीं, कहा कियो रसखान ॥

प्रेम तत्त्व को जानना वास्तव में अत्यन्त कठिन कार्य है। प्रेम ईश्वर का समकक्ष है। वह ईश्वर के समान ही अनिर्वचनीय है। सभी सांसारिक वस्तुएँ ज्ञेय हो सकती हैं; उनको जानना तथा उनके विषय में चर्चा करना सरल है, किन्तु प्रेम को जानना असम्भव सा है।

जग में सब जान्यो परै, अस सब कहै कहाय।
पै जगदीस ऽरु प्रेम यह, दोऊ अकथ लखाय ॥

प्रेम का विवेचन कई भक्त कवियों ने किया है, परन्तु उन कवियों के काव्य में वर्णित प्रेम केवल कृष्ण के प्रति है। अतएव उनका प्रेम वर्णन उतना विशद नहीं है। रसखान ने प्रेम के लौकिक तथा अलौकिक रूपों का शास्त्रीय विश्लेषण किया है। उनकी दृष्टि में विषयानंद तथा ब्रह्मानंद प्रेम के दो रूप हैं। लौकिक प्रेम को उन्होंने विषयानंद कहा जो निम्न-कोटि का है और भगवद् प्रेम को ब्रह्मानंद कहा है जो शुद्ध प्रेम कहलाने का अधिकारी है।

आनँद अनुभव होत नहिं बिना प्रेम जग जान।
कै वह विषयानंद कै ब्रह्मानंद बखान ॥

प्रेम स्वार्थ-रहित तथा कामना-हीन होता है। सभी प्रकार के स्वार्थों के ऊपर उसका स्थान रहता है। यदि प्रेम में स्वार्थ या कामना का आविर्भाव हो गया तो उसे प्रेम नहीं कह कर मोह कहना चाहिए।

बिनु गुन जोबन रूप धन, इक रस सदा समान।
शुद्ध कामना तें रहित, प्रेम सकल रसखान ॥

शुद्ध एवं कामना-रहित प्रेम प्रायः एकांगी हुआ करता है। प्रेम-पात्र प्रेम का प्रतिदान करे अथवा नहीं इसकी चिन्ता करना प्रेमी का कार्य नहीं। प्रेमी प्रत्येक अवस्था में प्रिय को सर्वस्व समझे :—

इक अंगी बिनु कारनहिं, इक रस सदा समान।
गनै प्रियहि सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान ॥

प्रेम का मार्ग अत्यन्त कठिन 'खड्ग की धार' है। यह सीधा भी है और वक्र भी। प्रेम की साधना के लिए स्वच्छ हृदय की आवश्यकता है :—

कमल तंतु सो छीन अरु, कठिन खड्ग की धार।
अति सूधो, टेढ़ो बहुरि, प्रेम पंथ अनिवार ॥

सच्चे प्रेम में मुक्ति-प्राप्ति की भी कामना नहीं रहती। उस प्रेम की प्राप्ति के पश्चात् वैकुण्ठ की तो इच्छा रहती ही नहीं, स्वयं भगवान् को भी प्राप्त करने की चाह नहीं रह जाती:—

जेहि पाये बैकुन्ठ अरु हरि हूँ की नहिं चाहि।
सोइ अलौकिक, सुद्ध, सुभ, सरस सुप्रेम कहाहि ॥

और इसी प्रेम को प्राप्त कर लेने के कारण गोपियाँ सभी से श्रेष्ठ हैं। उनका स्थान सर्वोपरि है:—

जदपि जसोदा नंद अरु ग्वाल बाल सब धन्य।
पै या जग में प्रेम की गोपी भईं अनन्य ॥

रसखान ने प्रेम का स्थान ज्ञान, कर्म और उपासना इन तीनों से उच्च माना है। प्रेम के समक्ष ये तीनों निम्न-कोटि के प्रमाणित होते हैं:—

ज्ञान कर्म ऽरु उपासना, सब अहमिति को मूल।
दृढ़ निश्चय नहिं होत बिन किये प्रेम अनुकूल ॥

रसखान को विश्वास है कि वेद पुराण आदि धार्मिक ग्रन्थों का मूल प्रेम ही है। प्रेम ही सब का सार है

श्रुति, पुरान, आगम, स्मृतिहिं प्रेम सबहिं को सार।
प्रेम बिना नहिं उपज हिय, प्रेम-बीज अँकुवार ॥

रसखान का प्रेम सौन्दर्य पर आधारित है। जीवन के आरम्भिक भाग में वे सौन्दर्य के ही कारण प्रेम करते थे और कृष्ण भक्ति के मूल में भी यही सौंदर्य प्रेम है। इसलिए उनका रूप-वर्णन इतना सफल और सजीव हो सका है। कृष्ण के रूप का अत्यन्त आकर्षक वर्णन उनकी लेखनी से निस्सृत है।

कानन कुंडल मोर पखा सिर, कंठ में माल विराजति है।
मुरली कर में, अधरा मुसकानि तरंग महा छवि छाजति है ॥

रसखान के प्रेम-वर्णन पर सूफी कवियों का भी प्रभाव कुछ अंश में पड़ा है। केवल इन्हीं पर नहीं, वरन् प्रेम-लक्षणा भक्ति वाले सभी कवियों पर यह प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य पड़ा है। सूफी कवियों को प्रत्येक अणु में उसी प्रेम के दर्शन होते हैं। रसखान ने प्रेम के इसी स्वरूप को अपनाया है। निम्न-लिखित दो दोहे इस तथ्य को प्रकट करते हैं:—

(क) वही बीज अंकुर वही, एक वही आधार।
डाल पात फल-फूल सब, वही प्रेम सुख सार ॥

(ख) कारज कारन रूप यह, प्रेम अहै रसखान ।
कर्ता, कर्म, क्रिया, करण, आपहि प्रेम बखान ॥

रसखान ने पूरी प्रेम-वाटिका में प्रेम तत्त्व का विशद निरूपण किया है । उनके जीवन का केन्द्र विन्दु यही प्रेम है । लौकिक प्रेम में भी वे आपाद मस्तक मग्न थे और अलौकिक प्रेम में भी, किन्तु प्रेम-वाटिका में अलौकिक प्रेम का ही विवेचन हुआ है ।

रस निरूपण

रसखान भक्त कवि थे । उन्होंने भक्ति को ही अपने काव्य का विषय वनाया है । रस-शास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने भक्ति को रस की संज्ञा नहीं दी है इसका कारण यही हो सकता है कि जब रस शास्त्र का प्रणयन हुआ, उस समय भक्ति की कविता अत्यल्प मात्रा में थी । मध्ययुग में भक्ति की कविता की रचना प्रचुर परिमाण में हुई । प्राचीन आचार्यों ने भगवद् विषयक रति को भाव की ही संज्ञा दी है । यह देख कर और भी आश्चर्य होता है कि वीभत्स और भयानक को रस माना गया है जिनकी रचना बहुत थोड़ी हुई है । परन्तु आधुनिक समीक्षक भक्ति को भी रस मानने लगे हैं; और कोई कारण नहीं कि इसे रसों में स्थान न मिले । रस के परिपाक के लिए जिन उपकरणों की आवश्यकता होती है, वे भक्ति के काव्य में भी प्राप्य हैं । भक्ति रस का आश्रय भक्त है; आलम्बन विभाव राम, कृष्ण, शंकर, गंगा आदि; उद्दीपन विभाव होंगे कीर्त्तन, भजन, भागवत आदि धार्मिक ग्रन्थों का श्रवण, सत्संग आदि; अनुभाव रोमांच, अश्रुपात आदि और संचारी भाव स्मृति हर्ष, विषाद, औत्सुक्य आदि । इस प्रकार रस-निष्पत्ति के सभी उपकरण प्रस्तुत हैं । फिर कोई कारण नहीं कि भक्ति को रस नहीं माना जाय ।

रसखान की कविता भक्ति-परक है । उसका मुख्य रस भक्ति ही है क्योंकि इनकी कविता में सर्वत्र भक्ति की ही धारा प्रवाहित होती है । यदि भक्ति को रस नहीं माना जाय तो रसखान की कविता में भगवद् विषयक रति भाव है । इनकी कविता में शृंगार रस है परन्तु उसकी प्रधानता नहीं है । रस की व्यापकता तथा प्रधानता की दृष्टि से रसखान की कविता में शृंगार को द्वितीय स्थान प्राप्त होगा और इसके अनन्तर वात्सल्य का स्थान होगा ।

रसखान एक सच्चे भक्त के समान अपने आराध्य की प्रशंसा करते हैं । उनकी भक्ति के आलम्बन केवल कृष्ण ही नहीं वरन् ब्रज के वे सारे पदार्थ हैं जिनसे कृष्ण का सम्पर्क रहा है । रसखान उन सभी वस्तुओं को आदर की दृष्टि से देखते हैं और सबकी प्रशंसा अथवा स्तुति करते हैं । भक्ति रस के लिए निम्न-लिखित सवैया द्रष्टव्य है :—

द्रौपदी औ गनिका गज गीध अजामिल सों कियो सो न निहारो
गौतम गेहिनी कैसे तरी प्रह्लाद को कैसे हर्यौ दुख भारो ॥
काहे को सोच करे रसखानि कहा करिहै रविनंद विचारो ।
ता खन जा खन राखिए माखन चाखन हारो सो राखन हारो ॥

भक्ति रस के बाद रसखान की कविता में शृंगार रस का स्थान है। श्री कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन शृंगार रस के अन्तर्गत है परन्तु रसखान का शृंगार-वर्णन कहीं भी अश्लील नहीं हुआ है। उनका कोई भी सवैया पूर्णतः शृंगारिक नहीं कहा जा सकता। सभी में आध्यात्मिक झलक अवश्य है। सभी भक्ति की ओर संकेत करते हैं। उनका शृंगार एक सीमा के अन्तर्गत है।

रसखान को अपने जीवन में कभी वियोग का अनुभव नहीं करना पड़ा। अतः उनके काव्य में केवल संयोग-पक्ष का ही चित्रण हुआ और इस प्रकार के चित्रण में वे अद्वितीय हैं। संयोग-पक्ष के सुखद अनुभवों के अंकन में रसखान को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। कृष्ण के साथ गोपियों का बचपन का परिचय यौवन के प्रेम में परिणत हो गया। गोपियां कृष्ण के साथ अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करती हैं और आनन्द मनाती हैं। रसखान ने ऐसे दृश्यों का मार्मिक वर्णन किया है। एक गोपी कृष्ण का स्वांग कर रही है पर कृष्ण की जूठी मुरली अपने अधरों पर नहीं रखना चाहती :—

मोर पँखा सिर ऊपर राखिहौं गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पिताम्बर लै लकुटी बन गोधन ग्वारनि संग फिरौंगी॥
भावतो वोहि मेरो रसखान सो तेरे कहे सब स्वांग भरौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥

और अन्त में वाणी तथा सौन्दर्य का प्रभाव दिखाया गया है :—

कोऊ न काहू की कानि करै, कछु चेटक सी जु करयौ जदुरैया।
गाइगो तान जमाइगो नेह रिझाइगो प्रान चराइगो गैया॥

रसखान ने होली के अवसर पर आनन्द-विह्वला गोपियों का सजीव चित्र उपस्थित किया है :—

फागुन लाग्यो सखी जब तें तब तें ब्रज मंडल धूम मच्यो है।
नारी नवेली बचैं नहीं एक विसेख यहै सब प्रेम अच्यो है॥
साँझ सकारे वही रसखानि सुरंग गुलाल लै खेल रच्यौ है।
को सजनी निलजी न भई, अरु कौन भटू जिहिं मान बच्यो है॥

वियोग शृंगार के चित्रण में रसखान का हृदय नहीं लगा है। विरह-वर्णन के कुछ सवैये उन्होंने लिखे परन्तु उन्हें सफल रचना नहीं कह सकते। एक उदाहरण देखिए :—

काह कहूँ रतियाँ की कथा बतियाँ कहि आवत है न कछू री।
आइ गोपाल लियो भरि अंक कियौ मन भायौ पियौ रस कूँ री॥
ताही दिना सों गड़ीं अँखियाँ रसखानि भरे अँग अँग में पूरी।
पै न दिखाई परै अब बावरी दै कै वियोग विथा की मजूरी॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि रसखान ने शृंगार के संयोग पक्ष का ही सजीव वर्णन किया है। उनका वियोग-पक्ष उतना सफल नहीं कहा जा सकता। यों तो रसखान का मुख्य रस भक्ति ही है। वात्सल्य के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं।

भाषा-शैली

रसखान ब्रज भाषा के रस-सिद्ध कवि हैं। भाषा की सरलता तथा सुन्दरता की दृष्टि से प्रथम कोटि के कवियों में रसखान की गणना होगी। रसखान की भाषा के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यातव्य हैं।

(१) रसखान की भाषा चलती हुई, सरस तथा सरल है। यह सर्वथा निर्दोष, स्वच्छ अकृत्रिम तथा आडम्बर-हीन है। ब्रज में साधारणतः बोले जाने वाले शब्दों के आधिक्य के कारण उनकी भाषा में स्वभावतः माधुर्य आ गया है।

(२) रसखान की भाषा में प्रवाह है। उन्होंने कृष्ण के वाह्य सौन्दर्य का ही अधिक वर्णन किया है, अतः प्रतिपाद्य विषय से सीधा सम्बन्ध रखने के कारण भाषा में प्रवाह आ गया है। छन्द के चुनाव के कारण भी प्रवाह आया है। रसखान ने अधिकतर मत्तगयंद सवैया में अपने काव्य की रचना की है। इस छन्द में स्वभावतः गति होती है। अनेक उदाहरण दिये जा चुके हैं जिनसे प्रमाणित हो जायगा कि इस छन्द में कितना प्रवाह होता है।

(३) रसखान की भाषा में बहुत ही कम संयुक्ताक्षर मिलेंगे इसलिए कर्कशता का सर्वथा अभाव है, स्वाभाविक कोमलता सर्वत्र आ गई है।

(४) रसखान की भाषा में क्लिष्टता का नितान्त अभाव है। उनके शब्द सरल हैं तथा अर्थ स्पष्ट है। उनकी भाषा में प्रसाद गुण की प्रचुरता है।

(५) रसखान की भाषा में माधुर्य गुण का आधिक्य है। यह गुण उनके काव्य में सर्वत्र पाया जाता है। भक्ति और शृंगार दोनों रसों में माधुर्य की अतिशयता है।

(६) यद्यपि रसखान की भाषा शुद्ध और परिमार्जित ब्रजभाषा है तथापि उसमें कहीं कहीं कुछ अवधी शब्द भी आ गये हैं; जैसे 'दुवारो' (ब्रज 'द्वारे'), 'पियारो' (ब्रज 'प्यारो') अबार, ताहि (ताहि अहीर की छोहरियाँ) आदि। रसखान की भाषा में 'अस' 'केरी' तथा कुछ क्रिया पद 'आहि' और 'अहै' आदि अवधी से लिये गये हैं।

(७) रसखान की कविता में कतिपय प्राकृत शब्द भी पाये जाते हैं; जैसे मुक्ताहल (मुक्ताफल के स्थान पर) ही (थी के स्थान पर)। ये प्राकृत प्रयोग रसखान के समय में प्रचलित नहीं थे परन्तु प्राचीनता के प्रदर्शन के लिए कवि-गण इनका प्रयोग कर दिया करते थे।

(८) रसखान ने ब्रज भाषा के ठेठ शब्दों का प्रयोग किया है; जैसे :—

छछिया भरि छाछ पै नाच नचावत।
वह गोधन गावत ॥
सोई है रास में नैसुक नाचि कै।
कौन ठगोरी भरी हरि आजु ॥

इन वाक्यों में रेखांकित शब्द ठेठ ब्रज भाषा के परम्परागत शब्द हैं।

(९) रसखान ने अपनी भाषा में अरबी फारसी के भी शब्दों का प्रयोग किया है परन्तु अधिकतर स्थानों पर उन्हें ब्रज भाषा का रूप दे दिया है। ऐसे शब्दों का प्रयोग अरबी फारसी के तत्सम रूप में बहुत कम ही स्थानों पर हुआ है। जैसे "रचै अजूबो खेल'। शुद्ध शब्द 'अजीब' है पर 'अजूबो' लिख कर उसे ब्रज भाषा का रूप दे दिया गया है।

ताहि खरौ लखि लाख जरौ, इहि पास पतिव्रत ताख धरौ जू।

इस वाक्य में 'ताक' शब्द को 'ताख' का रूप दे दिया गया है जिससे इस शब्द में अपनापन आ गया है एवं बिदेशीपन हट गया है। दूसरा लाभ यह हुआ है कि 'लाख' और 'पाख' के साथ 'ताख' मिल कर अनुप्रास की सुन्दरता बढ़ा रहा है। किन्तु कहीं कहीं अरबी और फारसी के शब्द अपने तत्सम रूप में भी व्यवहृत हुए हैं। 'महबूब' (दो तब हूँ जहँ एक में, मन मिलाई महबूब), 'नेजा', 'तीर' आदि अपने तत्सम रूप में ही आये हैं।

(१०) मुहावरों और कहावतों के प्रयोग से भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति में वृद्धि हो जाती है। इसलिए प्रायः सभी कवि तथा लेखक इनका प्रयोग करते हैं। रसखान ने भी इनका प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है; फल स्वरूप इनकी व्यंजना-शक्ति पर्याप्त मात्रा में बढ़ गई है। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :—

(क) कहां लौं सयानी चन्दा हाथ छिपाइबो।
(ख) आँख सों आँख लड़ी जबहिं।
(ग) अब नाचिए सोई जो नाच नचावै।
(घ) पाले परी मैं अकेली लली।

उपरि-लिखित वाक्यों में 'हाथ से चाँद छिपाना', 'आँख से आँख लड़ना', 'नाच नचाना', 'पाले पड़ना' मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं और इन वाक्यों की व्यंजना-शक्ति बढ़ा रहे हैं।

रसखान ने स्थान-स्थान पर लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है जो बहुत प्रभावोत्पादक हैं। कुछ उदाहरण देखिए:—

(क) जो कोई चाहै भलो अपनो तो सनेह न काहू सो कीजियो माई।
(ख) मोल छला के लला न बिकैहो।
(ग) कारे बिसारे को चाहै उतार्यौ अरे विष बावरे राख लगाइ कै।
(घ) नाहिं उपजैगो बाँस नाहिं बाजै फेरि बाँसुरी।

(११) रसखान के भावों की अभिव्यक्ति अत्यन्त स्वाभाविक रीति पर हुई है, अतएव इनकी भाषा में लाक्षणिक प्रयोग बहुत कम मिलते हैं तथापि कुछ स्थलों पर ऐसे प्रयोग दिखाई दे जाते हैं; जैसे :—

तान सुनी जिनहीं तबहीं तिस लाज बिदा करि दीनी।

इस वाक्य में 'लाज बिदा करि दीनी' में लक्षणा शक्ति से काम लिया गया है।

(१२ रसखान की भाषा में कहीं कहीं शब्दों का तोड़ मरोड़ हुआ है। कई स्थानों पर कवि ने जान बूझ कर मरोड़ा है फल स्वरूप उन शब्दों की कर्कशता मिट गई है और उनमें माधुर्य आ गया है। जैसे—कोऊ कहै छुरी कोऊ भौन परी डरी कोऊ।

इस पंक्ति में 'छली' के स्थान पर छुरी का प्रयोग किया गया है जिससे कुछ माधुर्य आ गया है और साथ ही 'परी' और 'डरी' के साथ अनुप्रास बैठाने में भी सुविधा हुई है।

इसी प्रकार 'छला' शब्द के लिए 'छुरा' का प्रयोग किया गया है। परन्तु कहीं कहीं शब्दों का तोड़ मरोड़ अच्छा नहीं लगता। 'लाल रिझावन को फल पेती'। यहां 'पेती' शब्द 'पाती' के लिए प्रयुक्त हुआ है। इससे भाव समझने में कठिनाई होती है।

(१३) अपने छन्दों में संगीतात्मकता लाने के लिए रसखान ने अनुप्रास का प्रयोग किया है और यमक का व्यवहार कर के उन्होंने शब्दों में अर्थ का चमत्कार उपस्थित कर दिया है।

अनुप्रास कोटिक हूं कलधौत के धाम करील के कुजंन ऊपर वारौं।

(क की आवृति से अनुप्रास)

यमक—त्यों रसखानि, वही रसखानि, जू है रसखानि सो है रसखानी।

(रसखानि शब्द का भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयोग)

कृष्ण भक्त कवियों ने अपने भाव को अभिव्यक्त करने के निमित्त गीति-पद्धति अपनायी थी। सूर, मीराँ, कृष्णदास तथा अन्यान्य कृष्ण भक्तों ने गीति-पद्धति का ही आश्रय लिया था। भिन्न भिन्न राग रागिनियों में वे अपने गीतों को बाँधते थे। उस समय अन्य छन्दों में रचना अल्प्तर होती थी। गीत रचना के कारण अन्य छन्द दब से गये थे। रसखान ने इस ओर ध्यान दिया। उन्होंने अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवित्त सवैये का अवलम्ब लिया। रसखान ने अधिकतर मत्तगयन्द सवैया और मनहरण कवित्त नामक छन्दों में रचना की। कवित्त और सवैयों में रचना पहले पहल भाट किया करते थे परन्तु बीच में ये छन्द दब गये थे। रसखान ने फिर इन्हें अपनाया। प्रेम वाटिका की रचना दोहों में की गई है, कहीं कहीं सोरठे का भी प्रयोग किया गया है। रसखान का एक गीत भी मिला है। सम्भवतः उन्होंने और भी गीत लिखे होंगे।

रसखान की रचना मुक्तक कोटि की है। उन्होंने प्रबन्ध काव्य लिखने का प्रयास नहीं किया।

रसखान सामान्य जनता तथा पंडित समाज में समान रूप से आदर पाते रहे हैं क्योंकि उन्होंने भावों की पूर्ण अभिव्यंजना सरल तथा स्पष्ट शब्दों में की है। उन्होंने सहज स्वाभाविकता का कहीं भी साथ नहीं छोड़ा है। रसखान की रचना में कहीं भी आयास नहीं दिखाई देता और उनकी कविता परिश्रम साध्य नहीं है। हिन्दी साहित्य में रसखान का स्थान बहुत ऊँचा है।

बिहारी लाल

जीवन-वृत्त

बिहारी हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों में हैं। उन का जन्म स्थान प्रो० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ग्वालियर माना है। मिश्रबन्धु उनका जन्म स्थान बसुआ गोविन्दपुर मानते हैं तथा श्री राधा चरण गोस्वामी मथुरा मानते हैं। किन्तु मथुरा में बिहारी लाल की ससुराल थी और गोविन्दपुर उनके भानजे कुलपति मिश्र को मिला था। अतः ग्वालियर को ही उनका जन्म स्थान मानना अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है। बिहारी लाल के विभिन्न निवास स्थानों के विषय में एक दोहा प्रसिद्ध है जिससे इस विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाता है:—

जनम ग्वालियर जानियै, खंड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुघर, मथुरा बसि ससुराल॥

बिहारी लाल माथुर चौबे थे। उनका जन्म संवत् १६५२ वि० में माना जाता है। उन के पिता का नाम केशव राय बताया जाता है। ७–८ वर्ष की अवस्था मे ही वे अपने पिता के साथ ग्वालियर छोड़ कर ओड़छा चले गये। वहीं उन्होंने प्रसिद्ध कवि तथा आचार्य केशव दास के ग्रन्थों का अनुशीलन किया। यहीं उन्होंने संस्कृत तथा पाली का भी ज्ञान प्राप्त किया। उनके पिता ओड़छा के निकट रहने वाले महात्मा नरहरि दास के शिष्य हो गये।

संवत् १६६४ के आसपास बिहारी के पिता वह स्थान छोड़ कर बृन्दाबन आकर रहने लगे। बिहारी का विवाह मथुरा में ही किसी माथुर ब्राह्मण के यहां हुआ। विवाह के पश्चात् वे अपनी ससुराल मथुरा में ही रहने लगे। बिहारी के पिता केशव राय कवि थे। सम्भवतः उनकी पत्नी भी कवयित्री थीं। ठाकुर कवि का कथन है कि सतसई के सभी

दोहे बिहारी लाल के नहीं वरन् उनकी पत्नी के रचे हुए हैं। सम्भव है कि वह कवयित्री हो या एक कवि की पुत्र-वधू तथा दूसरे महाकवि की पत्नी होने के कारण उसे भी लोगों ने कवयित्री के रूप में प्रसिद्ध कर दिया हो। मिश्र वन्धुओं नें केशव-पुत्र वधू कह कर एक कवयित्री का उल्लेख किया है। सम्भव है कि वह प्रसिद्ध कवि केशवदास की पुत्र-वधू रही हो।

संवत् १६७५ के लगभग शाहजहाँ बृन्दावन आया और बिहारी की प्रतिभा देख कर बहुत प्रभावित हुआ। उसने बिहारी से आगरे में आकर रहने का आग्रह किया। आगरे आकर बिहारी ने उर्दू और फारसी का ज्ञान प्राप्त किया। यहीं उनकी भेंट प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना से हुई जिसकी प्रशंसा उन्होंने कई दोहों में कर के पर्याप्त पुरस्कार प्राप्त किया।

आगरे में ही कुछ राजाओं को बिहारी की प्रतिभा देखने का अवसर मिला। उन लोगों ने उनकी कविता से प्रभावित हो कर उनकी वार्षिक वृत्ति बाँध दी। वे अपनी वृत्ति लेने के लिये अनेक राज्यों में जाया करते थे। सम्वत् १६६१-६२ के आस पास वे अपनी वृत्ति लेने आमेर गये थे तो उन्हें पता लगा कि वहां के महाराजा जयसिंह अपनी नयी रानी के प्रेम में आबद्ध हो कर महल के भीतर ही पड़े रहते हैं। उन्होंने राज्य के कार्यों को भी देखना छोड़ दिया था। किसी को भी उनसे कुछ कहने सुनने का साहस नहीं होता था। उनकी प्रधान रानी अनंत कुमारी इससे बहुत चिन्तित रहा करती थी। बिहारी को एक उपाय सूझा। बहुत प्रयत्न करके वे निम्नलिखित दोहा महाराज के पास भेजने में सफल हो सके:—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सौं बँधौ, आगे कौन हवाल॥

इस दोहे से महाराज सचेत हो गये और शीघ्र ही महल छोड़ कर बाहर आये। उन्होंने बिहारी को बहुत पुरस्कार दिया तथा इस प्रकार के प्रत्येक दोहे के लिए एक एक मोहर पुरस्कार देने का वचन दिया। बिहारी ने इसे स्वीकार किया। प्रधान महारानी अनन्त कुमारी को जब इस घटना की सूचना मिली तो उन्होंने प्रसन्न हो कर बिहारी लाल को 'काली पहाड़ी' नामक गांव दिया। अब बिहारी आमेर के दरबारी कवि हो गये और सुख-पूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे। कुछ समय के उपरान्त जब महारानी अनंत कुमारी के पुत्र कुमार राम सिंह कुछ बड़े हुए तो महारानी के कहने से बिहारी ने ही कुमार का विद्यारम्भ-संस्कार कराया। कुमार के पढ़ने के लिए बिहारी ने अपने रचे सभी दोहों का संग्रह किया। इस के साथ ही उन्होंने अन्य कवियों के दोहों का भी संग्रह प्रस्तुत किया।

बिहारी निस्संतान थे, अतः उन्होंने अपने भतीजे निरंजन को अपना पुत्र बनाया। परन्तु जन श्रुति है कि कृष्ण लाल नामक इनको कोई पुत्र था। रत्नाकर जी का अनुमान है कि सम्भवतः निरंजन जी का नाम निरंजन कृष्ण होगा; कोई उन्हें निरंजन कहता रहा होगा और कोई 'कृष्ण'; अतः ये दोनों एक ही व्यक्ति हैं।

बिहारी के दोहों के अध्ययन से स्पष्ट रूपेण लक्षित हो जाता है कि वे रसिक व्यक्ति थे। किन्तु साथ ही यह भी ध्यान में रखने की बात है कि इनकी रसिकता नागरिक जीवन की रसिकता है। उन्होंने अपने काव्य के लिए विषय सामान्य जीवन से लिया था, परन्तु उनका जीवन मुख्यतः नागरिक जीवन था और साधारण जीवन की सरलता और मधुरता में उनकी वृत्ति उस प्रकार जम नहीं सकी। वे नागरता के लिए ही व्यग्र रहे। उनका स्वभाव भी नागरिकों के समान विनोदी था। "कहने की यह वक्रता, इनके स्वभाव की वक्रता का भी संकेत करती है;"१

बिहारी लाल को अपने जीवन में अनेक प्रकार के कटु अनुभव प्राप्त हुए थे। उन्होंने अपने नीति सम्बन्धी दोहों में प्रायः उन्हीं अनुभवों की अभिव्यक्ति की है। उदाहरण के लिए कुछ दोहे दिये जा सकते हैं। निम्न-लिखित दोहे में घर-जमाई अर्थात् ससुराल में रहने वाले दामाद के मान-रहित होने का उल्लेख है। घर-जमाई का भी मान 'पूस-दिन-मान' के समान घट जाता है :--

आवत जात न जानियतु, तेजहिं तजि सियरानु।
घरहँ जँवाइ लौं घट्यौ, खरौ पूस-दिन-मानु॥

बिहारी के जीवन-वृत्त से हमें पता चलता है कि वे अपनी ससुराल मथुरा में ही रहा करते थे। इस प्रकार का अनुभव उनका निजी अनुभव है। किसी दुष्ट व्यक्ति के उच्च पद प्राप्त करने पर निम्न-लिखित दोहा कहा गया है :—

बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु।
भलौ भलौ कहि छोड़ियै, खोटैं ग्रह जपु दान॥

कवि की ये उक्तियाँ निस्संदेह उनके कटु अनुभवों के आधार पर बनी हैं। जो लोग जीवन का गहरा अनुभव कर लेते हैं, उन्हीं की ऐसी उक्तियाँ हो सकती हैं।

बिहारी की मृत्यु संवत् १७२० के आसपास हुई।

रचनाएँ

बिहारी लाल रीति-काल के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उन्होंने लगभग साढ़े सात सौ दोहों की रचना की थी जिनका संग्रह बिहारी-सतसई है। सतसई की रचना बिहारी ने महाराजा जय सिंह के लिए की थी। निम्न-लिखित दोहे में कवि ने इस बात की ओर संकेत किया है :—

हुकुम पाय जय साह को, हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद॥

बिहारी ने किसी क्रम से दोहों की रचना नहीं की थी, इसलिए सतसई पहले क्रमबद्ध नहीं थी। जन श्रुति है कि औरंगजेब के पुत्र आजम शाह ने विषय के अनुसार इन दोहों

१ बिहारी की वाग् विभूति—प्रो॰ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

को क्रमबद्ध कराया था। इसीलिए वह आजम शाही क्रम के नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु प्रो० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आजम शाही क्रम का दूसरा ही इतिहास बताते हैं। उन्हीं के शब्दों में सुनिए :—"बहुत से लोग भ्रम-वश यह समझने लगे हैं कि यह क्रम दिल्ली के बादशाह आजम शाह ने बँधवाया था। पर वस्तुत: यह क्रम आजम गढ़ के तत्कालीन अधिकारी आजम खां के अनुरोध से जौनपुर के हरि जू नाम के किसी कवि ने लगाया था।' इस क्रम का नाम आजम शाही ही धोखे की टट्टी है; वस्तुतः इसका नाम 'आजम खानी' होना चाहिए। इस भ्रम का प्रचार 'लाल–चन्द्रिका' के कारण हुआ है।"१

बिहारी की लोक-प्रियता एक ही ग्रन्थ सतसई पर अवलम्बित है। यह ग्रन्थ जितना प्रसिद्ध तथा लोक-प्रिय हुआ उतना हिन्दी में राम चरित मानस को छोड़ कर दूसरा ग्रन्थ नहीं हुआ। सतसई की पचासों टीकाएँ निकल चुकी हैं। कुछ प्रसिद्ध टीकाएँ निम्न-लिखित हैं :—(क) कृष्ण कवि की टीका, यह टीका कवित्तों में है और इसका रचना काल संवत् १७१६ है। (ख) सूरति मिश्र की अमर चन्द्रिका, रचना-काल संवत् १७९४ है। (ग) हरिचरण दास ने हरि-प्रकाश नाम की टीका संवत् १८३४ में लिखी। (घ) लल्लू लाल ने लाल-चन्द्रिका नाम की टीका सन् १८१६ ई० में प्रकाशित की। (ङ) सरदार कवि की टीका। (च) प्रभुदयाल पाण्डेय की लिखी टीका संवत् १९५३ में निकली। इन टीकाओं के अतिरिक्त अनेक कवियों ने बिहारी के दोहों का भाव छप्पय, कुंडलिया, कवित्त, रोला आदि में पल्लवित करने का प्रयास किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० अम्बिका दत्त व्यास आदि के ऐसे ही प्रयास थे यहां तक कि संस्कृत में भी दोहों का अनुवाद किया गया। बुन्देलखंड के मुंशी देवी प्रसाद प्रीतम ने इस दोहों का अनुवाद उर्दू शेरों में किया।

आधुनिक काल में भी बिहारी सतसई की तीन टीकाएँ तीन प्रसिद्ध साहित्य मर्मज्ञों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। पहली टीका पं० पद्म सिंह शर्मा द्वारा लिखित 'संजीवन भाष्य' है, परन्तु शर्मा जी के देहावसान के कारण यह टीका पूर्ण नहीं हो सकी। दूसरी टीका लाला भगवान दीन द्वारा लिखित 'बिहारी-बोधिनी' है। यह टीका विशेषतः विद्यार्थियों के लिए लिखी गई थी और वस्तुतः उनके उपयोग की वस्तु है। तीसरी टीका 'बिहारी-रत्नाकर' है जिसके रचयिता ब्रजभाषा के प्रसिद्ध आधुनिक कवि श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' हैं। यह टीका बहुत अधिक परिश्रम तथा छानबीन से लिखी गई है। टीकाकार ने अत्यधिक सावधानी से काम लिया है और यह बिहारी सतसई की सर्वाधिक पूर्ण टीका है। इस प्रकार बिहारी से सम्बन्ध रखने वाला एक अलग साहित्य ही प्रस्तुत हो गया है।

---

१ बिहारी की वाग् विभूति।

Encyclopaedia Britannica में सतसई के विषय में लिखा है :—The Satsai is perhaps the most celebrated work of poetic art, as distinguished from narrative and simpler styles. Each couplet is independent and complete in itself and is a triumph of skill in compression of language, felicity of description and rhetorical artifice.

मुक्तक-रचना तथा बिहारी का आचार्यत्व

बिहारी ने केवल सतसई की रचना की और इतने अल्प परिमाण में रचना करके भी वे अमर कीर्त्ति के अधिकारी हुए। उनका क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। बिहारी ने जीवन की विभिन्न समस्याओं पर गम्भीर विचार करने तथा उनका समाधान निकालने का प्रयास नहीं किया। उनका क्षेत्र केवल श्रृंगार का है; श्रृंगार के ही अनेक क्षेत्रों में उन्होंने अपनी दृष्टि दौड़ाई। अनेक हावों, भावों, विभावों तथा अनुभावों का अत्यन्त सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा विश्लेषण बिहारी ने किया।

जीवन का व्यापक चित्र प्रबन्ध काव्य में ही सम्भव है, मुक्तक में नहीं। बिहारी को जीवन का पूर्ण तथा संश्लिष्ट चित्र देना अभीष्ट नहीं था, इसलिए उन्होंने प्रबन्ध काव्य न लिख कर मुक्तक की रचना की। मुक्तक काव्य के लिए जिन गुणों की अपेक्षा होती है, वे पूर्ण रूप से बिहारी में वर्त्तमान हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने इस सम्बन्ध में निम्न-लिखित पंक्तियां लिखी हैं, "मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वन-स्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसीसे वह सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खंड दृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मंत्र-मुग्ध सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है। अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्त्तमान थी। इसीसे वे दोहे ऐसे छोटे छंद में इतना रस भर सके हैं। इनके दोहे क्या हैं रस के छोटे छोटे छींटे हैं।"[१]

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास।

प्रबन्ध काव्य में एक प्रवाह होता है और इस प्रवाह में पड़ कर नीरस पद भी नीरस नहीं रह जाते। परन्तु मुक्तक में प्रवाह नहीं होता अतः नीरस मुक्तक पद कभी भी सरस नहीं हो सकता। मुक्तक-रचना में प्रत्येक पद एक दूसरे से स्वतंत्र रहता है परन्तु जीवन का कोई मार्मिक चित्र लेकर यदि रचना की जाय तो उसका प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। मुक्तक में यदि किसी व्यंग्य का ही आधार लिया जाय तो उसकी प्रभावोत्पादकता में वृद्धि हो जाती है। यदि किसी मुक्तक में जीवन का कोई खंड चित्र वर्णित नहीं हो तो उसमें न सरसता आ सकती है और न प्रभावोत्पादकता ही। गोस्वामी तुलसी दास की गीतावली में रामचरित मानस की अपेक्षा अधिक सरसता है क्योंकि गीतावली में केवल उन्हीं प्रसंगों का समावेश किया गया है जो हमारी कोमल भावनाओं को अधिक स्पष्टता से उद्दीप्त करते हैं। संस्कृत काव्य अमरु-शतक में भी कवि ने ऐसे ही प्रसंगों का समावेश किया है जो हमारे अन्तस्तल के भावों को जागृत करते हैं।

हिन्दी में मुक्तक रचना करने वालों में अधिकांश की रचना केवल सूक्तियों की श्रेणी में आती हैं। ' सूक्तियां किसी रस या भाव की व्यंजना या उद्रेक नहीं करतीं, वे केवल चमत्कार-विधायक होती हैं।"१ सूक्तियों में प्रायः नीति की वार्त्ता कही जाती है अथवा तथ्य-कथन किया जाता है। बिहारी के दोहों में सूक्तियां तो मिलती है, परन्तु उनमें कोरा तथ्य-कथन ही नहीं रहता। उन्होंने इस प्रकार के दोहों में सदा ऐसी युक्तियों से काम लिया है जो उस तथ्य की सार्थकता सिद्ध कर सकें। केवल शब्द-वैचित्र्य के लिए बिहारी ने बहुत कम दोहों की रचना की है। पं० पद्म सिंह शर्मा ने अनेक उदाहरण देकर दिखाया है कि बिहारी के अनेक दोहों पर आर्या-सप्त-शती तथा गाथा-सप्त-शती की छाया विद्यमान है किन्तु उन्होंने यह भी प्रमाणित कर दिया है कि जो भाव बिहारी ने लिये उन्हें उन्होंने अपनी प्रतिभा के सहारे अत्यन्त सुन्दर रूप प्रदान किया है।

रीति काल के कवि केवल कवि कहलाने से सन्तुष्ट नहीं प्रतीत होते; उन्हें आचार्य भी बनना आवश्यक जान पड़ता था। संस्कृत साहित्य में ऐसी बात नहीं हुई। वहां कवि और आचार्य भिन्न भिन्न व्यक्ति हुआ करते थे। हिन्दी के रीति कालीन कवियों ने लक्षण ग्रन्थ लिखना आवश्यक समझा। किन्तु आचार्यत्व के लिए जिस विद्वत्ता तथा विवेचन-शक्ति की अपेक्षा रहती है, वह शक्ति उनमें से बहुत कम कवियों में थी। फल-स्वरूप इन कवियों के लक्षण-ग्रन्थों में दी हुई परिभाषाएँ प्रायः अपूर्ण तथा भ्रान्ति-पूर्ण रहीं। इन आचार्यों में से कई प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे, परन्तु आचार्यत्व के चक्कर में पड़ जाने के कारण उनमें से भी अधिकतर कवियों की प्रतिभा का पूर्ण विकास नहीं हो पाया।

बिहारी ने किसी लक्षण ग्रंथ की रचना नहीं की किन्तु उनकी सतसई के सभी श्रृंगारी दोहे 'नख-शिख' 'नायिका भेद', 'षट् ऋतु' आदि के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, और

---

१ बिहारी की वाग्विभूति—प्रो० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

वस्तुतः कई टीका-कारों ने उन्हें इसी प्रकार के विषय-क्रम से सजा कर रखा भी है। जान पड़ता है कि दोहों की रचना करते समय बिहारी का ध्यान लक्षणों पर अवश्य था। उनके श्रृंगारी दोहों में हाव, भाव, अनुभाव, विभाव आदि के उदाहरण पर्याप्त संख्या में उपलब्ध होते हैं। शब्द की शक्तियों, लक्षणा और व्यंजना, के भी सुन्दर उदाहरण सतसई में अनेकत्र विद्यमान हैं। रीति-शास्त्र का ग्रन्थ नहीं लिखने पर भी बिहारी रीति शास्त्र की लकीर से सट कर चलते जान पड़ते हैं। इसीलिए उन्हें रीति काल का प्रतिनिधि कवि माना जाता है।

बिहारी का एक एक दोहा एक भाव-चित्र प्रस्तुत करने वाला है। प्रत्येक दोहे से उनके सूक्ष्म निरीक्षण तथा कल्पना की उड़ान का पता चलता है। उनके दोहों में अलंकार का अपूर्व प्रदर्शन तो है ही, किन्तु अलंकारों को हटा कर देखें तो कई दोहों में प्रेम का वास्तविक चित्र भी दृष्टि-गोचर होगा; उनके सच्चे कवित्व के दर्शन होंगे। रीति कालीन कवियों ने प्रायः काव्य के वहिरंग पर ही ध्यान दिया अन्तरंग पर नहीं; परन्तु बिहारी ने अन्तरंग और वहिरंग दोनों पक्षों पर समुचित ध्यान दिया। उनमें कवित्व तथा आचार्यत्व का अपूर्व समन्वय है सतसई की प्रशंसा में निम्नलिखित दोहा बहुत प्रसिद्ध है :—

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर॥

इस एक ही दोहे में सतसई की सुन्दर समालोचना है। बिहारी की प्रशंसा में डा० ग्रियर्सन ने लिखा है :—

Bihari Lal has been called the Thomson of India, but I do not think that either he or any of his brother poets of Hindustan can be use fully campared with any western poet. I know nothing like his verses in any European language.

संयोग-वर्णन

रीति काल में प्रधानतः श्रृंगार रस की रचना हुई, इसीलिए इस काल को कुछ विद्वानों ने 'श्रृंगार काल' नाम दिया है इस काल में मुक्तक रचना का ही प्राधान्य रहा। मुक्तक में प्रेम का लौकिक पक्ष मिट सा जाता है। प्रेमी और प्रेमिका की सम्पूर्ण वृत्तियां संसार से हट कर अपने में ही सीमित हो जाती हैं और उनके समक्ष प्रेम का एकान्त रूप ही उपस्थित होता है। भारतीय मनोवृत्ति को प्रेम का लौकिक पक्ष ही अधिक आह्लाद कारक रहा है। हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों में प्रेम के दोनों पक्ष लौकिक और एकान्त—दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु मुक्तक रचना में प्रेम के लौकिक पक्ष की सर्वथा उपेक्षा की गई है और हमारे सामने जो प्रेम आता है वह एकान्त जीवन का ही

है। सूरदास ने भी मुक्तक रचना की किन्तु उन्होंने कृष्ण का जो प्रेम ग्रहण किया, उसमें जीवन की अनेक घटनाओं का संयोग भी किया। अधिक नहीं तो मथुरा, गोकुल, वृन्दावन, यमुना का किनारा, करील कुंज, दही दूध आदि तो थे ही। परन्तु रीति काल में प्रेम अत्यन्त सीमित हो गया, महलों की चहारदीवारी के अन्तर्गत ही प्रेम की सारी लीलाएँ समाप्त हो गईं। नायिका भेद और पाखंड पूर्ण प्रेम के वर्णन में ही रीति कालीन कवियों ने अपनी सारी प्रतिभा का व्यय किया। सौत और खंडिता नायिकाओं की ही उक्तियों में चमत्कार लाने में कवि गण व्यस्त रहे। फिर भी परम्परामुक्त तथा स्वच्छन्द प्रेम का वर्णन करने वाले कुछ कवि इस काल में हुए जिनके काव्य में प्रेम का वास्तविक रूप दिखाई देता है।

संयोग-श्रृंगार में विशेषतः आलम्बन के रूप का तथा विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं का वर्णन देखा जाता है। बिहारी लाल का ध्यान थोड़ा बहुत सब की ओर गया परन्तु उन्होंने आलम्बन के रूप तथा उसकी चेष्टाओं और मुद्राओं का विशेष रूप से चित्रण किया है। ऋतुओं का वर्णन उद्दीपन के रूप में किया गया है। नख-शिख वर्णन भी संयोग पक्ष के ही अन्तर्गत आता है। बिहारी ने सभी अंगों का वर्णन किया और उन अंगों में पहने जाने वाले आभूषणों का भी परम्परानुसार उल्लेख किया। इस प्रकार बिहारी के संयोग-वर्णन में प्रायः सभी परम्परागत विषयों का समावेश हो गया है।

बिहारी ने प्रसंगों की उद्भावना बड़ी निपुणता से की है फलस्वरूप नायिका-भेद की बँधी-बँधाई परिपाटी की सीमा में भी उन्होंने अनेकत्र नई कल्पनाएँ दिखाई हैं। उनके काव्य में नायिका-भेद के उदाहरण जिस प्रकार मिलते हैं उसी प्रकार प्रेम की स्वतंत्र उद्भावना के भी मिलते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी को अच्छा कवि-हृदय प्राप्त था परन्तु परम्परा का अनुसरण करने के कारण उन्होंने स्वतंत्र उद्भावना की ओर विशेष रुचि का प्रदर्शन नहीं किया।

कुछ उदाहरण देखें प्रिय के सम्पर्क में आने वाली प्रत्येक वस्तु प्रेमी के लिए प्रेम का आलम्बन बन जाती है। नायक के द्वारा उड़ायी हुई गुड्डी को भी नायिका प्रेम पूर्ण दृष्टि से देखती है। यहां तक कि उस गुड्डी की छाया भी प्रेम का आलम्बन बन गई है।

उड़त गुडी लखि लालन की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह॥

नायक को कबूतर उड़ाते नायिका देख रही है; उसकी दशा देखिए—

ऊँचै चितै सराहियत, गिरह कबूतरु लेतु।
झलकित दृग मुलकित बदनु, तनु पुलकित किहिं हेतु॥

कभी कभी ऐसा होता है कि जब कोई किसी के ध्यान में पूर्ण रूप से मग्न हो जाता है, तब वह अपने को उसी रूप में देखने लग जाता है। नायिका नायक के ध्यान में इस

प्रकार मग्न है कि वह अपने को नायक ही समझने लगी है। यह भाव-मग्नता का चरमोत्कर्ष है:—

पिय के ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि।
आपु आपु ही आरसी लखि रीझति रिझवारि॥

नायक अपने प्रेम-पात्र को कुछ कष्ट भी देकर उसकी चेष्टाएँ देखने का आनन्द उठाने को उत्सुक है। मुग्धाओं को चिढ़ा कर अथवा चौंका कर उनकी भावभंगी देखने की प्रवृत्ति साधारणतः नायकों में होती है। एक नायक अपनी नायिका को साफ रास्ते पर नहीं ले जा कर कंकरीले पथ पर ले जा रहे हैं। नायिका के पैरों में कंकड़ गड़ रहे हैं, अतः वह 'सी सी' करने लगती है। नायक इसी का आनन्द उठाना चाहते हैं।

नाँक चढ़ै सीबी करै, जितै छबीली छैल।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै त्यौ कँकरीली गैल।

प्रेमी कुछ कष्ट उठा कर भी अपने प्रेम-पात्र का सान्निध्य प्राप्त करना चाहता है। कष्ठ भी उसे उस दशा में आनन्द-प्रद जान पड़ता है। किसी नायिका के पैर में काँटा गड़ गया है किन्तु उसे वह दुःख नहीं दे पाता क्योंकि नायिका इसी बात में अत्यन्त सन्तुष्ट है कि उसका नायक उस के पैर से काँटा निकाल रहा है:—

इहिं काँटैं मो पाइ गड़ि लीनी मरति जिवाइ।
प्रीति जतावत भीति सौं मीत जो काढ़यौ आइ॥

आँख मिचौनी के खेल में नायक ने नायिका की आँखें मूँदी हैं। नायिका पहचान कर भी कर-स्पर्श के सुख का अनुभव करती हुई नहीं पहचानने का बहाना करती है:—

प्रीतम-दृग-मींचत प्रिया पानि-परस-सुख पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं नेकु न होति जनाइ॥

अन्य कवियों ने कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का वर्णन किया है परन्तु बिहारी ने केवल सामान्य रूप से नायक-नायिकाओं का वर्णन किया। फिर भी कृष्ण की लीलाओं के सम्बन्ध में रचित इनके दोहे बहुत सुन्दर हैं। निम्न-लिखित हाव भरे दोहे द्रष्टव्य हैं:—

(क) बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहन हँसै, दैन कहै, नटि जाइ॥

(ख) उन हरकी हँसि कै इतै इन सौंपी मुसकाइ।
नैन मिले मन मिलि गए दोऊ मिलवत गाइ॥

नायक ने नायिका के ललाट में टीका लगाया है परन्तु कम्प के कारण वह टेढ़ा हो गया है, तो भी नायिका उससे अत्यन्त गर्व का अनुभव कर रही है:—

कियो जो चिबुक उठाइ कै कंपित कर भरतार।
टेढ़ीयै टेढ़ी फिरति, टेटैं तिलक लिलार॥

अपनी मुँदरी में नायक का प्रतिबिम्ब नायिका किस तल्लीनता से देख रही है :—

कर-मुँदरी की आरसी प्रतिबिम्बित प्यौ आइ।
पीठि दियैं निधरक लखै इकटक डीठि लगाइ ॥

प्रेम के अन्तर्गत लीलाओं के अतिरिक्त उक्तियां भी आती हैं। बिहारी ने अपने दोहों में प्रेम-सम्बन्धी उक्तियां कम ही रखी हैं। "उक्ति प्रत्युक्ति का जैसा विधान प्रेम की नाना प्रकार की वृत्तियों के प्रकाशन में होना चाहिए वैसा बिहारी में नहीं है।" १ फिर भी नीचे लिखे दोहे में उक्ति प्रत्युक्ति का विधान है :—

बाल, कहा लाली भई, लोइन-कोइन माँह।
लाल, तिहारे दृगनु की, परी दृगनि मैं छाँह ॥

रूप-वर्णन के अन्तर्गत नख-शिख तथा सुकुमारता आदि की व्यंजना करने वाली रचनाएँ आती हैं। रूप का वाह्य वर्णन तो बिहारी ने अत्यधिक मात्रा में किया है परन्तु हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन कुछ कम किया है। एक उदाहरण देखिए :—

छुटे छुटावत जगत तैं सटकारे, सुकुमार।
मन बाँधत बेनी बँधे नील छबीले बार ॥

नख-शिख के अन्तर्गत बिहारी ने प्रायः सभी प्रधान अंगों का वर्णन किया है परन्तु नेत्र का वर्णन अनेक दोहों में है। उन्होंने नेत्रों का चित्रण अनेक प्रकार से—दृष्टि-संचार, उनकी चंचलता, बेधकता, विशालता आदि का—किया है।

पहुँचति डटि रन-सुभट लौं रोकि सकैं सब नाँहि।
लाखन हूँ की भीर मैं आँखि उहीं चलि जाँहि ॥

एक दूसरा दोहा भेदकातिशयोक्ति अलंकार में है :—

अनियारे, दीरघ दृगनु, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरे कछू जिहिं बस होत सुजान ॥

बिहारी ने नख शिख में केवल अंगों का ही वर्णन नहीं किया प्रत्युत् बिंदी, मेहँदी, केश-विन्यास आदि अनेक श्रृंगारों का भी किया है। शरीर के अनेक आभूषणों तथा कंचुकी आदि आभरणों का भी वर्णन है। बिंदी तथा कुटिल अलक का सजीव चित्रण देखिए :—

(क) कहत सबै बेंदी दिये, आँक दसगुनो होत।
तिय-लिलार बेंदी दिये, अगनित होत उदोत ॥

(ख) कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोत
बंक बिकारी देत ज्यों दाम रूपैया होत ॥

बिहारी ने वयः सन्धि का सजीव वर्णन किया है। शैशव बीत रहा है और यौवन का आगमन होने ही वाला है। कवि ने इसे 'धूप-छाँही' रंग कहा है :—

१ प्रो० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

छुटी न सिसुता की झलक झलक्यो जोबन अंग।
दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफता रंग ॥

नायिका की असाधारण सुकुमारता का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन बिहारी ने अत्यन्त दक्षता से किया है। नायिका इतनी सुकुमार है कि शोभा का ही भार सँभालने में उसके पैर डगमगा रहे हैं, फिर आभूषणों का भार वह किस प्रकार सँभालने में समर्थ हो सकती है? शोभा के ही कारण उसके पांव सीधे नहीं पड़ते।

भूषण भार सँभारिहैं क्यों यह तन सुकुमार।
सूधो पायँ न परत महि सोभा ही के भार ॥

एक दूसरे दोहे में नायिका की अंगुलियों की लालिमा का वर्णन करते हुए कवि ने उसकी सुकुमारता की व्यंजना की है। बिछुओं के भार से नायिका के पैरों की अंगुलियों से जैसे रक्त निचुड़ रहा है :—

अरुन बरन तरुनी-चरन, अंगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरँग रँगु सी मनौ चपि बिछुवनु कैं भार ॥

बिहारी ने कोमलता, दीप्ति आदि का अधिकतर वर्णन अनुमान के सहारे किया जिसका मूल्य काव्य की दृष्टि से बहुत अधिक नहीं हो सकता। एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

पत्रा हीं तिथि पाइयै वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पूनौई रहै आनन ओप उजास ॥

नायिका के मुख के प्रकाश का ऐसा वर्णन चमत्कार-पूर्ण अवश्य है परन्तु इसमें रस-मग्न करने की शक्ति का सर्वथा अभाव है। किसी के मुख की दीप्ति का जो प्रभाव हृदय पर पड़ता है उसीका कथन चित्ताकर्षक हो सकता है; इस प्रकार अनुमान पर आश्रित वर्णन में मनोहरता का अभाव ही रहता है।

विभाव के अन्तर्गत आलम्बन के अतिरिक्त उद्दीपन भी होता है। आलम्बन की चेष्टाएँ उद्दीपन के ही अन्तर्गत आती हैं। श्रृंगार रस में वाह्य उद्दीपन भी हुआ करते हैं। नदी तट, चाँदनी, शीतल पवन, ऋतु आदि श्रृंगार रस के उद्दीपन हैं। बिहारी ने इन सब का वर्णन अधिकतर उद्दीपन के ही रूप में किया है। कहीं कहीं ऋतुओं का वर्णन उद्दीपन से मुक्त भी है, परन्तु अनेक टीकाकारों ने ऐसे वर्णनों का भी विधान उद्दीपन के ही अनुकूल कर लिया है। वसन्त-वर्णन का उदाहरण देखिए :—

छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधुरी-गंध।
ठौर ठौर झौंरत झँपत भौंर भौंर मधु अंध ॥

ग्रीष्म के कठोर ताप का वर्णन देखिए :—

कहलाने;एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगतु तपोवन सौं कियो दीरघ दाघ निदाघ ॥

पावस की रात के घने अंधकार का वर्णन निम्न-लिखित दोहे में है :—

पावस-घन-अँधियार महि रह्यौ भेद नहिं आनु ।
राति द्यौस जान्यो परतु लखि चकई चकवानु ॥

बिहारी के संयोग-वर्णन में सब प्रकार की रचनाएँ पाई जाती हैं—परम्परा के अनुकूल संकुचित रचना भी और प्रेम का स्वतंत्र वर्णन भी। तत्कालीन रुचि परम्परानुकूल रचना को अधिक पसन्द करती थी। बिहारी ने लोक-रुचि पहचान कर अपनी कविता लिखी, इसलिए उनकी इतनी प्रसिद्धि हो सकी। इन्हीं सात सौ दोहों के अन्तर्गत उन्होंने प्रेम की सभी अवस्थाओं का वर्णन कर दिया। संयोग शृंगार के अन्तर्गत सूक्ष्म से सूक्ष्म चेष्टा का पर्यवेक्षण और उसका सजीव वर्णन करने में बिहारी समर्थ हुए। "बिहारी मध्य युग के एक बहुत समर्थ कवि थे, इसमें सन्देह नहीं और इसके साथ ही यह भी मान लेने में आनाकानी नहीं करनी चाहिए कि उनकी जोड़ का हिन्दी में कोई दूसरा कवि नहीं हुआ, क्योंकि मुक्तकों में जो-जो विशेषताएँ होनी चाहिएँ वे बिहारी में सबसे अधिक मात्रा में पाई जाती हैं। दुराग्रह करने वालों की दवा ही क्या है?" १

विरह-वर्णन

प्रेम का वास्तविक निवास वियोग में ही होता है। संयोग में वृत्तियां वहिर्मुखी रहतीं हैं, किन्तु विरह में वे अन्तर्मुखी हो जाया करती हैं। वियोग में ही प्रेम का अधिकतम विस्तार दिखाया जा सकता है। विरह में की प्रेम की वृत्ति का इतना प्रसार हो जाता है कि जड़ पदार्थ भी प्रेम की वार्त्ता सुनाने के लिए योग्य मान लिये जाते हैं। ऐसे उदाहरणों से साहित्य भरा पड़ा है।

विप्रलम्भ शृंगार के मुख्य चार भेद माने गये हैं · पूर्व-राग, मान, प्रवास और करुण। इनमें प्रवास के ही अन्तर्गत वियोग-पक्ष की सारी सामग्री उपयंग में लाई जा सकती है। वास्तविक विप्रलंभ यहीं है और वेदना की तीव्रता तथा गम्भीरता के दर्शन यहीं होते हैं। एक ही स्थान पर रहने वाले नायक नायिका मान के कारण विरह तथा वेदना का जो ढोंग करते हैं, वह वास्तविकता से कोसों दूर रहता है और ऐसा वर्णन सहृदय जनों के हृदय पर प्रभाव डालने में सर्वथा असमर्थ रहता है। पूर्वानुराग के वर्णन में भी वह शक्ति नहीं रहती।

वियोग-पक्ष में वेदना की अभिव्यंजना करने का पर्याप्त स्थान रहता है। आचार्यों ने ग्यारह काम दशाओं का उल्लेख किया है। अभिलाषा; चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि; जड़ता, मूर्च्छा और मरण। इन काम-दशाओं का वर्णन भी विरह वेदना के अन्तर्गत आता है। बिहारी ने सभी का वर्णन किया परन्तु 'व्याधि'

---

१ प्रो० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

का विस्तार अधिक किया है । 'मरण' का वर्णन करने में रसान्तर होने का भय बना रहता है इसलिए इसका वर्णन करने की परिपाटी कवियों में प्रायः नहीं है। किन्तु विहारी ने अत्यन्त कौशल से 'मरण' दशा का भी उल्लेख कर दिया है जिससे रसान्तर नहीं होने पाया है ।

कहा कहौं वाकी दसा हरि प्रानन के ईसु ।
विरह ज्वाल जरिबो लखैं, मरिबो भई असीस ॥

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि बिहारी ने संयोग-वर्णन में एक ओर बँधी परम्परा के अनुकूल वर्णन किया है तो दूसरी ओर प्रेम की स्वतंत्र उद्भावना की है । उसी प्रकार विरह वर्णन में भी उन्होंने दो ढंग अपनाये हैं । विरह-वर्णन का ढंग तो ऊहात्मक है परन्तु पत्रिकादि के वर्णन में स्वाभाविक प्रेमके प्रसार की मार्मिक अभिव्यक्ति की गई है । विरह वर्णन में भी कहीं कहीं ऊहात्मक ढंग छोड़ कर स्वाभाविकता की रक्षा की गई है, परन्तु ऐसे स्थल कम ही हैं । एक उदाहरण देखा जाय । नायिका विरह के कारण अत्यन्त दुर्बल हो गई है। उसके मुख मंडल की कान्ति समाप्त हो गई है अतः उसके पास रहने वाली सखियां भी उसे कठिनाई से पहचान पाती हैं:—

कर के मीड़े कुसुम लौं गई बिरह कुम्हिलाइ ।
सदा समीपीनि सखिनु हूँ नीठि पिछानी जाइ ॥

किन्तु विरह वर्णन के अधिकतर दोहों में स्वाभाविकता की रक्षा नहीं हो सकी और वर्णन उहात्मक हो गया है । कवि का उद्देश्य चमत्कार प्रदर्शन ही रह गया है, वेदना की सच्ची अभिव्यक्ति नहीं ।

इत आवति चलि जाति उत चली छ सातक हाथ ॥
चढ़ी हिंडोरैं सैं रहै लगी उसासनु साथ ।

दुर्बलता की इस नाप जोख पर निश्चित रूप से विदेशी प्रभाव पड़ा है और यह नाप जोख वास्तविक अनुभूति से बहुत दूर हैं । केवल चमत्कार प्रदर्शन के उद्देश्य से लम्बी दौड़ लगाना काव्य के हित में ठीक नहीं बहु संख्यक मुक्तक रचयिताओं ने विरह वर्णन में ऐसी ही मनोवृत्ति का परिचय दिया है । तर्क और अनुमान के सहारे तमाशा दिखाने की प्रवृत्ति शोचनीय है । बिहारी के कई दोहों में यह प्रवृत्ति दृष्टि-गत होती हैं:—

(क) आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति ।
साहस ककै सनेह बस सखी सबै ढिग जाति ॥
(ख) सीरैं जतननु सिसिर ऋतु, सहि बिरहिनि-तन-तापु ।
बसिबे कौं ग्रीषम-दिननु पर्‌यौ परोसिनि पापु ॥
(ग) औंधाई सीसी, सुलखि बिरह बरति बिललात ।
बिचहीं सूखि गुलाब गौ छींटों छुई न गात ॥

(घ) जिहिं निदाघ-दुपहर रहै भई माघ की राति।
तिहिं उसीर कीं रावटी खरी आवटी जाति॥

नायक विदेश में जब पथिक के मुख से सुन लेता है कि उस गाँव में माघ की रात्रि में लू चलती है तो यह अनुमान कर लेता है कि नायिका अभी जीवित है:—

सुनत पथिक मुँह माह निसि चलति लुवैं उहिं गाम!
बिन बूझैं, बिनही कहैं, जियत बिचारी बाम॥

बिहारी ने कुछ अन्य दोहों में नाप जोख की चर्चा की परन्तु वहां अधिक अस्वाभाविकता नहीं आ पाई है: —

रहै बरोठे में मिलत पिउ प्राननि के ईसु।
आवत आवत की भई, विधि की घरी घरी सु॥

'ब्रह्मा की घड़ी' कह कर कवि ने नाप जोख करने का प्रयत्न नहीं किया है। सामान्य रूप से वार्त्तालाप में भी 'ब्रह्मा का दिन' अधिक विलम्ब के अर्थ में प्रयुक्त होता है अतः यहां अस्वाभाविकता नहीं है। दूसरा दोहा लीजिए:—

जदपि तेज रौहाल बल पलकौ लगी न बार।
तौ ग्वैड़ो घर को भयों पैंड़ों कोस हजार॥

यहां 'कोस हजार' दूरी की नाप है परन्तु इसका अर्थ 'बहुत दूर' है। इसे वास्तविक नाप जोख के अर्थ में नहीं लेना चाहिए। अतः यह उक्ति स्वभाविकता से दूर नहीं है।

प्रवत्स्यत्पतिका नायिका का वर्णन बिहारी ने अधिक मार्मिकता से किया है:—

ललन-चलनु सुनि पलनु मैं अँसुआ झलकै आइ।
भइ लखाइ न सखिनु हूँ झूठैं ही जमुहाइ॥

नायिका का पति विदेश से घर आने वाला है। उसकी दशा देखने योग्य है:—

(क) मृग नैनी दृग की फरक उर-उछाह तन फूल।
बिनहीं पिय आगम उमँगि पलटन लगी दुकूल॥

(ख) बाम बाँह फरकति, मिलैं जो हरि जीवन-मूरि।
तौं तोहीं सौं भेटिहौं राखि दाहिनी दूरि॥

पत्रिका और सन्देश का वर्णन भी बहुत मार्मिक हुआ है। बिहारी ने इस प्रसंग में सहृदयता का परिचय दिया है:—

कागद पर लिखत न बनत कहत सँदेसु लजात।
कहिहै सबु तेरो हियौ मेरे हिंय की बात॥

दोंनों के हृदय जब एक ही से हैं तो फिर पत्र लिखने की आवश्यकता ही क्या? नायक का पत्र प्राप्त करने पर नायिका की चेष्टाएँ देखिए।

कर लै चूमि चढ़ाइ सिर उर लगाइ भुज भेंटि।
लहि पाती पिय की लखति, बाँचत धरति समेटि॥

अनेक स्थलों पर बिहारी का बिरह-वर्णन ऊहात्मक है फल स्वरूप वह अस्वाभाविक होने के कारण भद्दा हो गया है। किन्तु अन्य स्थलों पर, जहां कवि ने प्रेम की स्वतंत्र उद्भावना की है, उन्होंने सूक्ष्म निरीक्षण तथा गहरी अनुभूति का परिचय दिया है। परम्परा के निर्वाह के कारण अनेक कवियों ने काव्य का सच्चा सौन्दर्य समाप्त कर डाला। बिहारी भी जहां परम्परा के चक्र में पड़ गये हैं वहां उनकी काव्यानुभूति दब गई है।

भक्ति-भावना

बिहारी की गणना भक्त कवियों में नहीं की जा सकती। असंदिग्ध रूप से ये श्रृंगारी कवि हैं। अन्य श्रृंगारी कवियों के ही सदृश इनके भी कृष्ण केवल सामान्य नायक हैं तथा राधा सामान्य नायिका। कृष्ण और राधा भक्ति काल में आराध्य देव के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे इसलिए भी बिहारी की कविता में हमें भक्ति की खोज करनी पड़ती है।

बिहारी उन विरागी भक्तों की कोटि में नहीं आते जिन्होंने ससार का त्याग कर अपने को अपने आराध्य की भक्ति में लगा दिया। वे मूलतः कवि हैं और समय समय पर भक्ति की भावना उनकी कविता में अभिव्यक्त हो जाती है। भक्ति के ये दोहे भी, सम्भवतः, प्रौढ़ावस्था में ही लिखे गये होंगे; यौवन के आरम्भिक दिनों में नहीं। ऐसे कवियों के उद्गारों में किसी मतवाद का प्रतिपादन अथवा समर्थन भी ढूँढ़ना व्यर्थ ही है। दार्शनिक सिद्धान्तों का विश्लेषण अथवा प्रतिपादन ज्ञान से सम्बन्ध रखता है परन्तु भक्ति का क्षेत्र हृदय है। बिहारी के समान सहृदय कवि ज्ञान-क्षेत्र का निरूपण करने में प्रवृत्त नहीं हुए। ये सब प्रकार की रचना करने वाले कवि थे, जब जिस ढंग की उक्ति सूझ गई, वैसी ही कविता लिख दी।

बिहारी सब प्रकार के मतवाद से सर्वथा अलग थे। किसी प्रकार के बन्धन में उन्होंने अपने को नहीं रखा। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा :—

अपनैं अपनैं मत लगे बादि मचावत सोरु।
ज्यों त्यों सब कौं सेइबौ एकै नंद किसोरु॥

बिहारी निर्गुण-सगुण के भी पचड़े में नहीं पड़े। निर्गुण की व्यापकता दिखाने के उद्देश्य से उन्होंने कहा :—

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन-विस्तारन-काल।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि चंग-रंग-भूपाल॥

फिर उन्होंने अपने को सगुण के गुण में बाँधने को भी कहा है :—

मोहूँ दीजै मोषु, ज्यों अनेक अधमनु दियौ।
जो बाँधेही तोषु, तौ बाँधौ अपनैं गुननु॥

बिहारी ने भक्ति के विषय में राम और कृष्ण में भी भेद नहीं माना क्योंकि उन्होंने राम और कृष्ण दोनों की भक्ति में दोहे लिखे। कृष्ण-भक्ति-विषयक दोहा देखिए :—

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदु पति सदा विपति बिदारन हार ॥

वैसे ही उन्होंने राम की भक्ति की है : –

यह बरिया नहिं और की, तूँ करिया वह सोधि।
पाहन-नाव चढ़ाइ जिहिं कीने पार पयोधि ॥

फिर इन्होंने राम की लीला का उल्लेख कृष्ण के नाम पर और कृष्ण की लीला का उल्लेख राम के नाम पर भी किया है :—

कौन भाँति रहिहै बिरदु अब देखबी मुरारि।
बीधे मोसों आइ कै, गीधे गीधहि तारि ॥

इस दोहे में 'मुरारि' को सम्बोधन करके गीध को तारने वाली घटना का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः ये लोग राम और कृष्ण में किसी प्रकार का अन्तर नहीं मानते थे। सूर और तुलसी ने भी अनेक स्थलों पर ऐसा किया है।

भक्ति-सम्बन्धी रचना करते समय कवि अपने को पापी, कुकर्मी आदि कह कर दैन्य-प्रदर्शन करते हैं। सूर और तुलसी जैसे महान् भक्तों ने अपने को महा पातकी कहा है। बिहारी ने भी अपने को पापी बताया है। यह देख कर कुछ लोग अनुमान लगा लेते हैं कि बिहारी सचमुच पापी तथा दुराचारी थे। ऐसा समझना नितान्त भ्रम-पूर्ण है। इस प्रकार का एक दोहा देखिए :—

ज्यों है हौं त्यौं होऊँगो हौं, हरि, अपनी चाल।
हठु न करौ अति कठिन है, मो तारिबो गुपाल ॥

बिहारी मुख्यतः कवि थे अतः भक्तों के समान सर्वत्र दैन्य का प्रदर्शन उन्होंने नहीं किया है। अनेक स्थलों पर उन्होंने उपालंभ से भी काम लिया है और कहीं कहीं भगवान् से होड़ भी लगाने से बाज नहीं आये हैं।

(क) मोहि तुम्हें बाढ़ी बहस, को जीतै जदु राज।
अपने अपने बिरद की दुहूँ निबाहन लाज ॥

(ख) कब कौ टेरत दीन रट होत न स्याम सहाइ।
तुम हूं लागी जगत गुरु जग नायक जग बाइ ॥

बिहारी ने कहीं कहीं दार्शनिक तथ्यों को भी कविता का रूप दे दिया है। इस संबंध में निम्न-लिखित सोरठा द्रष्टव्य है :—

मैं समुझ्यौ निरधार यह जग काँचो काँच सौ।
एकै रूप अपार प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ ॥

वैराग्य-भावना देखिए :—

> या भव पारावार को उलँघि पार को जाइ।
> तिय-छबि-छाया ग्राहिनी ग्रहै बीचहीं आइ

भगवान् की भक्ति के लिए सच्चे हृदय की आवश्यकता है। कपट आदि का परित्याग किये बिना वाह्य आडम्बर से भगवान् को प्रसन्न करना असम्भव है :—

> जप माला छापा तिलक सरै न एकौ काम।
> मन काँचै नाचै वृथा साँचै राचै राम॥

वे दुःख सुख दोनों में भगवान् का स्मरण करने का आग्रह करते हैं :—

> दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईहिं न भूलि।
> दई दई क्यों करतु है, दई दई सु कबूलि॥

बिहारी के भक्ति-विषयक दोहों के अध्ययन के पश्चात् हमें ज्ञात हो जाता है कि उन्होंने भक्ति-सम्बन्धी अनेक प्रकार की भावनाएँ व्यक्त की हैं। किसी मतवाद की सीमा में वे आबद्ध नहीं हैं। जब जिस प्रकार की उक्ति उन्हें सूझी उसीको कविता का रूप दे दिया। उनकी भक्ति में अन्य भक्त कवियों के समान तन्मयता नहीं है, अपितु उनमें उक्ति का चमत्कार तथा वाग् विदग्धता ही अधिक हैं। वाणी का चमत्कार उनमें सर्वत्र देखने को मिलता है। "सूखी भक्ति की उक्तियाँ बिहारी ने नहीं लिखी हैं, वे उनके कवित्व से बराबर सरस होकर सामने आई हैं।"[1]

बिहारी की बहुज्ञता

कवि को कई विषयों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है, इसलिए नहीं कि वह उन विषयों का समावेश अपनी कविता में किया करे अपितु इसलिए कि वह ऐसा कथन न कर दे जो किसी शास्त्र या सिद्धान्त के प्रतिकूल हो। बिहारी लाल को कई विषयों का सामान्य ज्ञान था किन्तु वे केशव दास के समान प्रकांड पंडित नहीं थे। उन्होंने किसी विषय का गम्भीर शास्त्रीय ज्ञान नहीं प्राप्त किया था, परन्तु उनकी निरीक्षण-शक्ति प्रबल थी और इसी के बल पर उन्होंने कई विषयों का ज्ञानोपार्जन कर लिया था। उनका ज्ञान मुख्यतः अनुभव पर ही आधृत है।

बिहारी के गणित-ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली कल्पना का चमत्कार देखिए :—

> (क) कहत सबै, बेंदी दिये, आँकु दस गुनौ होतु।
> तिय लिलार बेंदी दिये, अगनित बढ़त उदोतु॥

> (ख) कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढ़िगौ इतो उदोतु।
> बंक बिकारी देत ज्यों दाम रुपैया होतु॥

---

१ प्रो० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

इन दोहों में कल्पना का चमत्कार ही अधिक है, गणित का ज्ञान तो बहुत साधारण है। बहुत कम पढ़े लिखे भी इतना गणित अवश्य जानते हैं। इसी ज्ञान के आधार पर बिहारी को बहुत बड़ा गणितज्ञ कह देना हास्यास्पद है। स्वयं कवि ने "कहत सबै" लिख कर इस नियम की सामान्यता की ओर संकेत कर दिया है।

बिहारी को वैद्यक का भी सामान्य ज्ञान था। निम्नलिखित दोहों से यह बात स्पष्ट हो जाती है :—

(क) यह बिनसतु नगु राखि कै, जगत बड़ो जसु लेहु।
जरी विषम जुर ज्याइये, आइ सुदरसन देहु ॥
(ख) बहु धनु लै, अहसानु कै, पारो देत सराहि।
बैद बधू, हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि ॥

बिहारी के कई दोहों में दार्शनिक उक्तियां हैं जिन्हें लेकर कुछ लोग उन्हें महान् दार्शनिक समझ बैठे हैं। वस्तुतः उनके ऐसे अनेक दोहों से दर्शन शास्त्र का सामान्य ज्ञान परिलक्षित होता है।

(क) मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ।
एकै रूप अपार प्रतिबिम्बित लखियत जहाँ ॥
(ख) जगत जनायो जिहिं सकल, सो हरि जान्यौ नाँहि।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै, आँखि न देखी जाँहि ॥
(ग) दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन विस्तारन काल।
प्रगटत निरगुन निकट ही, चंग-रंग भूपाल ॥

जान पड़ता है कि बिहारी को अन्य शास्त्रों की अपेक्षा ज्योतिष का ज्ञान अधिक था। उन्होंने ज्योतिष के ऐसे ज्ञान का प्रदर्शन किया है जिसे सामान्य ज्ञान नहीं कह सकते। सम्भवतः उन्होंने इस शास्त्र का विशेष अध्ययन किया था। कुछ उदाहरण देखिए :—

(क) दुसह दुराज प्रजान कौं क्यों न बढ़ै दुख दंद।
अधिक अँधेरो जग करत, मिलि मावस रवि चंद ॥
(ख) सनि कज्जल चख झख-लगन, उपज्यो सुदिन सनेहु।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै, लहि सुदेसु सबु देहु ॥

दूसरे दोहे में जो उक्ति है काव्य में उसकी उपयोगिता कहां तक है यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार की उक्तियां केवल चमत्कार उत्पन्न करने का कार्य करती हैं, वास्तविक काव्य के क्षेत्र में इनका विशेष महत्त्व नहीं हो सकता।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि बिहारी ने सांख्य, वेदान्त आदि का अनुशीलन किया था या नहीं परन्तु उन्होंने जो दार्शनिक ज्ञान प्राप्त किया था, वह बहुत कुछ साधु सन्तों के सत्संग से ही। उनकी कविता में विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली बातें भी कुछ अंश में प्राप्त होती हैं। उनके बहुत दोहे नीति से सम्बन्ध रखने वाले हैं। वस्तुतः बिहारी ने अनुभव से अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त किया था। उन्होंने

संस्कृत साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था और मुक्तकों की परम्परा का उन्हें पूर्ण ज्ञान था। उस सारे ज्ञान का उपयोग उन्होंने अपनी कविता में किया। इतनी विस्तृत जानकारी रखने वाले और उस जानकारी का सुन्दर उपयोग करने की शक्ति रखने वाले कवि हिन्दी साहित्य में बहुत कम ही हुए हैं।

भाषा-शैली

बिहारी ने ब्रज भाषा में अपनी कविता की रचना की है। उनकी भाषा चलती ब्रज भाषा होने पर भी साहित्यिक है। शुद्ध ब्रज भाषा का प्रयोग करने वाले बहुत कम ही कवि हुए हैं। बिहारी की ब्रज भाषा घनानंद की ब्रजभाषा के समान सर्वथा शुद्ध नहीं है। इनकी भाषा में अन्य भाषाओं के भी शब्द प्रचुर परिमाण में आये हैं। इनकी भाषा और शैली की मुख्य विशेषताएँ देखें :—

(१) बिहारी की भाषा में पूर्बी प्रयोग बहुत हुए हैं। सर्वनाम के 'जेहि' 'केहि' आदि पूर्वी प्रयोग प्रायः मिलते हैं :—

जगत जनायो 'जिहिं' सकल सो हरि जान्यौ नाँहि।

(२) क्रिया के भूत कालिक रूप 'कीन', 'दीन', 'लीन' आदि पूर्बी प्रयोग हैं। बिहारी ने ऐसे रूपों का भी प्रयोग किया है :—

पिय तिय सौं हँसि कै कह्यौ, लखैं दिठौना 'दीन'।
चन्द्र मुखी, मुख चन्द तैं भलो चंद समु 'कीन'॥

कहीं भूत काल में 'किय' शब्द का भी प्रयोग किया गया है : —

मनु ससि सेखर की अकस 'किय' सेखर सतचंद॥

(३) 'है' के लिए अवधी के 'आहि' शब्द का भी प्रयोग बिहारी की कविता में कहीं कहीं मिल जाता है।

रही कराहि कराहि अति, अब मुँह आहि न 'आहि'॥

(४ खड़ी बोली के कृदन्त और क्रिया पद भी बिहारी की रचना में पाये जाते हैं परन्तु अनुप्रास के लिए ही ऐसे प्रयोग प्रायः हुए हैं :—

नैंको उहिं न जुदी करी हरषि 'जु दी' तुम मोल।

(५) बिहारी के जीवन का बहुत अंश बुंदेल खंड में बीता था, अतः उनकी भाषा में बुंदेल खंडी शब्दों का प्रयोग होना असंगत नहीं है। बिहारी की भाषा में ऐसे अनेकों शब्दों का प्रयोग मिलता है जो ठेठ बुंदेल खंडी हैं पर जिन्हें सामान्यतः काव्य-भाषा में ग्रहण कर लिया गया है; जैसे— घैरू, कोद, चाला, गीधे, लखबी, करबी, स्यौं आदि। कुछ ऐसे भी बुंदेल खंडी शब्दों का प्रयोग बिहारी ने किया जिनका प्रयोग अन्य कवियों ने नहीं किया, जैसे— सद, सबी।

(६) बिहारी ने अपनी भाषा में अरबी और फारसी शब्दों का भी प्रयोग पर्याप्त परिमाण में किया है, जैसे—कबूल, खूबी, चसमा, जमीन, दरबार, तेज, बहार, गरज, गरीब, जोर, जर, तरफ, दाग, हजार, नाजुक, प्याला, हाल आदि।

(७) बिहारी ने अपनी समास-पद्धति के अनुरूप अपनी भाषा में भी चुस्ती लाने का सफल प्रयास किया है। मुक्तककार को थोड़े में बहुत कहने का गुण होना चाहिए। संक्षिप्तता तथा सांकेतिकता का गुण बिहारी में अतिशय मात्रा में है। 'गागर में सागर' भरने का गुण बिहारी में एक सीमा तक है।

(८) बिहारी की भाषा व्याकरण-सम्मत है। उनके वाक्यों की बनावट चुस्त है। उनका कोई भी दोहा देखा जाय तो पता चल जायगा कि वाक्य-गठन में कितनी चुस्ती है। समास-पद्धति अपनाने के कारण उनके दोहों में न्यून पदत्व दोष आ सकता था पर बिहारी के पद इतने व्यंजक हैं तथा पदों का संगठन इतना उपयुक्त होता है कि उनकी कविता में यह दोष नहीं आ सका है।

(९) भाषा में सरसता लाने के लिए बिहारी ने अनुप्रास की योजना बहुत सावधानी से की है। सानुप्रास पदावली के लिए निम्न-लिखित दोहा द्रष्टव्य है :—

गड़े बड़े छवि छाक छकि, छिगुनी छोर छुटै न।
रहै सुरँग रँग रँगि उहीं नह दी मह दी नैन॥

(१०) बिहारी की भाषा में नाद व्यंजना भी उपलब्ध होती है। उदाहरण के लिए निम्न-लिखित दोहा देखा जा सकता है :—

रनित भृंग घंटावली, झरित दान मद नीरु।
मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज-समीरु॥

इस दोहे में ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनसे घंटा बँधे हुए हाथी के चलने और समीर के स्पंदन की ध्वनि निकलती है।

(११) बिहारी की भाषा में चित्रमयता का भी गुण है। उनकी कविता में प्रत्येक शब्द एक विशिष्ट चित्र प्रस्तुत करता है। नीचे लिखे दोहे में प्रत्येक शब्द एक चित्र उपस्थित कर रहा है :—

भरत, ढरत, बूड़त, तिरत, रहत, घरी लौं नैन।
ज्यों ज्यों पट झटकति, हँसति, हठति नचावति नैन॥

(१२) भाषा की व्यंजना बढ़ाने के लिए बिहारी ने श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग किया है। जो कवि थोड़े शब्दों में महान् अर्थ भरना चाहता है उसे श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करना आवश्यक हो ही जाता है। फलतः बिहारी श्लिष्ट पदों के द्वारा अर्थ-चमत्कार उत्पन्न करते हैं।

मोहूँ दीजै मोषु, ज्यौं अनेक अधमनु दियौ।
जौ बाँधै ही तोषु, तौ बाँधौ अपनैं गुननु॥

इन श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग के कारण बिहारी की कविता में ऐसे गाम्भीर्य का समावेश हुआ है कि आलोचकों ने उन्हें अक्षर-काम धेनु की संज्ञा दी है। "Its diffi-

culty and ingenuity are so great that it is called a veritable Aksara Kamdhenu."—Grierson.

(१३) घनानंद की कविता में जिस प्रकार विरोध का चमत्कार है उस प्रकार विरोध का चमत्कार बिहारी में नहीं है तथापि यह प्रवृत्ति उनमें भी दृष्टि-गोचर होती है और उन्होंने कई दोहों में इसका चमत्कार भी प्रदर्शित किया है। उदाहरण देखिए :—

धनि यह द्वैज, जहां लख्यौ, तज्यौ दृगनु दुख दंदु।
तुम भागनु पूरब उयौ, अहौ अपूरबु चंदु॥

(१४) ब्रज भाषा में समास युक्त पदावली की अधिकता अच्छी नहीं लगती। बिहारी ने अपनी कविता में छोटे छोटे समासों की योजना की है जिससे अर्थ समझने में कठिनाई नहीं होती है। परन्तु कहीं कहीं लम्बे समास भी आ गये हैं। नीचे लिखे दोहे में लम्बे समास की योजना की गई है :—

समरस-समर-सकोच-बस-बिबस न ठिक ठहराइ।
फिरि फिरि उझकति, फिरि दुंरति, दुरि दुरि उझकत आइ॥

(१५) भाषा में प्रवाह लाने के लिए मुहावरों और कहावतों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। बिहारी ने अपनी कविता में इन साधनों का भी उपयोग किया है। कुछ कहावतें देखिए :—

(क) सोहत संग समान को इहै कहत सब लोग।
पान पीक ओठन बनै, काजर नैनन जोग॥

(ख) सबै सोहाएई लगै, बसत सोहए ठाम।
गोरे मुख बेंदी लसै, अरुन पीत सित स्याम॥

इनकी कविता में मुहावरों का भी बाहुल्य है।

(क) 'मूँड़ चढ़ाऐंऊ' रहै 'पर्यौ पीठि' कच भारु।
'रहैं गरैपरि', राखिबो 'तऊ हियै' पर हारू॥

(ख) आँखिन 'आँखि लगी' रहैं 'आँखैं लागति' नाहिं।

(ग) लोचन लोयन सिंधु तन, पैरि न 'पावत पार'।

(घ) जब ते 'लागे पलक दृग', 'लागत पलक' पलौ न।

(ङ) जिन हीं 'उरझ्यौ मो हियो' तिनहीं सुरझे बार।

(१६) लाक्षणिक प्रयोगों के सहारे बिहारी अलंकार की भी योजना कर लिया करते थे। असंगति अलंकार से युक्त इस दोहे में लाक्षणिक प्रयोग देखिए :—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरति चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हियैं, दई, नई यह रीति॥

इसमें सभी प्रयोग लाक्षणिक हैं।

(१७) बिहारी की कविता में अलंकारों का आधिक्य है। प्रत्येक दोहे में अनेक अलंकारों का संघटन सुलभ है। उदाहरण खोजने में आयास नहीं करना पड़ेगा।

(१८) उपयुक्त शब्दों और मुहावरों की स्थापना भी बिहारी की भाषा की विशेषता है। इनकी कविता के शब्दों को बदल कर यदि उनके पर्याय वाची शब्दों को रखा जाय तो चमत्कार में बहुत कमी आ जायगी।

लीक नहीं यह पीक की, श्रुति मनि-मूल कपोल।

इस पंक्ति में 'श्रुति' आदि शब्द बदलने से चमत्कार नष्ट हो जायगा।

(१९) बिहारी ने कुछ पुराने प्राकृताभास शब्दों का प्रयोग किया है जैसे लोयन, बिय। उनपर यह दोषारोपण किया जाता है कि उन्होंने शब्दों में बहुत तोड़ मरोड़ किया है। यह ठीक है कि बिहारी ने कुछ शब्दों को तोड़ा मरोड़ा है जैसे 'स्मर' के लिए 'समर', 'ज्यों ज्यों' के लिए 'जज्यौं' 'त्यों त्यों' के लिए 'तत्यों' आदि, परन्तु अधिक तोड़ मरोड़ का दोष वे ही लगा सकते हैं जो भाषा की प्रकृति नहीं जानते। इस विषय में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत उद्धृत करना अधिक उपयुक्त होगा।

"बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रज भाषा के कवियों में शब्दों को तोड़ मरोड़ कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। 'भूषण' और 'देव' ने शब्दों का बहुत अंग भंग किया है और कहीं कहीं गढ़न्त शब्दों का व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से बहुत कुछ मुक्त है। दो एक स्थल पर 'स्मर' के लिए 'समर', 'ककै' ऐसे कुछ विकृत रूप मिलेंगे। जो यह भी नहीं जानते कि संक्रान्ति को संक्रमण (अपभ्रंश 'संक्रोन') भी कहते हैं, 'अच्छ' साफ के अर्थ में संस्कृत शब्द है, 'रोज' रुलाई के अर्थ में आगरे के आस पास बोला जाता है और कबीर, जायसी आदि द्वारा बराबर व्यवहृत हुआ है, 'सोनजाइ' शब्द स्वर्ण जाती से निकला है, जुही से कोई मतलब नहीं, संस्कृत में 'वारि' और 'वार्' दोनों शब्द हैं और 'वार्द' का अर्थ भी बादल है, 'मिलान' पड़ाव या मुकाम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है, चलती ब्रज भाषा में 'पिछानना' रूप ही आता है 'खटकति' का रूप बहुबचन में भी यही रहेगा, यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ तो बेचारे बिहारी का क्या दोष ?"१

(२०) बिहारी की भाषा में लिंग विपर्यय का दोष है। उन्होंने कहीं किसी शब्द का प्रयोग पुंलिंग में किया है परन्तु दूसरे स्थान पर उसी शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग में किया। एक ही भाषा में एक ही शब्द दोनों लिंगों में प्रयुक्त हो यह उचित नहीं और यदि एक ही कवि उसी शब्द का प्रयोग दोनों लिंगों में करें तो यह और भी अनुचित जान पड़ता है। फारसी में 'रुख' शब्द पुंलिंग है परन्तु बिहारी ने सदा इसका प्रयोग स्त्रीलिंग में किया है। उन्होंने 'उसास' और 'वायु' का प्रयोग दोनों लिंगों में किया है। 'मिठास' स्त्रीलिंग शब्द है परन्तु उन्होंने सदा इसका प्रयोग पुंलिंग में किया है।

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास।

(२१) बिहारी की भाषा में एक और दोष बताया जाता है—क्लिष्टता। क्लिष्टता का मुख्य कारण कहीं कहीं लम्बे समासों का संगठन है और अधिकतर स्थानों पर तत्कालीन साहित्यक रूढ़ियों का समावेश है। जो व्यक्ति इन रूढ़ियों से परिचित नहीं है उसके लिए बिहारी की कविता समझना कठिन है। बिहारी के इतने टीकाकार हुए इसका कारण उनका काव्य सौष्ठव ही नहीं है अपितु अर्थ बोध की जटिलता भी है।

बिहारी की भाषा के विषय में प्रों० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का मत है, "व्याकरण की दो-एक बात को छोड़ कर बिहारी की भाषा व्याकरण से इतनी अधिक गठी हुई है; मुहावरों का प्रयोग, शव्दों का संचय, सांकेतिक शव्दावली, सुष्ठु पदावली (Diction) ऐसी मँजी हुई है कि उनकी भाषा को प्रौढ़ एवं प्रांजल, कहना ही पड़ता है।"[१]

अन्त में बिहारी के सम्बन्ध में आचार्य राम चन्द्र शुक्ल जी की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना समीचीन होगा। "बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आँका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यत: दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए—उनके पक्ष से समझना चाहिये जो किसी हाथी-दाँत के टुकड़े पर महीन बेलबूटे देख घंटों 'वाह वाह' किया करते हैं। पर जो हृदय के अन्तस्थल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका सन्तोष बिहारी से नहीं हो सकता। बिहारी का काव्य हृदय में किसी ऐसी लय या संगीत का संचार नहीं करता जिसकी स्वर धारा कुछ काल तक गूँजती रहे। यदि घुले भावों का अभ्यन्तर प्रवाह बिहारी में होता तो वे एक एक दोहे पर ही सन्तोष न करते। मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त-सवैयों का सा गूँजने वाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं पड़ता।"[२]

—:०:—

१ बिहारी की वाग् विभूति।
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास।

देव

जीवन-वृत्त

कविवर देव का जन्म अपने साक्ष्य के आधार पर संवत् १७३० वि० में हुआ था। अपने ग्रन्थ 'भाव विलास' में उन्होंने लिखा है :—

शुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष।
कढ़ी देव मुख देवता, भाव विलास सहर्ष॥

उपर्युक्त दोहे से सिद्ध होता है कि देव संवत् १७४६ वि० में सोलहवें वर्ष में थे। उसी अवस्था में उन्होंने 'भाव-विलास' की रचना की। वे कान्य-कुब्ज ब्राह्मण थे। उनका गोत्र काश्यप था और आस्पद द्विवेदी। कुछ विद्वान् उन्हें सनाढ्य ब्राह्मण सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनके पिता का नाम प० बिहारी लाल दुबे था। देव के दो पुत्र थे—भवानी प्रसाद और पुरुषोत्तम। ठाकुर शिव सिंह सेंगर ने इनका वास-स्थान 'समनि' गांव जिला मैनपुरी माना है परन्तु स्वयं देव ने 'भाव विलास' में अपना वास स्थान इटावा कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि कम से कम १६ वर्ष की अवस्था तक वे इटावा में अवश्य निवास करते थे। ज्ञात होता है कि उनके आरम्भिक ग्रन्थ 'भाव विलास' और 'अष्टयाम' इटावा में रचे गये थे और यहीं से वे आज़म शाह के पास गये थे। कुछ समय के उपरान्त वे 'कुसमरा' ग्राम में रहने लगे। अपने अन्तिम दिनों में कवि इसी ग्राम में निवास करते थे।

देव ने संस्कृत साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ 'भाव विलास' और 'अष्टयाम' हैं जिन्हें लेकर वे औरंगजेब के तृतीय पुत्र आजम शाह की सेवा में उपस्थित हुए थे। आज़म शाह ने उनकी कविता पसन्द की और उन्हें पुरस्कृत किया। आज़म शाह की मृत्यु के पश्चात् वे भवानी दत्त वैश्य के आश्रय में

गये। 'भवानी विलास' की रचना इसी समय हुई। किन्तु यहां भी देव अधिक दिनों तक नहीं रह सके। उनके तीसरे आश्रय दाता थे कुशल सिंह सेंगर जिनके नाम पर उन्होंने 'कुशल विलास' की रचना की।

अब तक देव कई आश्रय दाताओं के पास जा चुके थे परन्तु कोई भी व्यक्ति उन्हें ऐसा नहीं मिला था जिसके आश्रय में उन्हें जीवन की चिन्ताओं से मुक्ति मिलती। उन्हें तत्कालीन राजा रईसों का पर्याप्त अनुभव हो गया था अतएव ऐसे आश्रय की आवश्यकता थी जहां निश्चिन्त होकर वे सरस्वती की उपासना कर सकते। फलस्वरूप उन्होंने देश-व्यापी भ्रमण किया। संवत् १७८३ वि० के लगभग उन्हें राजा भोगी लाल मिले। राजा भोगी लाल गुणज्ञ थे और उन्होंने देव की प्रतिभा का उचित आदर किया। देव ने अपने सभी आश्रय दाताओं में उन्हीं की सबसे अधिक प्रशंसा की है। 'रस-विलास' की रचना इसी समय हुई। राजा भोगी लाल ने कवि को पुरस्कृत किया।

किन्तु दुर्भाग्यवश देव यहां भी अधिक दिनों तक नहीं रह सके। इसके बाद उन्हें राजा उद्योत सिंह का आश्रय प्राप्त हुआ। यहीं 'प्रेम-चन्द्रिका' की रचना हुई। फिर देव ने सुजान मणि का आश्रय ग्रहण किया और उनके लिए 'सुजान विनोद' की रचना की। इसके बाद के कई ग्रन्थ किसी को समर्पित नहीं हैं। इससे जान पड़ता है कि सं० १८०० के आस पास उन्हें कोई आश्रय प्राप्त नहीं था। अब तक उनकी अवस्था काफी ढल चुकी थी और इस काल के अधिकतर ग्रन्थ वैराग्य-विषयक हैं। इस समय वे प्रायः कुसमरा में ही रहते थे किम्वदन्तियों से पता चलता है कि वे इस बीच, सम्भवतः भरतपुर तथा अलवर भी गये थे और उन्हें वहां कुछ कटु अनुभव हुए थे।

देव के अन्तिम आश्रय दाता पिहानी के अकबर अली खां थे। ये संवत् १८२४ में गद्दी पर बैठे। तब तक देव की सम्पूर्ण जीवन की उपार्जित सम्पत्ति समाप्त हो चुकी थी। वे ९४ वर्ष की आयु में आश्रय की खोज में फिर निकले और अकबर अली खां के दरबार में पहुँचे। इस अवस्था में नये ग्रन्थ का निर्माण असम्भव सा ही था अतः उन्होंने अपनी रचनाओं का संग्रह 'सुख-सागर-तरंग' नाम देकर अकबर अली खां को समर्पित कर दिया। कुछ ही काल के उपरान्त देव कुसमरा लौट आये और एक-आध साल में उनकी मृत्यु हो गई। इससे प्रतीत होता है कि देव ने ९४ वर्ष से अधिक की आयु पाई थी।

आश्रय-दाताओं की खोज में देव को देश के विभिन्न भागों की यात्रा करनी पड़ी थी। फलस्वरूप उनका अनुभव-जन्य ज्ञान अन्य कवियों की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत था। वे जहां कहीं गये, वहां की स्त्रियों का अत्यन्त सूक्ष्म वर्णन किया। 'जाति-विलास' में प्रत्येक प्रान्त की स्त्रियों की वाह्य विशेषताओं, आकृति तथा वेश-भूषा का रोचक वर्णन है।

जन-श्रुति के अनुसार देव अत्यन्त रूपवान् व्यक्ति थे और वैभव-पूर्ण वेश-भूषा में रहते थे। उनमें स्वाभिमान की मात्रा बहुत थी; रसिकता के साथ प्रेम की गम्भीर निष्ठा

भी वर्त्तमान थी। जीवन के प्रति देव की दृष्टि में एक करुण गम्भीरता की भावना है इसीलिए उनकी कविता में हास्य का सर्वथा अभाव है। देव में जीवन की विषमताओं से समझौता कर लेने की शक्ति नहीं थी इसीलिए उनको जीवन में सुख नहीं मिल सका। जीवन के प्रति गम्भीर दृष्टि-कोण तथा अतिशय भावुकता के कारण देव में व्यवहार-कुशलता का सर्वथा अभाव है। उस युग में दरबारी कवियों के लिए हल्केपन की अधिक आवश्यकता थी, किन्तु देव में इस गुण की कमी थी। इसीलिए प्रतिभा-सम्पन्न होने पर भी वे उचित आश्रय प्राप्त करने में असमर्थ ही रहे।

धार्मिक संकीर्णता देव में नाम मात्र को भी नहीं थी। वे भक्त नहीं कहे जा सकते तथापि राधा कृष्ण के प्रति उनकी अनेक उक्तियों में आत्मा की सच्ची पुकार मिलती है। उनका अध्ययन व्यापक था। संस्कृत और प्राकृत साहित्य का उन्हें गम्भीर अध्ययन था। सूर, तुलसी, केशव और बिहारी के ग्रन्थों का उन्होंने मनन किया था। वेदान्त तथा अन्य दर्शनों का भी अध्ययन उन्हें पर्याप्त था। सम्भवतः उन्हें ज्योतिष और आयुर्वेद का भी ज्ञान था।

रचनाएँ

देव-रचित ग्रन्थों की निश्चित संख्या बताना कठिन है। जनश्रुति के अनुसार इनके ग्रन्थों की संख्या ७२ या ५२ है। हिन्दी नवरत्न में उनके २८ ग्रन्थों के नाम दिये गये हैं जिनमें १५ ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हें मिश्र बन्धुओं ने देखा था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने अपने इतिहास में २५ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। उनके ग्रन्थों के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने की यह है कि उन्होंने एक ग्रन्थ की सामग्री दूसरे ग्रन्थ में दुहरा दी है। रीति काल के अनेक कवियों के सदृश उनके ग्रन्थ आश्रय दाताओं के नाम पर हैं। नीचे उनके ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

देव का सर्व-प्रथम ग्रन्थ 'भाव विलास' है। इसकी रचना सं० १७४६ में हुई जब कवि सोलहवें वर्ष में थे। औरंगजेब के विद्यानुरागी तथा गुणज्ञ पुत्र आजमशाह के लिए इस ग्रन्थ की रचना हुई थी। यह नायिका-भेद का ग्रन्थ है और इसमें केवल रस-राज शृंगार का ही विवेचन किया गया है; अन्य रस अछूते ही रह गये हैं।

देव का दूसरा ग्रन्थ 'अष्टयाम' है। नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ में नायक-नायिका के आठो याम के विविध विलासों का क्रमबद्ध वर्णन है। काव्य की दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत कम है। अनेक स्थानों पर वर्णन इतिवृत्तात्मक है।

'भवानी-विलास' का रचना-काल नहीं दिया हुआ है। काव्य-विवेचन की दृष्टि से यह ग्रन्थ भी देव की प्रारम्भिक रचनाओं में है। 'भाव विलास' की अपेक्षा इस में अधिक विस्तार है। 'अष्टयाम' की अपेक्षा इसमें अधिक प्रौढ़ता है। इसका भी मुख्य विषय नायिका-भेद ही है।

'शिवाष्टक' कवि की बहुत प्रारम्भिक रचना है। देव ने इसका रचना-काल सं० १७५५ दिया है। यह देव की सब से हल्की रचना है 'प्रेम तरंग' सं० १७६० के आसपास की रचना है। यह ग्रंथ काव्य की दृष्टि से देव की द्वितीय श्रेणी की रचनाओं में आता है।

'कुशल-विलास' 'प्रेम तरंग' से मिलता जुलता ग्रंथ है किन्तु उससे कुछ अच्छा है। इसकी रचना संवत् १७६० के कुछ ही बाद हुई होगी। इसका विषय नायिका-भेद है।

'जाति-विलास' सम्भवतः एक देश-व्यापी भ्रमण के फलस्वरुप लिखा गया है। इसमें मुख्यतः जाति, वास तथा देश के अनुसार नायिका-भेद वर्णित है। रस-विलास का रचना-काल स्वयं कवि ने सं० १७८३ बताया है। नाम से सूचित होता है कि यह ग्रन्थ रस-विषयक है परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ में नायिका-भेद का ही वर्णन किया गया है। रीति-विवेचन की दृष्टि से इसमें कवि के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है। परन्तु काव्य की दृष्टि से इसमें प्रौढ़ता अवश्य है।

'प्रेम चन्द्रिका' विषय और शैली की दृष्टि से एक प्रौढ़ रचना है। कवि की दृष्टि शरीर से आत्मा की ओर अग्रसर हुई है; उसने स्थूल को परित्याग कर सूक्ष्म को अपनाया है। इस ग्रन्थ में कवि का उद्देश्य वाह्य अलंकरण नहीं, रसात्मकता है। शब्दों में व्यंजना शक्ति का विकास दृष्टि गत होता है। इसमें कवि ने विषय का तिरस्कार करके शुद्ध प्रेम की महत्ता दिखाई है। शुद्ध काव्य की दृष्टि से यह देव का सर्वोत्तम ग्रन्थ है।

'सुजान-विनोद' का स्थान देव की प्रौढ़तम रचनाओं में है। कवि की रस-दृष्टि इस रचना में परिपक्व हो गई है। इसमें रसार्द्रता की मात्रा पर्याप्त है और अनुभूति तथा अभिव्यक्ति का समुचित समन्वय है। इसका रचना-काल सं० १७९५ के आस-पास माना जाता है। 'राग-रत्नाकर' संगीत-विषयक ग्रंथ है।

'शब्द-रसायन' देव का प्रौढ़तम रीति ग्रंथ है। इसमें देव का आचार्य रूप सम्यक् रूप से दृष्टि-गोचर होता है। इसका रीति-विवेचन पूर्ण रूप से परिपक्व एवं गम्भीर है। इस ग्रंथ को जो गौरव प्राप्त हो गया है उससे इसे वंचित नहीं किया जा सकता। शिव सिंह सेंगर का कथन है कि उनके समय में काव्य-रीति के अध्येता 'शब्द रसायन' का अध्ययन पाठ्य ग्रंथ के समान करते थे।

'देव चरित' कवि का एक-मात्र खंड काव्य है। खंड-काव्य की दृष्टि से यह सफल कृति नहीं है परन्तु इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि देव में कथा-निर्वाह की भी प्रतिभा असंदिग्ध रूप में थी। 'देव-भाषा प्रपंच' पद्य-वद्ध नाट्य रूपक है। सूक्ष्म तत्वों का मूर्त रूप में वर्णन करने में कवि को सफलता मिलती है।

'देव शतक' बहुत प्रौढ़ रचना है। इसमें कवि की दार्शनिक भावनाओं की सरस अभिव्यक्ति है। भक्त कवियों में जिस रूप में आत्म-ग्लानि का भाव मिलता है, उसी रूप में इस ग्रंथ में भी मिलता है।

'सुख-सागर-तरंग' देव के कई ग्रंथों का संग्रह है। यह इनका अन्तिम ग्रंथ है। इसका वर्ण्य विषय सांगोपांग शृंगार है और इसके अन्तर्गत नायिका-भेद का अत्यन्त विस्तृत वर्णन है।

शृंगार-भावना

देव मुख्यतः शृंगारी कवि हैं। उन्होंने शृंगार को ही मूल रस माना है। निम्न-लिखित दोहे से यह कथन स्पष्ट हो जायगा।

भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिंगार।
तेहि उछाह निर्वेद लैं, बीर, शान्त संचार॥

अर्थात् नव रसों में प्रधान तीन ही हैं—शृंगार, वीर और शान्त; शेष रस इनके अन्तर्गत आ जाते हैं। इन तीनों में भी शृंगार की ही प्रधानता है। एक दो ग्रन्थों को छोड़ कर देव के प्रायः सभी ग्रंथ शृंगार रस के ही हैं। इस रस का इतना विस्तृत वर्णन बहुत ही कम कवि कर सके हैं।

देव शृंगार का मूल प्रेम को ही मानते हैं, कामुकता अथवा वासना को नहीं। उन्होंने प्रेम-हीन कामुकता को केवल शृंगाराभास की संज्ञा दी है :—

प्रेम-हीन त्रिय बेश्या है सिंगारभास।

उन्होंने स्वकीया के ही प्रेम को उत्कृष्ट माना है। परकीया का प्रेम उत्कट होने पर भी श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। नारी जाति के लिए परकीयात्व कलंक है। आचार्य होने के नाते उन्होंने परकीया का भी वर्णन किया है परन्तु उनके अनुसार उत्तम शृंगार रस का आधार स्वकीया का ही प्रेम है। शुद्ध प्रेम के लिए उन्होंने आत्मा का सम्बन्ध सभी दशाओं में अनिवार्य बताया है। वे स्वार्थ के अभाव में ही प्रेम की विजय मानते हैं। इसलिए उनका कथन है :—

साँवरे लाल को साँवरे रूप में, नैनन को कजरा करि राखौं।

कवि ने प्रेम का लक्षण निम्न-लिखित दोहे में बताया है :—

सुख दुख में है एक सम तन मन बचननि प्रीति।
सहज बढ़ै हित चित नयो, जहाँ सुप्रेम प्रतीति॥

अतः स्पष्ट है कि प्रेम के प्रति देव का दृष्टिकोण सर्वथा रीति कालीन नहीं है। किन्तु उनकी कुछ ऐसी भी पंक्तियां हैं जो विलास-प्रधान रसिकता की ओर संकेत करती हैं—

काम अन्ध-कारी जगत, लखै न रूप कुरूप।
हाथ लिए डोलत फिरै, कामिनि छरी अनूप॥

किन्तु इसे वातावरण का ही प्रभाव कहा जा सकता है। वस्तुतः देव का प्रेम शुद्ध एव एक-निष्ठ ही है प्रेम के प्रति उनका दृष्टिकोण एक ओर मतिराम, पद्माकर

आदि शुद्ध रीतिवादी कवियों के सदृश था तो दूसरी ओर घनानंद, ठाकुर आदि रीति मुक्त कवियों के समान स्वच्छन्द था। देव का प्रेम दोनों का मध्यवर्ती कहा जा सकता है।

देव की रचनाओं में विषय-जन्य प्रेम का भी वर्णन है परन्तु उन्होंने इसे कोई विशेष महत्व नहीं प्रदान किया। उनका विश्वास है कि विषय-जन्य प्रेम विष के समान है।

विषयी जन व्याकुल विषय देखैं विधु न पियूष।
सीठी मुख मीठी जिन्हें, जूठी ओठ मयूष॥

अतः देव की प्रेम-भावना परम्परा-युक्त और परम्परा-मुक्त दोनों ही है।

संयोग-वर्णन

देव ने संयोग का विस्तृत वर्णन किया है। संयोग के मुख्यतः दो अंग होते हैं—रूप-वर्णन और मिलन जिसके अन्तर्गत अनेक प्रकार के विनोद-विहार आते हैं। देव ने रूप की परिभाषा इन शब्दों में की है :—

देखत ही जो मन हरै, सुख अँखियन को देइ।
रूप बखानै ताहि जो जग चेरो करि लेइ॥

यह परिभाषा देव की जीवन-दृष्टि से सामंजस्य रखने वाली है। रीति-काल में रूप वर्णन प्रायः वस्तु-परक हुआ करता था। उसमें भाव-गत सामंजस्य के स्थान पर उपमानों और प्रतीकों का ही सामंजस्य प्रायः देखा जाता है। देव के रूप-वर्णन में ऐसी वस्तु-परकता कम है, परन्तु कई स्थलों पर दिखाई देती है—

लै रजनी पति बीच विरामिनि दामिनि-दीप समीप दिखावै।
जो निज प्यारी उज्यारी करै, तब प्यारी के दंतन की द्युति पावै॥

यह वर्णन वस्तु-परक है. भाव-परक नहीं।

देव ने परम्परा के अनुसार नखशिख, हाव, शोभा-कान्ति आदि का विस्तृत वर्णन किया है, परन्तु सर्वत्र आत्म-तत्त्व का ही प्राधान्य है। वे नख-शिख के वर्णन में जड़ सौन्दर्य का वर्णन नहीं करते, प्रत्युत् चेतन सौन्दर्य का वर्णन करते हैं। उनकी कविता में इसके मनोरम चित्र अनेकत्र मिलते हैं।

सौन्दर्यानुभूति की एक अवस्था वासना मयी होती है। रीतिकाल के रूप-वर्णन में इस प्रकार की सौन्दर्यानुभूति का मुख्य स्थान है। देव की रसिकता इस क्षेत्र में बहुत दूर तक बढ़ी है।

देव ने नेत्रों के वर्णन में भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। परम्परा के अनुसार कविगण जिन जिन पदार्थों से नेत्र की उपमा देते हैं, देव ने एक ही स्थान पर उन सभी से उपमा दे दी है। उनकी आँखें कहीं मधुमक्खी हैं, तो कहीं 'मतवारे मतंग'।

बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।

और दूसरे स्थल पर—

देव दुख मोचन सकोच न सकत चलि,
लोचन अचल ये मतंग मतवारे हैं ।

कहीं कहीं आँखें सखी का भी काम करती हैं :—

सखियाँ ह्वै मेरी मोहि अँखियाँ न सीचतीं, तौ ।
याही रतिया मैं जाती छतिया छ्टूक ह्वै ।

देव की सौन्दर्य-भावना में परम्परागत नख-शिख-वर्णन और देश-भ्रमण से प्राप्त अनुभव का अपूर्व सम्मिश्रण है। देश के व्यापक भ्रमण के कारण उन्हें भिन्न भिन्न प्रान्तों तथा जातियों की स्त्रियों को देखने का अवसर प्राप्त हुआ था। फल-स्वरूप जाति-विलास में उन्होंने काश्मीर की किशोरियों से लेकर कहारिनों तक के सौन्दर्य का जीता जागता वर्णन प्रस्तुत किया है।

मिलन के अन्तर्गत प्रेमियों के सभी शारीरिक तथा मानसिक सुखों का अन्तर्भाव हो जाता है। रीति-परम्परा में प्रेमियों के सभी प्रकार के आमोद-प्रमोद, विहार आदि का वर्णन होता रहा है। वस्तुतः रीति काल का यही मुख्य वर्ण्य विषय रहा है। देव ने नायक-नायिका की केलि-क्रीड़ाओं के जो चित्र प्रस्तुत किये हैं, उनमें शारीरिक तथा मानसिक सुखों की अतिशयता है। उनका संयोग वर्णन न उतना स्थूल है और न उतना सूक्ष्म। वे रस-सिद्ध कवि थे, फलतः उनके संयोग-वर्णन में भावना और मांसलता का सामंजस्य है। इसीलिए उनके मिलन के वर्णन में रस-मग्नता की मात्रा विशेष है।

अन्य रीति-कालीन कवियों के सदृश देव ने भी प्रकृति को नायक-नायिका के मनोभावों को उद्दीप्त करने के लिए— उद्दीपन के रूप में ग्रहण किया है। जिस सूक्ष्मता से उन्होंने आलम्बन के सौन्दर्य तथा विभिन्न क्रिया-कलाप का वर्णन किया है, उसी सूक्ष्मता से प्रकृति का भी वर्णन किया है। परन्तु अनेक स्थलों पर देव ने प्रकृति का वास्तविक चित्रण — उद्दीपन के अतिरिक्त किया है। उदाहरण-स्वरूप वसन्त-वर्णन का निम्न-लिखित कवित्त देखा जाय :—

डारि द्रुम पालना बिछौना नव पल्लव के
सुमन झँगूला सोहै तन छवि भारी दै ।
पवन झुलावै केकी कीर बतरावै 'देव'
कोयल हलावै हुलसावै करतारी दै ॥
परत पराग सों उतारी करै राई नोन
कुंद कली नायिका लतान सिर सारी दै ॥
मदन महीप जू को बालक बसन्त ताहि
प्रात ही जगावत गुलाब चटकारी दै ॥

विरह-वर्णन

विरह के चार अंग माने गये हैं—पूर्व राग, मान, प्रवास एवं करुण। किन्तु विरह की वास्तविक एवं गम्भीर वेदना प्रवास में ही सम्भव है। रीति काव्य में गम्भीर जीवन-दृष्टि का प्रायः अभाव ही रहा है। इस काल के काव्य में शृंगार का आधार मुख्यतः रसिकता और विलास ही है, प्रेम की एक-निष्ठता नहीं। फल-स्वरूप विरह वर्णन में भी गम्भीरता का अभाव है इस काल के कवियों ने खंडिता के मान-जन्य विरह-वर्णन में ही सफलता प्राप्त की है किन्तु विरह के वास्तविक अंग प्रवास तथा तज्जन्य विरह के वर्णन में, अपने में गम्भीरता का अभाव होने के कारण, उन्हें बहुत कम ही सफलता मिली है। इसका कारण है कि उनकी सहज रसिक वृत्ति गम्भीरता के अनुकूल नहीं पड़ती थी।

किन्तु देव के विषय में उपर्युक्त कथन सर्वथा सत्य नहीं है। यह सत्य है कि उन्होंने भी पूर्व राग एवं खंडिता की चेष्टाओं के वर्णन में बहुत सफलता प्राप्त की है, किन्तु विरह की गम्भीर अवस्थाओं का भी चित्रण करने में वे सफल रहे हैं। उन्हें वेदना की गम्भीरता का अनुभव था, इसलिए उसके चित्रण में वे सफल हुए हैं और केवल ऊहा का ही सहारा उन्हें नहीं लेना पड़ा। देव का विरह-वर्णन मर्म-स्पर्शी तथा विदग्धता पूर्ण है। विरह की प्रत्येक सम्भव दशा पर कवि का ध्यान गया है और उन्होंने उसका स्वाभाविक तथा मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है। देव का विरह-वर्णन अतिशयोक्ति-पूर्ण होने पर भी स्वाभाविकता से दूर नहीं।

विरह की दशा में वियोगिनी की कृशता लेकर कवियों की अनेक प्रकार की उक्तियां हैं। बिहारी के कई दोहों में ऊहात्मक तथा अतिशयोक्ति-पूर्ण उक्तियां प्रसिद्ध हैं। देव ने भी विरह-जन्य कृशता के कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण दृश्य उपस्थित किये हैं, परन्तु अनुभूति-पूर्ण होने के कारण ये अस्वाभाविक नहीं हुए हैं और इनमें गम्भीरता का अभाव नहीं। निम्न-लिखित सवैया देखा जाय :—

> लाल विदेश वियोगिनि बाल, वियोग की आगि गई झुरि भूरी।
> पान सों पानी सों प्रेम कहानी सों प्रान ज्यों प्रानन यों मति हूरी॥
> 'देव' जू आजुहि ऐबे की औधि, सु बीतत देखि बिसेखि बिसूरी।
> हाथ उठायो उड़ाइबे को उड़ि काग गरे परी चारिक चूरी॥

अन्तिम चरण की तुलना निम्न-लिखित दोहों से कीजिए :—

> काग उड़ावण जाँवती पिय दीठो सहसत्ति।
> आधी चूड़ी काग गल आधी टूट तड़िन्ति॥

देव ने 'मरण-दशा' का भी वर्णन अत्यन्त कौशल से किया है जिसमें भाव तथा कारुण्य की पूर्ण रक्षा हुई है।

साँसन ही सो समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो, अरु भूमि गई तन की तनुता करि॥
जीव रह्यो मिलिबेई की आस, कि आस हु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि, हरे हँसि, हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

उपर्युक्त सवैये की मार्मिकता अनुभव-गम्य है।

खंडिता नायिका का चित्र अंकित करने में रीति काल का शायद ही कोई कवि देव की समत्तुता कर सके। उनके ऐसे वर्णनों में विवशता की सम्यक् अभिव्यक्ति होती है।

देव जु पैं चित चाहिए नाह तो नेह निबाहिए देह मर्यो परै
त्यों समुझाइ सुझाइये राह अमारग जो पग धोखे धर्यो परै॥
नीके मैं फीके ह्वै आंसू भरौ कत, ऊँची उसास गरो क्यों भर्यो परै।
रावरो रूप पियो अँखियान भर्यो सु भर्यो उबर्यो सु ढर्यो परै॥

अन्तिम पंक्ति का व्यंग्य कितना हृदय-स्पर्शी है!

वियोगिनी की अनेक दशाओं तथा चेष्टाओं का कितना स्पष्ट शब्द-चित्र देव ने एक ही कवित्त में उपस्थित कर दिया है :—

जब तें कुँवर कान्ह रावरी कला-निधान
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी-सी।
तब ही ते 'देव' देखी देवता-सी हँसति-सी
खीझति-सी रीझति-सी रूसति रिसानी-सी॥
छोही-सी छली-सी छीनी-लीनी-सी छकी सी छीन।
जकी सी चकी सी लागी थकी थहरानी सी।
बाँधी सी बँधी सी विष बड़ी सी बिमोहित-सी
बैठी बाल बकति बिलोकति बिसानी-सी॥

देव की कविता में ऐसी मार्मिक उक्तियां प्रायः मिलती हैं :—

पति व्रत व्रती ये उपासी प्यासी अँखियन,
प्रात उठि प्रीतम पियानो रूप पारनो।

कहीं कहीं प्रतिव्रता विरहिणी की दीनता अत्यन्त करुणा-पूर्ण हो गई है :—

साथ में राखिए नाथ उन्हें, हम हाथ में चाहति चार चुरी ये।

देव को प्रेम का बहुत गम्भीर अनुभव था इसीलिए उनकी कविता में आवेग तथा आवेश की इतनी प्रबलता है। अन्य रीति-कालीन कवियों में यह सम्भव नहीं था क्योंकि वे रीति परम्परा में आबद्ध हो गये थे, फलतः उनमें बौद्धिक तत्त्व का पर्याप्त मिश्रण हो गया था। देव पर भी अनेक प्रकार के बन्धन थे तथापि भावना की प्रबलता के कारण उनके शृंगार-वर्णन में उन्मुक्त प्रवाह है। देव ने अपने समस्त आवेग को शब्दों में बाँधने का प्रयास किया है इसीलिए कहीं कहीं उन्होंने पेचीले मजमून बाँधे हैं।

देव के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी जैसे संयत समालोचक को भी लिखना पड़ा है. "इनका सा अर्थ सौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है। रीति काल के कवियों में ये बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे, इसमें सन्देह नहीं। इस काल के बड़े कवियों में इनका विशेष गौरव का स्थान है। कहीं कहीं इनकी कल्पना बहुत सूक्ष्म और दूरारूढ़ है।" १

वैराग्य एवं भक्ति

देव मुख्यतः शृंगारी कवि थे किन्तु उनके हृदय में वैराग्य-भावना भी वर्त्तमान थी। उनकी वैराग्य-परक रचनाएँ प्रौढ़ावस्था की हैं और वस्तुत: वैराग्य भी राग का ही परिवर्तित रूप है। जब मानव की वृत्तियां किसी महत्तर लक्ष्य की ओर उन्मुख हो जाती हैं, तो सांसारिक सुखों के प्रति उसके हृदय में एक तिरस्कार की भावना जाग्रत हो जाती है। तिरस्कार की यह भावना दुःखद नहीं होती प्रत्युत् सुखद होती है। भौतिक सुखों में आसक्त व्यक्ति अतिशय राग से ही थक कर वैराग्य की ओर उन्मुख होता है और परमात्म-चिंतन में प्रवृत्त होता है।

देव का वैराग्य इसी कोटि का है। उनका वैराग्य अतिशय राग की प्रतिक्रिया ही है। इसका अर्थ यह नहीं कि उनमें तत्त्व चिंतन का भाव है ही नहीं। उनमें तत्त्व-चिंतन है परन्तु यह उनकी स्वाभाविक वृत्ति नही। जीवन में उन्हें अनेक प्रकार की ठोकरें खानी पड़ीं साथ ही राग के उपभोग की प्रतिक्रिया भी हुई, फलतः वे आत्म-चिंतन की ओर उन्मुख हुए।

देव रागी स्वभाव के व्यक्ति थे परन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों से आहत थे। संसार में उन्हें अनेक कटु अनुभव प्राप्त हुए। फल-स्वरूप उनके मन में वैराग्य की भावना जाग्रत हुई। उन्होंने विषय में आसक्त मन की कड़ी निंदा की है, उसे चेतावनी भी दी है। उचित आश्रय-दाता के अभाव में आर्थिक कठिनाई के कारण उनकी वैराग्य भावना और भी तीव्र हो गई है।

> ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
> एरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोरतो।
> आजु लौं हौं कत नर नाहन की नाहीं सुनि,
> नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो॥
> चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि,
> चाबुक चिताउनीनि मारि मुंह मोरतो।
> भारो प्रेम-पाथर नगारो दै गरे ते बाँधि,
> राधा-बर-बिरद के बारिधि में बोरतो॥

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास।

जीवन की यही विफलता कवि को तत्त्व चिंतन में संलग्न कर देने का कारण है।

यद्यपि देव का तत्त्व-चिंतन मुख्यतः प्रतिक्रिया का परिणाम है तथापि उसमें गम्भीरता का अभाव नहीं है। जगत् और जीवन की करुणा-पूर्ण नश्वरता से कवि को इनके वास्तविक दर्शन हो जाते हैं और वह अपने ज्ञान-नेत्रों से इस वैभव से पूर्ण जीवन का सत्य रूप देख लेता है—

बागो बन्यो जर पोस को तामहि ओस को तार तन्यो मकरी ने।
पानी में पाहन पोत चले चढ़ि, कागद की छतरी सिर दीने॥
काँख मैं बाँधि कै पाँख पतंग के 'देव' सुसंग पतंग को लीने।
मोम को मंदिर माखन को मुनि बैठ्यो हुतासन आसन दीने॥

और अंत में कवि इस निर्णय पर पहुँचता है कि वह अपने ही कौतुक में भूला हुआ है—

काहू की बात कहा कहौं देव हौं आप ही आपने कौतुक भूल्यो।

तत्त्व-ज्ञान की एक अवस्था है ब्रह्म का अनुभव। आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेने पर यह अवस्था स्वयमेव आ जाती है। जब ज्ञानी को आत्मा की महत्ता का आभास मिल जाता है तो उसके अन्तर से ध्वनि निकलती है कि जो तुम्हारी प्राण-शक्ति है वही परम तत्त्व है और सम्पूर्ण संसार के आरम्भ और अंत का कारण वही है। इस परम तत्त्व का ज्ञान प्राप्त होते ही वह ईश्वर की विराट मूर्ति का साक्षात्कार कर लेता है जो अखिल ब्रह्माण्ड को घेरे विराजमान है। उसे अनुभव होता है—

'देव' नभमन्दिर में बैठारयो पुहुमि-पीठ,
सिगरे सलिल अन्हवाय उमहत हौं।
सकल महीतल के मूल-फल-फूल-दल,
सहित सुगंधन चढ़ावन चहत हौं।
अगिनि अनंत. धूप-दीपक, अनंत ज्योति,
जल-थल-अन्न दै प्रसन्नता लहत हौं।
ढारत समीर चौंर, कामना न मेरे और,
आठौ जाम राम तुम्हें पूजत रहत हौं॥

देव की आध्यात्मिकता में बौद्धिकता का अंश अधिक है। वे भावुक कवि थे अतः बौद्धिकता द्वारा ग्रहीत इन तत्त्वों को उन्होंने बहुत कुछ भाव का विषय बना दिया है, इस लिए इसे पूर्ण रूप से बौद्धिक नहीं कह सकते। उनकी वैराग्य-परक रचनाओं में रागात्मकता पर्याप्त मात्रा में प्राप्य है। देव की आध्यात्मिकता में दो ही तत्त्वों की प्रधानता है—बुद्धि-तत्त्व तथा राग-तत्त्व की, अध्यात्म तत्त्व की प्रधानता नहीं मिलती। उन्होंने बुद्धि द्वारा प्राप्त दार्शनिक तत्त्वों को भाव का विषय बनाने का प्रयास किया है।

देव के धार्मिक विचारों में साम्प्रदायिकता की अनुदारता नहीं है। राधा कृष्ण के अतिरिक्त उन्होंने राम-सीता, शिव-पार्वती आदि के प्रति भी अपनी भक्ति-भावना प्रदर्शित

की है। तत्त्व पचीसी में अद्वैतवाद के निराकार ब्रह्म के प्रति भी उन्होंने अपना विश्वास प्रकट किया है। किन्तु उनके काव्य का अनुशीलन करने से हमें निश्चित रूप से ज्ञात हो जाता है कि उनके इष्टदेव राधा कृष्ण ही थे। कुछ विद्वानों ने इन्हें गोस्वामी हित हरि वंश की शिष्य-परम्परा में राधा-बल्लभीय-सम्प्रदाय में दीक्षित बताया है, परन्तु इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। शृंगारी कवि होने के कारण नायिका का तादात्म्य उन्होंने राधा से किया है, इसलिए राधा के प्रति उनका कुछ झुकाव जान पड़ता है, किन्तु उनके जो कवित्त शुद्ध भक्ति-भाव के हैं, वे कृष्ण को ही ध्यान में रख कर रचे गये जान पड़ते हैं।

देव के दार्शनिक विचार मुख्यतः 'देव शतक' तथा 'देव माया प्रपच' में देखने को मिलते हैं। वे कृष्ण—भक्त थे परन्तु ईश्वर, जीव, जगत् आदि के सम्बन्ध में उनके सिद्धान्तों पर कृष्ण भक्ति के आचार्यों के विचारों के साथ शंकर के अद्वैतवाद का भी प्रबल प्रभाव पड़ा है। 'देव-माया-प्रपंच' में माया की सत्ता को स्पष्ट रूप से उन्होंने स्वीकार किया है। उन्होंने ब्रह्म और जीव दोनों को माया से ग्रस्त माना है। देव ने माया के प्रचंड प्रभाव का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में किया है:—

एक ते अनेक कै अनेक ते करत एक
पंचभूत भूत अद्भुत गुन मती है।
पुरुष पुरानहिं खिलावै बटा जीवी पटा
सीत भानु भानु देव माया भानुमती है॥

इस प्रकार देव समस्त विश्व को माया का ही प्रपंच मानते हैं। वेदान्तियों में मकड़ी और जाले का दृष्टान्त अत्यन्त विख्यात है। जिस प्रकार अपने ही मुख से निकले जाले में मकड़ी बँध जाती है उसी प्रकार सोपाधि ब्रह्म भी अपनी माया में आबद्ध हो जाता है—

पै अपने गुण यों बँधै माया को उपजाय।
ज्यों मकरी अपने गुननि उरझि उरझि मुरझाय॥

माया का यह प्रभाव अन्त में सत्संगति आदि साधनों के द्वारा समाप्त हो जाता है और ब्रह्म सगुण रूप का परित्याग कर अपना शुद्ध निर्गुण रूप प्राप्त कर लेता है—

छूटि गये गुन सगुन के, निर्गुन रह्यो निदान।

परन्तु यह मान लेना भ्रम होगा कि ब्रह्म के सम्बन्ध में देव के सिद्धान्त शंकर के अद्वैतवाद के शत प्रतिशत अनुकूल ही हैं। अद्वैतवाद के निर्गुण को देव ने स्वीकार किया है परन्तु वैष्णवों के सगुण को उन्होंने अस्वीकार नहीं किया प्रत्युत् इसमें उनकी आस्था और भी अधिक है। उनके मंगलाचरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है:—

वेदन हू गने गुन गनै अनगने भेद।
भेद बिनु जाको गुन निरगुन हू यहै।
केतिक विरंच्यो, महा सुखन को संच्यों जहां;
बंच्यो ब्रजभूप सोई, पर ब्रह्म भूप है॥

देव ने सगुण भक्तों के सदृश उद्धव-प्रसंग में सगुणवाद का पूर्ण समर्थन भी किया है—

'कंस-रिपु अंस अवतारी जदु बंस कोई,
कान्ह सों परम हंस कहै तो कहा सरो।
हम तो निहारे ते निहारे ब्रजबासिन मैं,
देव मुनि जाको पचि हारे निसि बास्रो ॥

देव के विचारों में इस द्विविधा का कारण क्या है, यह विचारणीय है। इसका मुख्य कारण यह है कि "कविता जीवन के प्रति भावात्मक प्रतिक्रिया है।"[1] उस पर बौद्धिकता का प्रभाव असंदिग्ध रूप से पड़ता है परन्तु यह प्रतिक्रिया स्वभावतः स्वतंत्र रूप से होती है। बौद्धिक सिद्धान्तों का प्रभाव उसे पूर्ण रूप से आबद्ध नहीं कर सकता।' इस द्विविधा का दूसरा कारण यह हो सकता है कि देव साम्प्रदायिक कवि नहीं कहे जा सकते। ये प्रेम-रस-मग्न कवि थे और साम्प्रदायिकता की संकीर्णता उन्हें छू भी नहीं सकी थी। वस्तुतः रीति काल में साम्प्रदायिकता बहुत कुछ कम हो गई थी। धार्मिक मत मतान्तरों के सूक्ष्म भेद प्रभेद इस काल में बहुत कुछ समाप्त हो गये थे। युग चेतना के अनुसार देव में भी साम्प्रदायिक भावना का अभाव था।

रीति-विवेचन

देव रीति काल के केवल कवि ही नहीं, आचार्य भी हैं। रीति काल के अन्य कवियों के समान देव ने भी नायिका-भेद, रस, अलंकार आदि का विवेचन किया है परन्तु "उनका आधार-फलक (कैनवस) अवश्य ही बहुत विस्तृत है।" डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'रीति काल के कम कवियों में इतना वैविध्य होगा।"

देव की गणना रीति काल के उन आचार्यों में है जिन्होंने काव्य के सभी अंगों का सम्यक् विश्लेषण किया है। 'शब्द रसायन' और 'भवानी विलास' में सभी रसों का पूर्ण विवेचन प्राप्त होता है। 'भाव विलास' में शृंगार रस के परिपाक का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। 'भाव विलास', 'भवानी विलास', 'रस विलास', 'कुशल विलास', 'सुजान विनोद' और 'सुख-सागर-तरंग' में नायिका भेद पर विस्तृत तथा सूक्ष्म विचार किया गया है। 'भाव विलास' और 'शब्द रसायन' का विषय अलंकार-निरूपण है। 'भाव विलास' में अलंकार-निरूपण संक्षेप में है, परन्तु 'शब्द रसायन' में कुछ विस्तार किया गया है। 'शब्द रसायन' में शब्द शक्ति, गुण और छन्द शास्त्र का भी विवेचन है। देव ने दोषों का विवेचन कहीं नहीं किया, नहीं तो रीति के अन्य सभी अंगों पर सम्यक् विचार किया है। शृंगारी होने के कारण उन्होंने शृंगार रस तथा नायिका भेद का अत्यन्त विस्तृत वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शब्द रसायन' तथा 'भाव विलास' हैं।

---

१ डा० नगेन्द्र।

रस की परिभाषा देव ने निम्न-लिखित दोहे में दी है :—

जो विभाव अनुभाव अरु, विभचारिनु करि होइ।
थिति की पूरन बासना, सु कवि कहत रस सोइ ॥

अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारियों की पूर्ण वासना का नाम रस है। अन्य रीति कवियों के ही समान देव ने भी रस की स्थिति तथा रस के स्वरूप के प्रश्न को अधिक महत्त्व नहीं दिया। इसका कारण यह था कि इन कवियों ने इतनी गहराई में उतरने का साहस नहीं किया। दूसरी बात यह है कि उस समय तक गद्य का प्रचलन नहीं हो पाया था और पद्य में इन विषयों का सम्यक् विवेचन सम्भव नहीं।

देव ने रस के दो प्रकार माने हैं—लौकिक और अलौकिक। अलौकिक रस के तीन भेद किये हैं—स्वप्न, मनोरथ और उपनायक। लौकिक रसों के परम्परागत विभाग किये हैं। देव ने परम्परा के अनुसार शृंगार के दो भेद किये हैं—संयोग और वियोग। वियोग शृंगार के चार भेद हैं—पूर्व राग, मान, प्रवास तथा करुणात्मक। इनमें पहले तीन भेदों का वर्णन देव ने परम्परागत शास्त्रीय विधि से ही किया है परन्तु करुणात्मक वियोग का वर्णन नवीन ढंग से किया है।

देव ने रस के सम्बन्ध में दो स्थापनाएँ की हैं। प्रथम स्थापना के अनुसार रस चार हैं—शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स। यह स्थापना मौलिक नहीं प्रत्युत् भरत का केवल अनुवाद है। दूसरी बात यह है कि इस स्थापना का कोई औचित्य भी नहीं है। रस के विषय में देव की दूसरी स्थापना है कि नव रसों में मुख्य रस तीन ही हैं—शृंगार वीर और शान्त। शेष छः रस इन्हीं के आश्रित हैं। अन्त में देव ने शृंगार के दोनों भेदों—संयोग और वियोग – में शेष सभी रसों का अन्तर्भाव कर लिया है। 'भवानी विलास' में उन्होंने वीर रस के तीन ही भेद किये हैं—युद्ध वीर, दया वीर और दान वीर; धर्म वीर की गणना नहीं की है।

संचारियों के भी वर्णन में देव ने कुछ विचित्रता दिखाई है। शास्त्र में संचारी का कोई दूसरा भेद नहीं माना गया है परन्तु उन्होंने उन के दो भेद किये हैं—तन संचारी और मन संचारी। तन-संचारी से तात्पर्य सात्त्विक भाव से है और मन संचारी सामान्यतः स्वीकृत निर्वेदादि संचारी भाव हैं। संचारियों के सम्बन्ध में दूसरी विशेषता यह है कि 'छल' नामका एक चौंतीसवां संचारी माना है। पुराने आचार्यों ने संचारियों की संख्या ३३ मानी है। परन्तु 'रस तरंगिणी' में 'छल' नामक संचारी माना गया है। देव ने इसे वहीं से लिया है।

देव ने नायिका-भेद पर बहुत विस्तार से विचार किया है। शृंगार रस के आलम्बन का विवेचन करते समय नायक और नायिका का वर्णन हो ही जाता है परन्तु रीति काल में नायिका-भेद एक स्वतंत्र ही नहीं, प्रधान विषय हो गया था। देव ने भी अपने अनेक ग्रन्थों में इस विषय का विस्तृत विवेचन किया है। रस की दृष्टि से नायक और नायिका में

नायिका की ही प्रधानता है। नायिका उस स्त्री को कहते हैं जो यौवन, रूप, कुल, प्रेम शील, गुण, वैभव और भूषण से युक्त हो। ये आठों अंग स्वकीया में ही सम्भव हैं, परकीया में कुल और शील का अभाव रहता है।

रीति काल के कवियों में विस्तार देव को ही सब से अधिक प्रिय था। जहां अन्य कवियों ने कुछ ही आधारों पर नायिका के भेद किये, वहां इन्होंने आठ या नौ आधारों को लेकर इस प्रसंग का विस्तार किया है। इस विषय में भी देव ने मौलिकता दिखाने का प्रयास किया है।

देव ने अलंकारों की भी योजना संस्कृत साहित्य के आचार्यों से भिन्न प्रकार की की है। उन्होंने अलंकारों का विवेचन केवल दो स्थलों पर किया है— भाव विलास के अन्तिम विलास में तथा 'शब्द रसायन' के आठवें और नवें प्रकाश में। 'भाव-विलास' में केवल ३९ अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। 'शब्द रसायन' में अलंकारों का कुछ अधिक विस्तार है इस ग्रन्थ में ७० अलंकारों का वर्णन है।

अलंकारों के सम्बन्ध में देव की दो मान्यताओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पहली मान्यता यह है कि है उन्होंने शब्दालंकार को अत्यन्त हेय माना है क्योंकि इसमें शाब्दिक मधुरता तथा चित्रोपमता तो रहती है परन्तु अर्थ की क्लिष्टता रहती है अथवा अर्थ का अभाव ही रहता है। देव ने इसे मृतक काव्य अथवा प्रेत काव्य माना है। देव की दूसरी मान्यता है कि अलंकारों में सब में मुख्य उपमा और स्वभावोक्ति हैं। इन दोनों में भी उपमा का महत्त्व अधिक है। स्वभावोक्ति का इतना अधिक महत्त्व कभी नहीं रहा। पता नहीं, देव ने स्वभावोक्ति को इतना अधिक महत्त्व क्यों दिया। इस विषय में किसी प्राचीन आचार्य का प्रमाण नहीं है

शब्द शक्ति का विवेचन संस्कृत साहित्य का अत्यन्त महत्त्व पूर्ण विषय रहा है। रीति-काल के अधिकांश कवियों ने इसकी गहराई में उतरने का साहस ही नहीं किया। बहुत थोड़े कवियों को इस विवेचन में सफलता मिली है। देव ने इस विषय का विवेचन 'शब्द रसायन' के प्रथम प्रकाश में किया है। उन्होंने शब्द-शक्तियों की संख्या चार बताई है— अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्य। उनके अनुसार अभिधा का एक भेद, लक्षणा के तेरह भेद और व्यंजना का एक भेद हैं। इन भेदों के भी कितने उपभेद माने गये हैं। चौथी शक्ति तात्पर्य की सत्ता देव ने मानी है जिसकी स्थिति शेष तीनों प्रकार की शक्तियों में वर्त्तमान रहती है—"तात्पर्ज चौथों अरथ, तिहूँ शब्द के बीच।"१ इस तात्पर्य वृत्ति के विषय में प्राचीन आचार्यों में बहुत मत-भेद रहा है। इसका अर्थ है वाक्य के विभिन्न पदों के अभिधेयार्थ को एक में सम्मिलित कर देना। प्रकारान्तर से यह भी अभिधा शक्ति के ही अन्तर्गत है परन्तु यह वाक्य-गत होता है, शब्द-गत नहीं।

रीति-गुण का विवेचन देव ने 'काव्य-रसायन' में किया है। भरत ने दस गुणों की कल्पना की है, परन्तु आगे चल कर ध्वनिकार ने गुणों की संख्या तीन कर दी—माधुर्य,

---

१ शब्द रसायन।

ओज और प्रसाद। मम्मट आदि ने भी इसी को स्वीकृति दी। परन्तु देव ने भरत-द्वारा निर्दिष्ट दस गुणों को ही मान्यता दी। इतना हीं नहीं, अनुप्रास और यमक को भी गुणों के अन्तर्गत मान कर गुणों की संख्या बारह तक पहुँचा दो है। देव ने पिंगल शास्त्र की भी विवेचना की है।

अब हम देव की आलोचना-शक्ति पर थोड़ा विचार करें। पहले हमारा ध्यान मौलिकता की ओर आकृष्ट होता है। मौलिकता के विचार से देव अथवा किसी भी रीतिकार का स्थान ऊँचा नहीं कहा जा सकता। रीति के विभिन्न अवयव विभिन्न आचार्यों से लिये गये हैं। वस्तुतः संस्कृत रीति-शास्त्र इतना विकसित हो चुका था कि किसी भी आचार्य के लिए मौलिकता की उद्भावना कठिन थी। संस्कृत के मम्मट आदि आचार्यों ने मौलिक उद्भावना नहीं की है प्रत्युत् प्राचीन आचार्यों के ही सिद्धांतों की व्याख्या की है। परन्तु देव से यह कार्य भी सम्यक् रूप से नहीं हो सका। साहित्य के सूक्ष्म सिद्धान्तों की व्याख्या में देव को सफलता नहीं मिल सकी। इनका भाव-पक्ष जितना समुन्नत था, उतना विचार-पक्ष नहीं। फलस्वरूप उनका रीति-विवेचन वर्णनात्मक ही रह गया, आलोचनात्मक नहीं बन सका। उनके विवेक-पक्ष में सबलता का अभाव था, यहां तक कि विस्तार के उत्साह के कारण सुरुचि और कुरुचि में भी भेद नहीं कर सके। "आलोचक की दृष्टि से देव का मुख्य गुण है उनका रस संवेदन। हिन्दी रीति—साहित्य में रस सिद्धान्त का इतना समर्थ एवं व्यापक प्रतिपादन दूसरा कवि नहीं कर पाया। इस दृष्टि से ही उनका गौरव है। इसके अतिरिक्त न तो उनकी तथा-कथित मौलिक उद्भावनाएँ और न उनका भेद प्रस्तार ही कुछ विशेष महत्त्व रखता है।"[१]

भाषा-शैली

देव की भाषा ब्रज भाषा है। पूर्ववर्त्ती कवियों ने ब्रज-भाषा को अत्यन्त समृद्ध बना दिया था। देव को उत्तराधिकार में अत्यन्त परिमार्जित, स्वच्छ, व्यापक तथा शक्ति-शाली ब्रज भाषा मिली थी। उन्होंने उत्तराधिकार में प्राप्त भाषा को और भी समृद्ध तथा उन्नत बनाया। ब्रज भाषा के प्रमुख आचार्यों में देव की भी गणना होती है। उनकी भाषा और शैली की विशेषताएँ निम्न लिखित हैं।

(१) देव की भाषा की एक बहुत बड़ी विशेषता उसकी चित्रमयता है। जिस प्रकार कोई निपुण चित्रकार कुछ रेखाओं तथा रंगों की सहायता से एक पूर्ण चित्र अंकित कर देता है, उसी प्रकार देव भी कुछ शब्दों की सहायता से एक पूर्ण चित्र उपस्थित कर देते हैं। गति वेग का चित्र नीचे की पंक्तियों में देखा जा सकता है:—

भूषननि भूलि पैन्हे उलटे दुकूल 'देव',
खुले भुज मूल प्रतिकूल विधि बंक मैं।

१ डा० नगेन्द्र—देव और उनकी कविता।

चूल्हे चढ़े छाँड़े, उफनात दूध भाँड़े,
उन सुत छाँड़े अंक, पति छाँड़े परजंक मैं ॥

(२) देव की शैली सर्वथा रीति कालीन है। उन्होंने मुख्यतः कवित्त और सवैया जैसे बड़े छन्दों में अपने भावों को अभिव्यक्ति दी है। इनमें भी घनाक्षरियों की संख्या बहुत अधिक है। दोहे की अपेक्षा ये छन्द बहुत बड़े होते हैं। फलतः बिहारी ने थोड़े शब्दों में अपने भावों को व्यक्त कर के गागर में सागर भर दिया है किन्तु देव बहुत शब्दों में भी वह प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सके हैं। संक्षिप्तता में ही वाग्-विदग्धता उत्पन्न हो सकती है अतः देव वाग् -विदग्धता की दृष्टि से बिहारी के बहुत पीछे रह जाते हैं। इस विषय में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत ध्यातव्य है। "देव की सबसे बड़ी कमजोरी बड़े बड़े छन्दों में साधारण और सहज चित्रों के फैलाने की चेष्टा में व्यक्त होती है। छन्दों के चुनाव में बिहारी और मतिराम देव से अधिक चतुर हैं।"

(३) साहित्यिक ब्रजभाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुर परिमाण में होने लगा था। देव की भाषा में नंददास तथा केशव की अपेक्षा कम संस्कृत शब्दों का प्रयोग हुआ है परन्तु मतिराम, पद्माकर तथा घनानंद की अपेक्षा संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। कुछ कवित्तों में विनय-पत्रिका वाली संस्कृत-बहुल भाषा का प्रयोग किया गया है, जैसे :—

जय जय भगवंत रूपी महारत्न,
भारायमान क्षितीभार संभार हृत,
कमल-नयन केशव स्वामि, कंसारि,
वंसावतंम, स्फुरद्रूप गोपाल भूपाल भृत।

(४) ब्रज भाषा के अधिकांश तद्भव शब्द प्राकृत और अपभ्रंश से ही आये हैं। देव की कविता में ऐसे अपभ्रंश शब्दों की कमी नहीं है। लोचन के लिए लोयन, विद्युत् के लिए बिज्जु, मदन के लिए मयन, यूथ के लिए जूह, नाथ के लिए नाह, आदि अपभ्रंश शब्द उनकी भाषा में प्रयुक्त हुए हैं परन्तु ये शब्द हिन्दी के तद्भव बन गये हैं।

(५) साहित्यिक ब्रज भाषा में अरबी फारसी शब्दों का भी समावेश हो गया था। देव ने भूषण और बिहारी की अपेक्षा अरबी फारसी के कम शब्दों का प्रयोग अपनी कविता में किया है। गुलाब, कमान, मखमल, महल ऐसे शब्द तो हिन्दी में पूर्ण रूप से घुल मिल गये हैं। इनके अतिरिक्त जो शब्द देव की कविता में प्रयुक्त हुए हैं वे उस युग में सरलता से समझे जाते थे, जैसे—रूख, बर्फ, सही, जोर, शर्बत, गरीब आदि। उनकी भाषा में कुछ कठिन विदेशी शब्दों का प्रयोग हुआ है; जैसे फरागत, मखतूल, फर्शबंद आदि।

(६) देव को ब्रज के बाहर कई प्रान्तों में रहना पड़ा था और उनकी भाषा में उन प्रान्तों की भाषाओं के शब्दों का सम्मिश्रण सम्भव है। परन्तु उन्होंने इन भाषाओं

के उन्हीं शब्दों को ग्रहण किया जो पूर्ववर्ती कवियों द्वारा स्वीकृत हो चुके थे। अवधी, बुंदेलखंडी, कन्नौजी तथा राजस्थानी भाषाओं के शब्द देव की भाषा में प्रयुक्त हुए हैं। उनके कई शब्द नये जान पड़ते हैं परन्तु वास्तव में तोड़ मरोड़ के ही कारण वे नये लगते हैं जैसे 'लपना', 'सौंरइ' तथा 'रिख्यों' क्रमशः जल्पना, श्यामलता तथा रेखा के विकृत रूप हैं। 'अंभा', 'बीकना' आदि कुछ ही शब्द बुंदेलखंडी आदि से लिये गये हैं।

(७) देव की भाषा की बहुत बड़ी विशेषता उसकी अलंकृति है। उन्होंने बहुत परिश्रम कर के भाषा को समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया है। ब्रज भाषा की प्रकृति लम्बे समासों की नहीं है। अतः देव के पद प्रायः छोटे समास वाले अथवा असमस्त हैं।

(८) अनुप्रासों के प्रयोग के कारण देव की भाषा में विशेष सौन्दर्य आ गया है। अनुप्रास के प्रयोग में कवि ने वर्ण-मैत्री की कोमलता पर ही प्रायः ध्यान दिया है। जैसे :–

बारि को बूँद चुवैं चिलकैं अलकैं, छवि की छलकैं उछली-सी।
अंचल झीनें झकैं झलकैं, पुलकैं कुंच-कंद कदम्ब–कली सी॥

यमक का भी प्रयोग देव ने प्रायः पद-बंधों की सजावट के लिए किया है :—

जे हरि मेरी धरैं पग जेहरि, ते हरि चेरी के रंग रचे री।

(९) देव की भाषा में अर्थ-ध्वनन का चमत्कार बहुत पाया जाता है। वस्तुतः रीति–काल में देव और पद्माकर इस विषय के सबसे बड़े कलाकार थे। निम्न–लिखित कवित्त के शब्दों से ही वायु का मधुर स्पंदन, मेघों का गर्जन, वर्षा की रिमझिम, पीत पट का फहराना स्वयमेव ध्वनित हो जाते हैं :—

सहर सहर सोंधो सीतल समीर डोलै,
घहर घहर घन घेरि के घहरिया।
झहर झहर झुकी झीनी झरि लायो 'देव',
छहर छहर छोटी बूंदन छहरिया।
हहर हहर हँसि हँसि के हिंडोरे चढ़ी,
थहर थहर तनु कोमल थहरिया।
फहर फहर होत पीतम को पीत पट,
लहर लहर होत प्यारी की लहरिया॥

(१०) देव ने लक्षणा शक्ति से भी काम लिया है। इस दृष्टि से उस युग के कवियों में घनानंद अग्रगण्य हैं परन्तु देव ने भी अनेक स्थानों पर सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग किये हैं :—

(क) मदन सदेह जाग्यो।

काम के तीव्र आवेग की अभिव्यक्ति के लिए 'सदेह' पद में अद्भुत सामर्थ्य है।

(ख) मदन मरोरै 'कोरे' अंग कुम्हिलाने जात।

(११) देव ने प्रतीक पद्धति से भी काम लिया है। अपने नाटक 'देव-माया-प्रपंच' में कवि ने अमूर्त भावनाओं को प्रतीकात्मक रूप दिये हैं। उन्होंने भाषा की प्रतीकात्मकता का उपयोग करके अमूर्त को मूर्त बना दिया है। उदाहरणार्थ करुणा का मूर्त रूप देखा जाय :—

पीर पराई सों पीरो भयो मुख, दीननि के दुःख देखे बिलाती।
भीजि रही करुना करुना-रस काल की केलिन सों कुम्हिलाती।
लीलै उसासन आंसुन सों उमगै सरिता भरि कै ढरि जाती।
नाव-लौं नैन भरैं-उछरैं जल ऊपर ही पुतरी उतराती॥

(१२) व्यंजना से वाणी में वक्रता आती है। देव ने भाषा की इस शक्ति का भी उपयोग किया है। व्यंजना का उपयोग विशेषतः खंडिता नायिका की उक्तियों में किया गया है।

प्रतिव्रत-व्रती ये उपासी-प्यासी अँखियन,
प्रात उठि प्रीतम पिआनो रूप-पारनो।

यहां धीरा नायिका अपने मान को दैन्य से मंडित करके मर्म-स्पर्शी ढंग से कहती है।

(१३) कहीं कहीं देव की रचना में प्रयुक्त विशेषण आवश्यकता से अधिक लम्बे हो गये हैं; यथा :—

नूपुर-संजुत मंजु मनोहर, नावक रंजित कंज से पायन।

इस पंक्ति में विशेषणों का बाहुल्य देखा जा सकता है। अशिष्ट तथा ग्रामीण शब्दों का प्रयोग इन की भाषा में अपेक्षा कृत कम है।

(१४) देव की भाषा में मुहावरे भी काफी संख्या में प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु प्रायः सर्वत्र ही ये वाक्य का अंग बन कर व्यवहृत हुए हैं।

(क) चाह भई फिरौं या चित मेरे की 'छाह भई फिरौं नाह के पीछे।
(ख) जोबन आयो न पाप लग्यो कवि देव' रहैं गुरु लोग रिसों हैं।
(ग) खेलिबोऊ हँसिबोऊ कहा सुख सों बसिबो 'बिसे बीस' बिसारो।

देव ने कहावतों का भी प्रयोग किया है परन्तु मुहावरों की अपेक्षा बहुत कम। उदाहरण के लिए कुछ प्रयोग देखें:—

(क) ओस की आस बुझै नहिं प्यास, बिसास डसैं जनि काल—फनिन्द के।
(ख) देव निसाकर ज्योति जगै न जगै जुगुनून को पुँज उजेरो।

(१५) देव पर शब्दों के तोड़ मरोड़ का दोष लगाया जाता है। कहीं कहीं शब्दों के रूप इतने विकृत हो गये हैं कि उनका अर्थ लगाना भी कठिन हो जाता है। इस शब्द-विकृति के दो कारण हैं; एक तुक का आग्रह और दूसरा यमक तथा अनुप्रास का मोह। तुक के आग्रहसे कंदुक का कंद, इच्छा का ईछी, हिरण्य का हिरन तथा तुला का तुलही बन जाता है।

इसी प्रकार यमक तथा अनुप्रास के मोह के कारण पूर्णेंदु का पुनन्मदु, व्यामोह का व्योह, जल्पना का लपना बन गया है।

(१६) अंग-भंग की यह क्रिया केवल संस्कृत के ही शब्दों के साथ नहीं प्रत्युत् हिन्दी के भी शब्दों के साथ हुई है। 'नितई' 'हितई'; 'उनीधी', आदि कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। फिर 'वंशी बारौं' के ढंग पर 'मनसी वारौं', तनसी वारों', सहचर के ढंग पर 'रहचर', 'महचर' आदि अनेक रूप देव ने बना लिये हैं।

(१७) देव के काव्य में ऐसे बहु संख्यक शब्द हैं जिनका कोई अर्थ ही नहीं मिलता; जैसे तीभ, धील, हुद्र, खीजी, बावस आदि। यों तो ब्रज भाषा के प्रायः सभी कवियां में यह दोष पाया जाता है परन्तु देव में कुछ अधिक मात्रा में है।

(१८) व्याकरण की दृष्टि से भी देव की भाषा में त्रुटियां हैं। जहां उन्होंने कुछ संयम से काम लिया है वहां उनकी भाषा शुद्ध तथा व्याकरण-सम्मत है। किन्तु अनेक स्थानों पर तुक, अनुप्रास तथा यमक के मोह में पड़ कर देव ने भाषा पर ध्यान नहीं दिया है और फलतः लिंग-सम्बन्धी दोष, कारक चिन्हों तथा क्रिया के रूपों में अव्यवस्था आदि अनेक दोष आ गये हैं। जैसे—

(क) न रचा है चित और, अरचा है चित चारी 'को'।

'अरचा' स्त्रीलिंग है, परन्तु 'को' पुंलिंग का चिह्न है।

(ख) देव अहो बलि हौं बलिहारी, तिहारी सी प्रीति निहारी न 'मेरे'।

'मेरे' में देव ने सम्बन्ध की विभक्ति लगा दी है, परन्तु यहां कर्त्ता की विभक्ति होनी चाहिए।

(१६) उस समय की साहित्यिक ब्रजभाषा में अवधी और खड़ी बोली के क्रिया-पद तथा सर्वनाम मिल गये थे। देव ने भी अपनी भाषा में उनका प्रयोग किया है। अवधी का 'आहि' देव की भाषा में प्रयुक्त हुआ है। 'दीन्ह', 'कीन्ह' के स्थान पर उन्होंने दीन्हीं', 'किन्हीं' कर दिया है। सर्वनामों में 'जेहि' 'तेहि' का भी प्रयोग किया गया है।

(२०) कहीं कहीं इनकी भाषा में न्यून पदत्व दोष आ गया है; जैसे—

बालम ओर बिलोकि के बाल, दई मानों खेंचि सनाल सरोज की।

यहां 'माल' शब्द की न्यूनता है।

(२१) अधिक तथा निरर्थक पदों की संख्या देव की भाषा में बहुत अधिक है। जैसे —

(क) लाज लिये अभिलाष लखी लखिमी विलखी, 'लख लाख लखी' की।

(ख) बह-बह्यो गंध, 'बह-बह्यो है सुगंध'।

इन दोनों पंक्तियों में दूसरे वाक्यांश अनावश्यक हैं।

देव की भाषा के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने अपना मत प्रकट किया है, "इनकी भाषा में रसार्द्रता और चलतापन कम पाया जाता है। कहीं कहीं शब्द-व्यय बहुत अधिक और अर्थ बहुत अल्प है। अक्षर-मैत्री के ध्यान से इन्हें कहीं कहीं अशक्त शब्द रखने पड़ते थे जो एक ओर तो भद्दी तड़क भड़क भिड़ाते थे, और दूसरी ओर अर्थ को आच्छन्न करते थे। तुकान्त और अनुप्रास के लिए ये कहीं कहीं शब्दों को ही तोड़ते मोड़ते न थे, वाक्य को ही अविन्यस्त कर देते थे।"[१] दूसरी ओर मिश्र बंधुओं ने देव की भाषा की बहुत प्रशंसा की है। वास्तविक बात यह है कि मतिराम से तुलना करने पर देव की भाषा में स्वच्छता का अभाव जान पड़ता है। परन्तु भाषा की श्री-वृद्धि की दृष्टि से देव की भाषा श्लाघ्य है और बहुत कवि इनकी तुलना में नहीं ठहर सकते। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कह सकते हैं, "बिहारी की भाँति वे भी उक्ति-वैचित्र्य का मोह नहीं छोड़ पाते और अर्थ भार हीन शब्दालंकारों के फेर में पड़ जाते हैं, परन्तु जब वे इन चक्करों से मुक्ति पा जाते हैं, तो उनकी भाषा में गति आ जाती है और उनका विस्तृत ज्ञान वक्तव्य को अत्यन्त आकर्षक बना देता है।"

—:※※:—

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास।

घनानंद

जीवन-वृत्त

हिन्दी के अनेक कवियों के सदृश घनानंद के भी जीवन-वृत्तांत के सम्बन्ध में हमें बहुत कम जानकारी है। काल विभाजन की दृष्टि से घनानंद रीति-काल में हुए थे, यद्यपि काव्य की प्रवृत्ति के अनुसार इनकी गणना कृष्ण-भक्तों में की जानी चाहिए। थे साक्षात् 'रस-मूर्त्ति' थे। इनका जन्म संवत् १७४६ वि० के आस पास हुआ और संवत् १७६६ में इनकी मृत्यु हुई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानों को यही काल-सीमा मान्य प्रतीत होती है। लाला भगवान दीन 'शिव सिंह सरोज' के आधार पर जन्म संवत् १७१५ में तथा मृत्यु संवत् १७६६ में मानते हैं। श्री शम्भु प्रसाद बहुगुना जन्म संवत् १६३० तथा मृत्यु संवत् १६६० में मानते हैं। परन्तु कई कारणों से यह काल-सीमा अमान्य है। घनानंद जाति के भटनागर कायस्थ थे और दिल्ली के निवासी थे। परन्तु श्री जगन्नाथ दास रत्नाकर ने इन्हें बुलंद शहर का निवासी सिद्ध किया है। ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह के मीर मुंशी और फारसी के अच्छे विद्वान् थे।

नंददास और रसखान के समान इनके भी विषय में अनेक जनश्रुतियां प्रसिद्ध हैं और उन्हीं के आधार पर इनके जीवन के सम्बन्ध में हमें कुछ बातों का पता चलता है। वे जनश्रुतियां इनके जीवन की किसी विशेष दिशा की ओर संकेत करती हैं। एक जन-श्रुति की खोज लाला भगवान दीन ने की है। उसके अनुसार ये अबुल फजल के शिष्य थे और किसी छोटे ओहदे से बढ़ते बढ़ते बादशाह मुहम्मद शाह के खास कलम (प्राइवेट सेक्रेटरी) के पद पर पहुँच गये थे। इन्हें रास लीला से बहुत प्रेम था और ये प्रायः उसका आयोजन किया करते थे। कई अवसरों पर रास लीलाओं में स्वयं भी भाग लिया

करते थे। उसके कारण इनके हृदय में भक्ति का उद्रेक हुआ और दरबार छोड़ कर ये वृन्दावन चले गये। वहां किसी साधु से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की और कृष्ण-भक्ति में लीन हो गये। रास-लीला के कारण इन्हें कविता-रचना और संगीत से भी प्रगाढ़ प्रेम हो गया था।

दूसरी जनश्रुति का प्रचार पीछे चलकर हुआ, किन्तु आजकल उसीका प्रचार अधिक है। कहा जाता है कि सुजान नाम की वेश्या पर ये अत्यन्त आसक्त थे। एक दिन कुछ कुचक्रियों ने बादशाह से घनानंद की संगीत-कुशलता की प्रशंसा कर दी। बादशाह ने इन्हें अपने पास बुलाया और गाने की आज्ञा दी। परन्तु ये कोई बहाना बना कर टाल मटोल करते रहे। कुचक्रियों को अच्छा अवसर मिला। उन्होंने बादशाह से कहा "जहाँ पनाह, ये सुजान को छोड़ कर और किसी के अनुरोध से नहीं गा सकते।" सुजान बुलाई गई और उसने इनसे गाने का आग्रह किया। उसके अनुरोध पर ये बादशाह की ओर पीठ और उसकी ओर मुँह करके गाने लगे। इन्होंने इतने सुन्दर ढंग से गाया कि सारा दरबार आत्म-विभोर हो गया। बादशाह इनके गाने पर जितने प्रसन्न हुए उतने ही इनकी अशिष्टता पर अप्रसन्न। फलस्वरूप उन्होंने इन्हें दिल्ली छोड़ कर निकल जाने का आदेश दिया। घनानंद बहुत दुःखी हुए और दिल्ली छोड़ कर जाने को प्रस्तुत हो गये। चलते समय इन्होंने सुजान को भी साथ चलने को कहा, किन्तु उसने साथ चलना अस्वीकार कर दिया। इससे इनके हृदय पर बहुत चोट लगी और ये वृन्दावन जाकर निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। इस प्रकार ये वैष्णव भक्त हुए।

किन्तु वैष्णव भक्त होने पर भी ये सुजान को नहीं भूल सके। इस घटना के उपरान्त की इनकी जितनी कविताएँ हैं, सभी में 'सुजान' का नाम अवश्य रखा है। अपने आराध्य देव भगवान् श्री कृष्ण को ही इन्होंने सुजान नाम से अपने हृदय-मन्दिर में स्थापित कर लिया। ये जीवन भर अपने अश्रु-पूर्ण गीतों से उसी सुजान की अर्चना करते रहे। लौकिक पक्ष में 'सुजान' इनकी पूर्व प्रेमिका का नाम रहा, किन्तु आध्यात्मिक पक्ष में सुजान श्री कृष्ण का नाम हो गया। वास्तव में घनानंद को अपनी प्रेमिका सुजान से ही काव्य-प्रेरणा प्राप्त हुई।

तीसरी जन श्रुति इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में कही जाती है। इस जन-श्रुति का उल्लेख सबसे पहले रीवाँ नरेश महाराज रघुराज सिंह ने अपनी भक्त-माल में किया। कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

मथुरा पुरी मलेच्छन घेरे। लाखों यमन खड़े चहुँ फेरे।
घन आनँद वंशी बट पाहीं। बैठ रहे भावना माहीं।
ते अवसर मलेच्छ तहँ आई। मारे खड्ग शीश महँ धाई।

इस घटना को दूसरे प्रकार से भी कहा जाता है। संवत् १७९६ वि० में नादिर शाह के सैनिक लूट पाट करते मथुरा तक आ गये। वहां घनानंद के कुछ विरोधियों ने सैनिकों से कहा कि वृन्दावन में बादशाह का मीर मुन्शी साधु के वेश में रहता है और

उसके पास बहुत धन है। सैनिक वृन्दावन पहुँचे और 'जर जर जर' कह कर चिल्लाने लगे। बेचारे घनानंद के पास वृन्दावन की धूलि के अतिरिक्त था ही क्या ? उन्होंने 'जर' को उलट कर 'रज' कर दिया और तीन मुट्ठी धूलि उठा कर 'रज रज रज' कह कर सैनिकों पर फेंक दी। घनानंद के इस व्यवहार से सैनिक अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होंने तलवार से इनका एक हाथ काट डाला। फलस्वरूप घनानंद की मृत्यु हो गई। कहा जाता है कि मरते समय इन्होंने अपने रक्त से निम्न-लिखित कवित्त लिखा :—

बहुत दिनन की अवधि आस पास परे,
खरे अर बरनि भरे हैं उठि जान को।
कहि कहि आवन छबीले मन-भावन कों,
गहि गहि राखति हो दै दै सनमान को।
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
अब ना घिरत घन आनँद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये संदेसों लै सुजान को॥

वस्तुतः यह कवित्त हृदय के रक्त से लिखा गया है।

रचनाएँ

घनानंद की निम्नलिखित रचनाओं का पता चलता है :—

(१) सुजान सागर, (२) घनानंद कवित्त, (३) रसकेलि वल्ली, (४) सुजान हित, (५) कृपा कांड, (६) इश्क लता, (७) सुजान राग-माला, (८) प्रीति पावस, (९) विरह लीला, (१०) प्रेम-पत्रिका, (११) जमुना-जस, (१२) कोक-सार, (१३) कृष्ण कौमुदी, (१४) नाम-माधुरी आदि।

वस्तुतः घनानंद की रचनाओं की संख्या निश्चित रूप से नहीं बताई जा सकती। कुछ रचनाएँ संदिग्ध हैं। कारण यह है कि रचनाओं में घनानंद और आनंद घन दोनों नाम मिलते हैं। शैली और विषय के प्रतिपादन को देखने से पता चलता है कि दोनों प्रकार की रचनाएँ एक ही कवि की नहीं हो सकतीं। प्रो० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को दोनों रचनाओं को एक ही कवि की कृति मानने में गहरा सन्देह है! "अब तक दोनों एक ही माने जाते हैं पर दोनों के पृथक् होने की बहुत सम्भावना है।" १ आनंद घन नाम के एक जैन कवि हो गये हैं। कृष्ण-भक्त होने के कारण उन्होंने गेय पदों की रचना की। आनंद घन की कविता में हमें वह मार्मिकता तथा हृदय की गहरी वेदना नहीं मिलती जो घनानंद की कविता में मिलती है। दोनों की प्रतिभा और काव्य-शैली में बहुत अन्तर है। "कवित्त सवैया लिखने वाले घन आनंद और पद लिखने वाले आनंद

१ घन आनंद और आनंदघन : वाङ्मुख

घन की काव्य-शैली में घोर पार्थक्य है। घन आनंद के कवित्त सवैयों में विरोध की प्रवृत्ति, भाषा की प्रांजलता और सामासिक वक्रता का जैसा विधान पाया जाता है वैसा पदावली में नहीं।" १ अतः दोनों को भिन्न कवि मानना उचित जान पड़ता है।

भाव पक्ष तथा कला पक्ष का संतुलन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने घनानंद, आलम, ठाकुर, बोधा आदि प्रेमोन्मत्त कवियों को रीति-काल के फुटकल कवियों में स्थान दिया है। रीति काल के प्रतिनिधि कवियों में इन कवियों को स्थान नहीं देने का कारण यह है कि इन्होंने रस, भाव, अलंकार, नायिका-भेद आदि के लक्षण कह कर अनेक उदाहरण नहीं दिये। वास्तव में इस काल के प्रायः सभी कवि शृंगारी थे। कुछ कवियों ने रीति-बद्ध रचना की और अन्य कवियों ने रीति के बंधन में अपने को नहीं जकड़ कर स्वच्छन्द रचना की। ऐसे कवियों में घनानंद का स्थान सर्व श्रेष्ठ है।

हिन्दी साहित्य में ऐसे कवियों की संख्या बहुत कम है जिन्होंने भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष का संतुलन करने का सफल प्रयास किया है ऐसे रस-सिद्ध कवियों में घनानंद का स्थान आदरणीय है। यह दूसरी बात है कि अन्य कवियों के सदृश इनकी ख्याति नहीं हो सकी। ख्याति हो या न हो किन्तु इनके महत्त्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आ सकती। सम्भवतः घनानंद ने ख्याति के ही निमित्त कविता की रचना नहीं की थी। इन्होंने कविता को 'स्वान्तः सुखाय' ही ग्रहण किया था। उनका कथन है—

> मैं अति कष्ट सों लीने कवित्त ये लाज बड़ाई, सुभाव को खोइ कैं।
> सो दुख मेरो न जानै कोऊ लैं बखानैलि खाइये मोहू को गोइ कैं॥
> कैसी करों अब जाऊँ किते मैं बिताये हैं रैन दिना सुख भोइ कैं।
> प्रेम की चोट लगी जिन आँखिन मोइ लहैं कहा पंडित होइ कैं॥

और इनकी कविता समझने के लिए केवल पांडित्य ही तो अपेक्षित नहीं है। इन्होंने अपनी कविता समझने के लिए एक विशेष योग्यता की आवश्यकता बताई है।

> समुझै कविता घन आनँद की हिय आँखिन नेह की पीर तकी।

किन्तु यह योग्यता तो सब में होती नहीं अतः सभी लोग घनानंद जैसे कवियों के काव्य का रसास्वादन नहीं कर सकते। कविता की गहराई में नहीं पैठने वाले असहृदय व्यक्तियों को घनानंद ने 'पूँछ बिसान बिना पसु' की संज्ञा दी है।

> कोटि विषै कर ओट महा नहिं नेह की चोटहिं जो पहचानैं।
> बात के गूढ़न भेदन मूढ़न कोऊ कहै हठिबादहिं ठानैं।
> चाह प्रवाह अथाह परे नहिं आपहि आप विचच्छन मानैं।
> पूँछ बिसान बिना पसु जे सु कहा घन आनँद बानी बखानैं॥

---

१ वही।

भवभूति के समान घनानंद को भी विश्वास है कि उनके समान-धर्मा ही उनकी कविता समझ सकेंगे और ऐसे समान-धर्मा होंगे अवश्य। भवभूति ने लिखा है :—

उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समान-धर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी। १

घनानंद की कविता में कृत्रिमता नहीं है। वे चमत्कार दिखाने के प्रयत्न में जमीन आसमान के कुलाबे नहीं भरते। वे प्रधानतः भाव पक्ष के कवि हैं और तुक तथा अलंकार की खोज के लिए परिश्रम नहीं करते। इनकी कविता अनायास ही इनके हृदय से निकल पड़ती है।

लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।

घनानंद का यह साधिकार कथन शत-प्रति-शत सत्य है। इनके काव्य का कोई भी अध्येता इसे अस्वीकार नहीं कर सकता।

भक्ति-भावना

घनानंद के सम्बन्ध में प्रायः प्रश्न उठता है कि ये भक्त थे अथवा शृंगारी। इस विषय में आलोचकों में मतभेद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है, "इनकी अधिकांश कविता भक्ति-काव्य की कोटि में नहीं आयगी, शृंगार की ही कही जायगी।"२ परन्तु प्रो० देवेन्द्र नाथ शर्मा ने घनानंद को भक्त कवि माना है। उनका तर्क है, "जिस तुला पर घनानंद की 'अधिकांश' कविता शृंगारी प्रमाणित होती है; उस पर तौलने पर लगभग सभी कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं का अधिकांश शृंगार की कोटि में ही आ जायगा। शृंगार तो घनानंद में है ही पर प्रश्न है कि वह भक्ति-मूलक है या लौकिक। यदि उस में लौकिकता या अश्लीलता है तो वह उस युग-धर्म का परिणाम है, जिसमें घनानंद कविता लिख रहे थे; अन्यथा संसार से सर्वथा विरक्त हो जाने पर और भगवान् के चरणों में अपना सर्वस्व समर्पण कर देने पर उन्हें लौकिक शृंगार-वर्णन की आवश्यकता ही क्या थी?"३

किसी भक्त कवि की भक्ति-भावना समझने के लिए आवश्यक होता है कि हम पहले जान लें कि वह भक्त किस सम्प्रदाय में दीक्षित है क्योंकि उसकी रचनाओं पर सम्प्रदाय की छाप अवश्य पड़ेगी। घनानंद के सम्प्रदाय के विषय में, दुर्भाग्यवश, हम निश्चित रूप से कुछ नहीं जानते। इस विषय में कुछ भी निश्चित प्रमाण हमें प्राप्त नहीं। महाराज रघुराज सिंह ने इन्हें माध्व सम्प्रदाय में दीक्षित माना है और कई अन्य आलोचक इन्हें निम्बार्क सम्प्रदाय का अनुयायी मानते हैं। इनमें श्री वियोगी हरि प्रमुख हैं।

---

१ मालती माधव : भवभूति।
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास।
३ ब्रजभषा की विभूतियां।

यों तो सभी वैष्णव सम्प्रदायों का एक मात्र ध्येय है सगुण भक्ति किन्तु सभी में सिद्धान्त रूप से अन्तर है।

वैष्णवों में चार सम्प्रदाय हैं। रामानुजाचार्य ने श्री सम्प्रदाय की स्थापना की जिसकी भक्ति दास्य भाव की है। उसी सम्प्रदाय में रामानंद ने विष्णु के स्थान पर राम की उपासना की परम्परा चलाई। शेष तीनों सम्प्रदायों में कृष्ण की भक्ति की जाती है। माध्व सम्प्रदाय ने माधुर्य भाव को अपनाया निम्बार्क सम्प्रदाय ने सख्य भाव को प्रश्रय दिया और वल्लभ सम्प्रदाय ने वात्सल्य भाव की भक्ति का प्रचार किया। इन तीन सम्प्रदायों ने प्रेम के तीनों रूपों—दाम्पत्य, सख्य तथा वात्सल्य—को अपना कर कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। वास्तव में भक्ति के ये तीनों वाह्य भेद हैं किन्तु सब की परिणति भगवान् के प्रेम में होती है। जो जिस रूप में भगवान की भक्ति करता है, भगवान् उसे उसी रूप में ग्रहण करते हैं।

किसी भी कवि के किसी सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित होने का अर्थ यह नहीं होता कि वह उस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार मात्र करता रहेगा। वास्तव में कोई भी कवि किसी भी बंधन में नहीं बाँधा जा सकता। घनानंद की कविता का अनुशीलन करने से विश्वास हो जाता है कि इनकी भक्ति माधुर्य भाव की है किन्तु इनके काव्य में कहीं कहीं सख्य भाव की भी रचनाएँ मिलती हैं। घनानंद के आराध्य देव भगवान् कृष्ण हैं और आराध्य देव तथा भक्त में प्रेमी प्रेमिका का सम्बन्ध है। घनानंद अपने भगवान् के सामने प्रेमिका रूप में और कहीं कहीं सखा-रूप में प्रेम-निवेदन करते हैं।

नन्ददास और रसखान के सम्बन्ध में जो जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं, उनमें कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य हो या न हो, परन्तु उनकी भक्ति-भावना में स्पष्टतः प्रेम की प्रबलता है। सुजान के प्रति घनानंद के प्रेम के सम्बन्ध में सत्य का कुछ भी अंश हो, किन्तु इन की मनोवृत्ति का कुछ पता चल ही जाता है। इनकी कविता के अध्ययन से यह विश्वास हो जाता है कि ये प्रेमी जीव थे; प्रेम ही इनके जीवन-मार्ग का संवल था। सम्भव है, यही लौकिक प्रेम पारलौकिक प्रेम में परिणत हो गया हो; सुजान के प्रति जो आकर्षण था, वही सुजान कृष्ण के प्रति आकर्षण में परिवर्त्तित हो गया हो।

"घनानंद का व्यक्तित्व अनोखा है। समय की दृष्टि से वह रीति काल में पड़ते हैं, भावना से वैष्णव हैं और प्रेम की अभिव्यक्ति में स्पष्टतः प्रेम मार्गी परम्परा से प्रभावित दीखते हैं। ये तीनों चीजें परस्पर विरोधाभास सी लगती हैं। युग की उपेक्षा कर भक्ति की ओर उन्मुख होना और वैष्णव-भक्ति की सीमाओं का अतिक्रमण कर प्रेम-मार्ग की व्यंजना-प्रणाली को अपनाना उनके व्यक्तित्व को असाधारण गौरव प्रदान करता है।"[१]

वास्तव में घनानंद की भक्ति में इस प्रेम की पीर की ही प्रधानता है। कबीर जायसी आदि निर्गुण-मार्गी भक्तों के समान इनकी माधुर्य-भक्ति में अथाह वेदना है। यह वेदना उन की प्रत्येक साँस से निकलती है।

---

१ वही।

सगुण भक्तों में प्रेम की पीड़ा उस मात्रा में नहीं दिखाई देती जिस मात्रा में निर्गुण मार्गी भक्तों में देखी जाती है। सगुण मार्गियों का भगवान् तो प्रत्यक्ष है, उसको पाने के लिए इतनी व्यग्रता ही क्यों होगी? किन्तु निर्गुण मार्गी भक्त अव्यक्त तथा अमूर्त की उपासना करते है। उनका आराध्य प्रत्यक्ष नहीं। इसीलिए उनकी भक्ति में इतनी वेदना निहित रहती है। घनानंद कृष्ण-भक्त हैं परन्तु कृष्ण के वाह्य और प्रत्यक्ष रूप से इन्हें सन्तोष नहीं। ये सूक्ष्म रूप की खोज में हैं। अत: सगुणोपासक होने पर भी घनानंद की भक्ति निर्गुण-मार्गियों की भक्ति के समान है। इस दृष्टि से घनानंद की भक्ति मीराँ की भक्ति से मिलती जुलती है। इन की भक्ति में सगुण और निर्गुण का सुन्दर समन्वय है।

घनानंद ने विभाव-पक्ष से अधिक भाव-पक्ष पर ध्यान दिया है। इनकी दृष्टि आत्म निष्ठ है। वाह्य रूपों का वर्णन इन्होंने अधिक नहीं किया है; इनका विशेष ध्यान रहा है भावनाओं की अभिव्यंजना पर। वाह्य रूप का इन्होंने वर्णन भी किया तो उसके प्रभाव पर ही इनका अधिक ध्यान रहा है। कृष्ण के रूप का इन्होंने वर्णन किया है परन्तु हृदय पर पड़ने वाले उसके प्रभाव की ही व्यंजना अधिक की है। एक उदाहरण देखिए—

> डगमगी डगनि धरनि छवि ही के भार
> ढरनि छबीले उर आछी बनमाल की।
> सुन्दर बदन पर कोटिन मदन वारौं
> चित चुभी चितवनि लोचन विसाल की।
> काल्हि इति गली अली निकस्यौ अचानक ह्वै
> कहा कहौं अटक भटक तिहिं काल की।
> भिंजई हौं रोम रोम आनँद के घन छाई
> बसी मेरी आँखिन में आवनि गोपाल की।

इस कवित्त में घनानंद ने कृष्ण के अंग प्रत्यंग का वर्णन नहीं किया है। इनका ध्यान कृष्ण के वाह्य रूप पर नहीं है प्रत्युत् उस सौन्दर्य से उत्पन्न मन में जो तृप्ति होती है उसीका वर्णन करने पर है। 'भिंजई हौं रोम रोम' में प्रभाव की अतिशयता का वर्णन हो जाता है।

घनानंद ने सूक्ष्म वर्णन के साथ कहीं कहीं रूप का स्थूल वर्णन भी किया है। ऐसे वर्णन संख्या में बहुत कम हैं। एक उदाहरण देखें :—

> मंजु मोर-चंद्रिका सहित सीस साँवरे के
> कैसी आछी फबि छबि पाग पँच रंग की।
> दारिम कुसुम के बरन झीने नीमा मधि
> दीपति दिपति सुललित लोने अंग की॥

दूसरे कृष्ण-भक्त कवियों के समान घनानंद ने भी ब्रजभूमि, यमुना, दान लीला, फाग आदि का वर्णन किया है। ये सब भी कृष्ण-भक्ति के अंग ही हैं। इन वर्णनों में भी घनानंद आत्म-निष्ठ ही हैं। यमुना का वर्णन घनानंद ने इन शब्दों में किया है :—

आँखिन कों जो सुख निहारे जमुना के होत,
सो सुख बखाने न बनत देखिबेई है।
गौर स्याम रूप आदरस है दरस जाकौ,
गुपुत-प्रगट भावना बिसेखिबेई है;
जुग-कूल सरस सलाका दीठि परत ही,
अंजन सिंगार रूप अवरेखिबेई है।
आनँद के 'घन' माधुरी की झर लागि रहै,
तरल तरंगिनि की गति लेखिबई है।

इन पंक्तियों में भी प्रभाव का ही वर्णन है। घनानंद ने यमुना के वर्णन में कुछ ऐसे भी कवित्तों की रचना की है जिनमें इनकी दृष्टि बहिर्मुखी है।

मुरली के प्रभाव का वर्णन घनानंद ने निम्न-लिखित सवैये में किया है :—

धुनि पूरि रहै नित काननि में, ब्रज को उपराजिबोई सी करै।
मन मोहन गोहन जोहन के, अभिलाष समाजिबोई सी करै।
घन आनँद तीखियैताननि सों सर से सुर साजिबोई सी करै।
कित तें यह बैरिनि बाँसुरियाँ; बिन बाजेई बाजिबोई सी करै॥

अन्तिम चरण में कवि ने कितनी निपुणता से 'बैरिनि बाँसुरिया' के मर्मस्पर्शी प्रभाव का वर्णन किया है?

राधा और कृष्ण के निवास-स्थान ब्रजभूमि का सरस वर्णन घनानंद ने निम्न-लिखित सवैये में किया है :—

ब्रज की छवि हेरि हर्यौ हिय होतु खिली मिली यूथनि यूथ जुँही।
घनघोर घुरे चहुँ ओर नितैं बरसैं परसैं सरसैं सु फुँही।
तिहि कुंजन मैं रस पुंज भरे बिहरैं हरि राधिका चौंप उँही।
घन आनँद नैन पपीहनि कौं नित ही रस रासि रहौं समुँही॥

ये पंक्तियाँ माधुर्य से पूर्ण हैं।

फाग के वर्णन वाले कवित्तों पर रीति काल का शत प्रति शत प्रभाव पड़ा है। वे पूर्ण रूप से शृंगारिक रचनाएँ हैं और उन्हें भक्ति-परक मानने का साहस कुछ ही लोगों को हो सकता है। सामान्य व्यक्तियों के लिए तो वे शृंगार पूर्ण ही रचनाएँ हैं। जिन भक्तों को सारा विश्व ईश्वर-मय दृष्टि-गोचर होता है, उनकी बात दूसरी है। इस प्रकार के अति शृंगारिक स्थल अन्य भक्त कवियों की भी रचनाओं में हैं।

विरह-वर्णन

घनानंद प्रेमी कवि थे। प्रेम ही इनके जीवन का सर्वस्व था। प्रेम से ही इन्हें कविता की प्रेरणा प्राप्त हुई। घनानंद ने आलोचक के व्याज से अपने कवि का परिचय स्वयं ही दिया :—

> नेही महा ब्रजभाषा प्रवीन, औ सुन्दरतानि के भेद कौं जानै।
> जोग वियोग की रीति में कोविद, भावना भेद स्वरूप को ठानै॥
> चाह के रंग मैं भीज्यौ हियो बिछुरें मिलें प्रीतम सांति न मानै।
> भाषा प्रबीन सुछन्द सदा रहै सो 'घन जी' के कवित्त बखानै॥

इस सवैये में घनानंद ने अपने को 'महा नेही', संयोग वियोग की भावनाओं को वाणी देने में निपुण तथा प्रेम-मग्न हृदय से बिछुड़े प्रियतम की पतीक्षा करने की व्यथा रखने वाला बताया है। घनानंद की इससे अधिक वास्तविक आलोचना दूसरी नहीं हो सकती। इन्होंने अपने को भाव और भाषा में स्वच्छन्द तथा ब्रजभाषा में प्रवीण बताया। कला के विषय में भी यह कथन यथार्थ है।

घनानंद के काव्य में प्रेम की ही प्रधानता है। इनके काव्य का उचित रीति से रसास्वादन करने के लिए इनके प्रेम को अपने दृष्टि-पथ में रखना ही होगा। कवि ने स्वयं कहा है—

> जग की कबिताई के धोखे रहैं ह्याँ प्रवीननि की मति जाति जकी।
> समुझै कविता घन आनँद की हिय आँखिन नेह की पीर तकी॥

प्रेम की आन्तरिक व्यंजना में सबसे कुशल कवि घनानंद ही हैं। भावावेग तथा तन्मयता की दृष्टि से से रसखान के समकक्ष हैं। किन्तु रसखान के जीवन में वियोग का अवसर नहीं आया और इनको विरह की व्यथा की गहरी अनुभूति हुई। इसीलिए रसखान की कविता में जहां केवल संयोग-वर्णन है, वहां घनानंद की कविता में विरह की मार्मिक व्यंजना प्राप्त होती है। इनकी कविता में आँसू का प्रवाह मिलता है। अश्रु सिक्त घनानंद को प्रेम का मार्ग सीधा दिखाई देता है। इस मार्ग में किसी भी अंश में वक्रता नहीं है—

> अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
> तहाँ साँचे चलै तजि आपनपौ झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥

रीति काल के प्रायः सभी कवि जब शृंगारिक रचनाओं के द्वारा अपने आश्रय दाताओं की कामाग्नि में घी डाल रहे थे तथा बदले में प्रचुर धन-राशि हस्तगत कर रहे थे, उसी समय रीति-मुक्त कवि घनानंद अपने आराध्य भगवान् कृष्ण से प्रेम रस की याचना कर रहे थे। जिस प्रेम की पीर के कारण जायसी एवं कबीर ने अपनी कविता में विरह की व्यंजना की; मीराँ अपने 'गिरिधर नागर' के विरह में तड़पती रहीं और सूर की गोपियों के 'नैन' 'निसिदिन' बरस कर 'सदा पावस ऋतु' का दृश्य उपस्थित करते रहे,

उसी पीर का अनुभव घनानंद ने अत्यन्त तीव्रता से किया और इनकी व्यग्रता और भी अधिक प्रचंड हो गई। जहां तक विरह-वर्णन का सम्बन्ध है, घनानंद सगुण-मार्गी भक्तों की अपेक्षा निर्गुण-मार्गी भक्तों तथा सूफियों से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं। यद्यपि घनानंद का प्रेम सगुण 'सुजान' (कृष्ण) के प्रति है तथापि जायसी, कबीर, दादू आदि निर्गुण-वादी भक्तों के विरह में जो व्यग्रता है, वही इनके भी विरह में मिलती है। इन्होंने जिस प्रेम-यातना का वर्णन किया है वह मीराँ से मिलती जुलती है—

भये कागद नाव उपाय सबै घन आनँद नेह नदी गहरै।
बिन जान सजीवन कौन हरै सजनी विरहानल की लहरै॥

और भी

जीव की बात जनाइए क्यों करि जान कहाय अजाननि आगौ।
तीरनि मारि कै पीर न पावत एक सो मानत रोइबो रागौ॥
ऐसी बनी घन आनँद आनि जु आन न सूझत सो किन त्यागौ।
प्रान मरैंगे भरैंगे बिथा पै अमोही सों काहू को मोह न लागौ॥

कठिनाई यह है कि प्रियतम 'अमोही' है किन्तु उसके बिना एक एक क्षण एक एक युग के समान व्यतीत हो रहा है। एक ओर ऐसा अनुभव हो रहा है कि प्रियतम जान कर भी अनजान के समान व्यवहार करता है, दूसरी ओर उससे प्रेम का प्रतिदान पाने की भी आशा है। ऐसी विचित्र परिस्थिति का चित्रण घनानंद ही जैसा रस-सिद्ध कवि कर सकता है जिसको विरह-वेदना की वास्तविक अनुभूति है।

प्रेम के मूल में विरह की ही स्थिति है। बिना विरह के प्रेम की सम्भावना ही नहीं। जिस क्षण विरह का अन्त हो जाता है उसी क्षण प्रेम की भी समाप्ति समझिए। प्रेमी यही अभिलाषा करता है कि प्रेम की आग कभी बुझने न पावे और न कभी जलन ही मिटे। इसी जलन में प्रेमी दिव्य प्रेम का अनुभव करता है। कृष्ण-भक्त कवियों ने इस प्रकार की जलन का अनुभव किया ही है राम-भक्त कवियों ने भी इसका मार्मिक वर्णन किया है। किन्तु सगुणोपासक भक्तों के विरह वर्णन से अधिक जलन निर्गुणोपासक भक्तों के विरह-वर्णन में है। घनानंद इस दृष्टि से निर्गुणोपासक भक्तों के अधिक निकट हैं। निम्न-लिखित सवैये में विरहिणी की आँखों की दशा का वर्णन देखिए:—

जिनको नित नीकें निहारत ही तिनकों अँखियाँ अब रोवति हैं।
पल पाँवड़े पायनि चायनि सों अँसुवानि के धारनि धोवति हैं॥
घन आनँद जान संजीवन कों सपने बिन पायेई खोवति हैं।
न खुली मुँदी जानि परैं कछु ये दुख हाई जगे पर सोवति हैं॥

घनानंद उन कवियों में हैं जिन्होंने प्रेम के उच्च आदर्श को हृदयंगम किया है एवं हृदय के नेत्रों से प्रियतम का सौन्दर्य देखा है और विरह में जिनकी आँखों से हृदय

हीं पसीज पसीज कर बहता रहता है। वेदना की करुण अभिव्यक्ति के लिए घनानंद रीति-कालीन कवियों में अन्यतम हैं।

पहिं अपनाय सुजान सनेह सों क्यों फिर नेह को तोरिए जू।
निरधार अधार दै धार मँझार दई गहि बाँह न बोरिए जू॥
घन आनँद आपने चातक कों गुन बाँधि लै मोह न छोरिए जू।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास मैं यों बिष घोरिए जू॥

इनकी वेदना में चीत्कार नहीं, किसी प्रकार का प्रदर्शन नहीं, मौन में ही पुकार है--

मोंसे अनपहचानि को पहचाने हरि कौन।
कृपा कान मधि नैन ज्यों त्यों पुकार मधि मौन॥

विरह की सारी वेदना और कसक के रहते भी मिलन की अभिलाषा बनी रहती है। और प्रेमिका को आशा ही नहीं विश्वास भी है कि प्रियतम अवश्य ही आयगा और उसके हृदय की सारी जलन मिटा कर शीतलता प्रदान करेगा :—

ह्वै है कौन घरी भाग भरी पुन्य पुंज फरी
खरी अभिलाषनी सुजान पिय भेंटिहौं।
अमी ऐन आनन को पान प्यासे नैननि सों
चैननि ही करि कै वियोग ताप मेटिहौं।
गाढ़े भुज-दंडनि के बीच उर-मंडन कों
धारि घन-आनँद यों सुखनि समेटिहौं।
मथत मनोज सदा मो मन पै हौं हूँ कब
प्रानपति पास पाय तासु मद फेटिहौं।

माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति के लिए यह कवित्त विशेष महत्त्वपूर्ण है।

अपनी विरह-वेदना में घनानंद को प्रकृति अनुकूल जान पड़ती है तभी तो वे प्रकृति के विभिन्न अवयवों—बादल और पवन—से अपना संदेश 'बिसासी सुजान' के पास भेजते हैं। घनानंद बादल से प्रार्थना करते हैं :—

पर काजहिं देह को धारे फिरो, 'परजन्य' जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सबहीं बिधि सज्जनता सरसौ।
'घन आनँद' जीवन दायक हौ, कछु मेरियो पीर हियें सरसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को लै बरसौ॥

इस सवैये में घनानंद बादल के द्वारा कोई विशेष सन्देश नहीं भेजते, 'सुजान' के आँगन में अपने आँसुओं की केवल वर्षा कर देने की प्रार्थना करते हैं। आँसू से बढ़कर व्यथित व्यक्ति के पास संदेश का दूसरा माध्यम है ही क्या और हो ही क्या सकता है? आँसू जिस सुन्दरता से हृदय की वेदना को प्रकट कर सकते हैं, उस सुन्दरता से वाणी कैसे प्रकट कर सकती है!

'रहिमन' अँसुवा नैन ढरि जिय दुख प्रगट करेय।
जाहि निकारैं गेह ते कस न भेद कहि देय॥

रहीम के भी पहले अमीर खुसरू यही बात कह चुके थे :—

अश्कम बिरूमीं अफ़गनद राजे दरून पर्दारा।
आहो शिकायत हा बुवद् मेहमान बेरूँ कर्दारा॥

घनानंद अपने विरह में पवन से भी सहायता की याचना करते हैं क्योंकि प्रकृति का प्रत्येक अवयव उन्हें सहानुभूति से पूर्ण जान पड़ता है :—

एरे बीर पौन तेरो सबै ओर गौन वारी,
तो सो और कौन मानै ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान ओछे बड़े सो समान घन-
आनँद निधान सुखदान दुखियानि दै।
जान उजियारे गुन भारे अति मोही प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह बिथा की मूरि आँखिन मैं राखौं पूरि,
धूरि तिन पायनि की हाहा नैंकु आनि दै॥

अन्तिम चरण की विकलता सहृदयों के लिए अनुभव-गम्य है।

घनानंद का विरह-वर्णन ऐसा ऊहामक नहीं है कि उपहासास्पद हो जाय। बिहारी आदि रीति कालीन कवियों के विरह-वर्णन से तुलना करने पर स्पष्ट हो जायगा कि इनका वर्णन स्वाभाविक तथा मर्मस्पर्शी है जब कि बिहारी ने दूर की कौड़ी लाने का प्रयास किया है। बिहारी के ऊहात्मक वर्णन की सूझ की प्रशंसा की जा सकती है परन्तु उससे हृदय में कोई कसक नहीं पैदा हो सकती। घनानंद के विरह-वर्णन से सीधे हृदय पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए बिहारी के दो दोहे उद्धृत किये जाते हैं :—

(क) आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस ककै सनेह-बस सखी सबै ढिग जाति॥

(ख) औधाई सीसी, सुलखि, बिरह-बरति बिललात।
बिचहीं सूखि गुलाब गौ, छींटौ छुई न गात॥

मतिराम का भी विरह-सन्बन्धी एक दोहा देखिए :—

देखि परे नहिं दूबरी, सुनिए स्याम सुजान।
जानि परे परजंक में, अंग आँच अनुमान॥

इन दोहों में अत्युक्ति देखने योग्य है। परन्तु घनानंद की कविता की मर्म-स्पर्शिता इनमें कहां ? इनके कवित्त सवैयों की मार्मिकता मर्म-स्थल पर चोट करती है—

मोहनि मूरति देखिबै को, तरसावति हो बसि एक ही गाँव में।

इस विरह की बिकलता बढ़ कर उस दशा तक पहुँच जाती है जब वह असह्य हो

जाती है और प्रेमिका को मृत्यु प्यारी लगने लगती है। निम्न-लिखित पंक्ति की मर्म-स्पर्शिता देखिए :—

बिलंब छाँड़ि आइए किधौं बुलाय लीजिये।

घनानंद का प्रेम उदात्त है और इनका विरह-वर्णन अत्यन्त मर्म-स्पर्शी है। इसी कारण इसका यश हिन्दी साहित्य में चिरस्थायी है।

रस-निरूपण

घनानंद के काव्य तथा जीवन की प्रेरक शक्ति प्रेम है। प्रेम ही इनके काव्य के मूल में है। निराश प्रेम के ही कारण इन्होंने काव्य की रचना आरम्भ की। सुजान की उपेक्षा से ही आहत होकर ये भगवान् के प्रति उन्मुख हुए। सुजान के प्रति इनका लौकिक प्रेम सुजान (कृष्ण) के प्रति अलौकिक प्रेम में परिणत हो गया। लौकिक प्रेम में जिस मात्रा में तीव्रता दिखाई पड़ती है उसी मात्रा में तीव्रता इनके अलौकिकप्रेम में भी है। केवल इनके प्रेम की दिशा में परिवर्त्तन हो गया है किन्तु वास्तव में प्रेम वही रह गया है। किन्तु जो सुजान इनके हृदय में प्रेम का दीपक जला देती है उसे ये भूल भी कैसे सकते हैं ? उसका नाम सदा इनके साथ रहता है; उसका शरीर भले ही कहीं दूर हो। यह सुजान नाम भगवान् का दूसरा नाम हो जाता है। इन्होंने अपने प्रायः प्रत्येक कवित्त या सवैये में किसी न किसी रूप में सुजान का नाम रखा है "जो शृंगार में नायक के लिए और भक्ति-भाव में कृष्ण भगवान् के लिए प्रयुक्त मानना चाहिए।"[१]

घनानंद की भक्ति माधुर्य भाव की है। अतः इनका काव्य रस के विचार से शृंगार रस के अन्तर्गत आता है। घनानंद का युग शृंगार का था और इनकी प्रवृत्ति भी शृंगार की ही थी इसलिए इनका काव्य शृंगारमय होना आवश्यक ही था। इन्होंने संयोग शृंगार तथा विप्रलंभ शृंगार दोनों का वर्णन किया है, परन्तु विप्रलंभ के सम्मुख संयोग का वर्णन बहुत कम है। इनकी भक्ति में रहस्यात्मकता के समावेश के कारण इनके शृंगार में विप्रलंभ की प्रधानता है। पहले संकेत किया जा चुका है कि निर्गुण-मार्गी भक्तों के काव्य में विरह की मात्रा विशेष रहती है। यद्यपि घनानंद सगुणोपासक तथा कृष्ण-भक्त थे तथापि इनमें रहस्यात्मकता भी है। अतः इनके काव्य में विप्रलंभ शृंगार की ही मात्रा अधिक है। पहले कहा जा चुका है कि इनका विरह-वर्णन अति उत्कृष्ट है।

सम्भोग शृंगार का कुछ वर्णन दान लीला, मान-लीला, फाग आदि में प्राप्त होता है। संयोग की स्थिति में ही इन सारी लीलाओं का होना सम्भव है। सम्भोग शृंगार का एक उदाहरण देखिए जो फाग में है :—

गोरी बाल थोरी बैस लाल पै गुलाल मूठि
तानि कै चपल चली आनँद उठान सौं।

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

बायें पानि घूँघट की गहनि चहनि ओट
चोटनि करनि अति तीखे नैन बान सौं।
कोटि दामिनीनि के दलनि दलमली पाय
दाय जीति आड़ झुंड मिली है सयान सौं।
मीड़िबे को लेखे कर मीड़िबोई हाथ लग्यौ
सो न लगी हाथ रहे सकुचि सखान सौं॥

विप्रलंभ श्रृंगार से तो इनका सारा काव्य भरा पड़ा है। एक से एक अच्छे उदाहरण मिलते हैं। ऊपर कई उदाहरण दिये जा चुके हैं। एक और उदाहरण देखिए:—

रात द्यौस कटक सजे ही रहै दहै दुख,
कहा कहौं गति या बियोग बजमारे की।
लियो घेरि औचक अकेली कै बिचारो जीव,
कछु न बसाति यों उपाय बलहारे की।
जान प्यारो लागो न गुहार तौ जुहार करि,
जूझिहै निकसि टेक गहे पन धारे की।
हेत खेत धूरि चूरि चूरि ह्वै मिलैगो तब,
चलैगी कहानी 'घन आनँद' तिहारे की॥

घनानंद के काव्य से विप्रलम्भ श्रृंगार के अच्छे से अच्छे उदाहरण दिये जा सकते हैं।

भाषा-शैली

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे संयत समालोचक ने घनानंद की भाषा के विषय में लिखा है, "यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी का नहीं। भाषा मानों इनके हृदय के साथ जुड़ कर ऐसी वशवर्त्तिनी हो गई थी कि ये उसे, अपनी अनूठी भाव-भंगी के साथ, जिस रूप में चाहते थे, मोड़ सकते थे। इनके हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गतिविधि का अभ्यास हुआ, और वह पहले से कहीं अधिक बलवती दिखाई पड़ी।...... भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम न चलाकर इन्होंने उसे अपनी ओर से नई शक्ति प्रदान की। घनानंद जी उन विरले कवियों में हैं जो भाषा की व्यंजकता बढ़ाते हैं।"[१] भाषा के सम्बन्ध में इससे बढ़कर प्रमाण-पत्र क्या हो सकता है?

अब घनानंद की भाषा और शैली की विशेषताओं पर दृष्टिपात करें।

(१) घनानंद की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी भावानुरूपता है। रस के अनुरूप वर्ण-संघटना होनी चाहिए। प्राचीन आचार्यों ने इस बात पर विशेष ध्यान

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास।

दिया है। यदि वीर अथवा रौद्र रस का वर्णन किया जाय और कोमल कान्त पदावली का प्रयोग किया जाय तो वांछित प्रभाव उत्पन्न नहीं हो सकता। उसी प्रकार शृंगार रस में यदि कठोर पदावली का प्रयोग हो तो श्रृंगार रस का प्रभाव उत्पन्न नहीं किया जा सकता। घनानंद की कविता शृंगार रस की है। इस रस के लिए माधुर्य गुण की आवश्यकता होती है। कर्ण - कटु शब्दों के द्वारा शृंगार रस की निष्पत्ति सम्यक् रूप से नहीं हो सकती। घनानंद की कविता में कोमल शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनका कोई कवित्त या सवैया देख लीजिए, कठोर शब्दों का प्रयोग कहीं नहीं मिलेगा। वर्ण्य विषय के अनुरूप भाषा का प्रयोग करने के ही कारण इनकी कविता में इतनी मर्म-स्पर्शिता आ सकी है। इनकी कविता का अचूक प्रभाव हृदय पर पड़ता है, इसका मुख्य कारण यही है। इनकी भाषा भाव के सर्वथा अनुरूप है। उदाहरण के लिए उपरि-उद्धृत कोई भी कवित्त या सवैया लिया जा सकता है।

(२) घनानंद की भाषा सरस तथा विशुद्ध ब्रज भाषा है। रीति-काल के कवियों में सबसे अधिक टकसाली भाषा घनानंद की ही है। "इनकी सी विशुद्ध, सरल और शक्ति शालिनी भाषा लिखने में कोई कवि समर्थ नहीं। विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य भी अपूर्व है।"१ इनकी कविता में वाह्याडंबर नहीं। वस्तुतः ब्रज भाषा का काव्य भाषा के रूप में चरम विकास घनानंद में ही हुआ। इनकी भाषा सर्वथा निर्दोष है; न व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियां हैं और न शब्दों का अनावश्यक तोड़ मरोड़। इनकी भाषा में विदेशी शब्दों का भी प्रयोग बहुत कम हुआ है। इन दोषों से ब्रजभाषा का शायद ही कोई कवि बचा है; परन्तु घनानंद में ये दोष नहीं आ पाये हैं। इन्होंने अपने विषय में जो कहा है, वह अक्षरशः सत्य है—

नेही महा, ब्रज भाषा प्रवीन औ सुन्दरतानि के भेद को जानै।

और

भाषा प्रवीन सुछंद सदा रहै सो 'घन जी' के कवित्त बखानै।

(३) घनानंद ने अपनी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया है। नंद दास की कविता में लगभग ६५% शब्द तत्सम ही हैं। सत्यनारायण जी की भाषा में तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। किन्तु घनानंद ने केवल ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग किया है, तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया है। निम्न-लिखित कवित्त पर ध्यान दीजिए—

छबि सो छबीलो छैल आज भोर याही गैल,
अति ही रँगीलो भाँति औचक ही आइगौ।
चटक मटक भरि लटकि चलनि नीकी,
मृदु मुसकानि देखें, मो मन बिकाइगो।

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास।

प्रेम सों लपेटी कोऊ निपट अनूठी तान,
मो मन चिताइ गाइ लोचन दुराइगो ।
तब तें रही हौं घूमि झूमि जकि बावरी ह्वै,
सुर की तरंगनि में रंग बरसाइगो ॥

इस कवित्त में ५५ शब्द हैं जिनमें ६ तत्सम हैं—११°/॰ से भी कम। किन्तु जिन लोगों को ब्रज भाषा का अध्ययन कम है, उन्हें ऐसी भाषा समझने में कठिनाई होती है। तत्सम-बहुल ब्रजभाषा समझने में साधारणत: लोगों को सुविधा होती है।

(४) श्रेष्ठ कलाकारों की भाषा में चित्रमयता भी रहती है। घनानंद की भी भाषा में यह पूर्ण रूप से प्राप्य है। कवि अपने शब्दों के ही द्वारा चित्रकार के समान चित्र खींच देता है; जिस दृश्य का वर्णन करता है उसे आँखों के सामने खड़ा कर देता है। घनानंद की प्रकृति अन्तर्मुखी थी और इन्हें वाह्य रूप के वर्णन करने का अवसर कम मिला, तथापि इन्होंने जिन दृश्यों का वर्णन किया, उनमें अधिकांश के चित्र उपस्थित कर दिये। एक उदाहरण देखिए—

मंजन करि कंचन चौकी पर बैठी बाँधत केसन जूरो।
रुचिर भुजनि की उचनि अनूपम ललित करनि बिच झलकत चूरो ॥
लाल जटित जस लाल भाल सु बैंदी अरु सोहै सुचि मांग सिन्दूरो।
आनँद घन प्यारी मुख ऊपर वारौं कोटि सरद ससि पूरो ॥

(५) कुछ स्थलों पर ध्वन्यर्थ-व्यंजना के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। कृष्ण के चलने के वर्णन की निम्नलिखित पंक्तियों पर ध्यान दीजिए :—

डगमगी डगनि धरनि छबि ही के भार,
ढरनि छबीले उर आछी बन माल की।

इन पंक्तियों में व्यंजन वर्ण इस प्रकार रखे गये हैं जिन से डगमगा कर चलने का आभास मिल जाता है। शब्दों पर ध्यान देने से घनानंद की भाषा की शक्ति का अनुमान हो जाता है।

(६) घनानंद की भाषा में कहीं कहीं नाद-व्यंजना का भी चमत्कार दिखाई पड़ता है। इसके लिए निम्नलिखित पंक्तियां देखिये :—

ऐरे बीर पौन ! तेरो सब ओर गौन, वारि,
तो सों और कौन मनै ढरकौंही बानि दै।
जगत के जान, छोटे बड़े को समान, घन-
आनँद निधान सुखदान दुखियानि दै ॥

अंतिम पंक्ति से मृदंग की ध्वनि निकलती है।

(७) रीति काल के कवियों ने शब्दों की अभिधा शक्ति को ही सब कुछ मान कर परम्परागत उक्तियों के ही चमत्कार दिखाने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति का व्यय कर दिया था।

उन लोगों ने लक्षणा शक्ति से बहुत कम ही काम लिया। किन्तु घनानंद ने लक्षणा की शक्ति पहचानी और उसका उपयोग पूर्णरूप से किया। इस प्रकार घनानंद ने भाषा की व्यंजकता में वृद्धि की। इस विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का कथन है, "लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिन्दी कवियों ने उसके भीतर बहुत ही कम पैर बढ़ाया। एक घनानंद ही ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगाई। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग-वैचित्र्य की जो छटा इनमें दिखाई पड़ी, खेद है कि वह फिर पौने दो सौ वर्ष पीछे जाकर आधुनिक काल के उत्तरार्द्ध में, अर्थात् वर्त्तमान काल की नूतन काव्य-धारा में ही 'अभिव्यंजनावाद' के प्रभाव से कुछ विदेशी रंग लिए प्रकट हुई।"[१]

घनानंद जिस प्रकार भाव के क्षेत्र में स्वच्छन्दता वादी थे, उसी प्रकार भाषा के क्षेत्र में भी थे। इन्होंने सभी प्रकार की कृत्रिमता के बंधन को छिन्न-भिन्न कर दिया। जब कभी आवश्यकता हुई, इन्होंने बँधी प्रणाली का परित्याग किया और अपनी नवीन प्रणाली चलायी। इन्होंने युग की संकीर्ण प्रवृत्तियों का सर्वथा त्याग करके भाषा को नवीन शक्ति प्रदान की। भाषा की लक्षणा एवं व्यंजना शक्तियों का इन्हें पूर्ण ज्ञान था। निम्न-लिखित पंक्तियों में लाक्षणिक प्रयोग देखिए।

(क) अरसानि गही वह बानि कछू सरसानि सों आनि निहोरत है।
(ख) ह्वै ह्वै सोऊ घरी भाग उघरी आनंद घन सुख बरसि,
लाल! देखि हौ हमें हरी।
(ग) रस रंग भरी मृदु बोलनि को कब काननि पान कराय हौ जू।
(घ) कहिए सु कहा, अब मौन भली, नहिं खोवते जौ हमैं पावते जू।
(ङ) मथत मनोज सदा मो मन।
(च) हँसि बोलनि मैं छवि फूलन की बरषा उर ऊपर जाति है ह्वै।
(छ) अँग अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनो रूप अबै धर च्वै।
(ज) रस निचुरत मीठी मृदु मुसकानि मैं।
(झ) त्यों त्यों इत चाहनि मैं चाह बरसति है।
(ञ) मीचो मर गई आसरो न जित ढूकिये।

(८) प्रेम की अनिर्वचनीयता दिखाने के उद्देश्य से घनानंद ने विरोधाभास का प्रयोग किया है। साथ ही विरोधाभासों के प्रयोग से उक्ति वैचित्र्य भी आ गया है जिसके कारण भाषा के सौन्दर्य में अत्यधिक वृद्धि हो गई है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

(क) झूठ की सचाई छाक्यो, त्यों हित कचाई पाक्यो,
ताके गुन गन घन आनंद कहा गनौं।

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास।

(ख) उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देखौ,
सुबस सुदेस जहां रावरे बसत हो ।
(ग) खोए से रहत जित तित तुम्हें पाइ पाइ ।
(घ) सब ठौर मिले पर दूर रहौ ।
(ङ) तेरे ज्यों न लेखो, मोहि मारत परेखो महा,
जान घन आनँद पै खोयबो लहत है ।
(च) जमुना के तीर देखौ प्रगट दुर्यौ है ।

(६) रीति काल में अलंकार योजना पर कवियों का बहुत ध्यान रहता था। अनेक कवि केवल अलंकार-प्रदर्शन के लिए काव्य की रचना करते थे। अतः उनके काव्य में कृत्रिमता आ जाती थी। घनानंद ने भाव-पक्ष की ओर ध्यान दिया। इनकी भाषा में यदि अलंकार स्वतः आ गये तो इन्होंने उन्हें रख लिया किन्तु अलंकार लाने का आग्रह इनमें कहीं नहीं दिखाई पड़ता। आग्रह नहीं करने पर भी एक से एक अच्छे अलंकार इनकी कविता में स्वयमेव आ गये हैं।

(१०) इनकी भाषा में कहीं कहीं विशेषण-विपर्यय के भी अच्छे उदाहरण मिल जाते हैं। यथा :—

(क) अरसानि गही वह बानि कछू सरसानि सों आनि निहोरत है। यहां कृष्ण में आलस्य बताना है किन्तु बानि (आदत) में बताया जा रहा है।

(ख) झरैं अँखियाँ दुखियाँ झरना सी ।

यहां आँखों का झड़ना कहा गया है यद्यपि आँखें नहीं झड़तीं, आँसू झड़ते हैं।

(ग) ह्वै है सोऊ घरी भाग उघरी आनंद घन सुख बरसि,
लाल, देखिहौ हरी हमें ।

यहां 'खुले भाग्य वाली घड़ी' में विशेषण-विपर्यय है।

(११) घनानंद ने कहावतों और मुहावरों का प्रयोग कर के भाषा की शक्ति और व्यंजना में बहुत वृद्धि कर दी है। इनकी भाषा में मुहावरों और कहावतों का प्रयोग बहुत हुआ है। कुछ उदाहरण देखिए :—

(क) तुम तो निष्काम सकाम हमैं घन आनँद काम सो 'काम पर्यो'।
(ख) सो न 'लगी हाथ' रहे सकुचि सखान सों।
(ग) नाँव धरे जग में घन आनंद नाम सम्हारो तो नाँव सह्यौ क्यौं।
(घ) तुम कौन धों पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।
(ङ) उड़ि चल्यों रंग, कैसे राखिये कलंकी मुख।
(च) काहू कलपाय है सु कैसे कलपाय है।
(छ) बसी मेरी आँखिन में आवनि गोपाल की।
(ज) जीभ संभारि न बोलत है मुंह चाहत क्यों अब खायों थपेरे।
ज्यों ज्यों करी कछु कानि कनौड़ त्यों मूंड़ चढ़े बढ़े आवत नेरे।

(झ) रस निचुरत मृदु मीठी मुसकानि में।

(१२) घनानंद ने कवित्त और सवैयों में ही अपने भावों की अभिव्यक्ति की है। नवीन छन्द लिखने का उन्होंने कोई प्रयास नहीं किया। कवित्त सवैयों में इनके भावों का उत्तरोत्तर विकास हुआ है और अन्तिम चरण में आकर भाव का चरम विन्दु पहुँच जाता है। घनानंद ने फारसी छन्द भी अपनाया है, परन्तु उसे इस प्रकार नये ढंग से ढाल दिया है कि वह भी हिन्दी के ही छन्द के समान प्रतीत होने लगता है। विरह-लीला काव्य फारसी छन्द में ही लिखा गया है। एक उदाहरण लीजिए:—

सलोने श्याम प्यारे क्यों न आवौ।
दरस प्यासी मरें तिनकों जिवावौ॥
कहां हौ जू, कहां हौ जू, कहां हौ।
लगे ये प्रान तुम सों हैं जहां हौ॥

(१३) रीति काल में प्रबन्ध काव्य की परम्परा नहीं चल सकी। वह काल मुक्तकों का ही था। घनानंद ने भी प्रबन्ध काव्य लिखने का प्रयास नहीं किया। इन्होंने केवल मुक्तक कबित्त सवैयों की रचना की जिन में संगीत और भावनाओं का अपूर्व समन्वय दृष्टि-गोचर होता है। घनानंद के हृदय की अनुभूतियां तथा आकांक्षाएँ संगीत के रूप में स्वाभाविक रीति से अभिव्यक्त हुई हैं।

घनानंद दरबारी कवि नहीं थे। अतः अपने काव्य को कृत्रिमता से सजा कर इन्हें किसी आश्रय दाता को प्रसन्न नहीं करना था। इसी लिए इनके काव्य में कृत्रिमता का सर्वथा अभाव है और उसमें जिस नैसर्गिक सुन्दरता का समावेश हो गया है उसी के लिए इनकी कविता हिन्दी में सदा आदर की दृष्टि से देखी जायगी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के शब्दों में कहा जा सकता है, "प्रेम मार्ग का एक ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखने वाला व्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।"[1]

—:❀:—

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जीवन-वृत्त

इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंश में हरिश्चन्द्र का जन्म भाद्र शुक्ल ७, संवत् १६०७, (ता० ६ सितम्बर १८५०) को हुआ था। इनके पिता बाबू गोपाल चन्द्र भी व्रज भाषा के प्रतिभा शाली कवि थे जिनका उपनाम गिरिधर दास था। बचपन में ही हरिश्चन्द्र ने अपनी प्रतिभा का परिचय दे दिया था। पांच वर्ष की अवस्था में इन्होंने निम्न लिखित दोहा रच कर सब को विस्मित कर दिया था।

लै ब्योंडा ठाढ़े भये श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सैन को हनन लगे भगवान्॥

इनके पिता के मुंह से निकल पड़ा—"तू मेरा नाम बढ़ावेगा।" समय पाकर यह आशीर्वाद फलीभूत हुआ।

घर पर ही इन्हें संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी और फारसी की शिक्षा मिली किन्तु पिता के असामयिक देहावसान के कारण इनके अध्ययन में बाधा पड़ी। बचपन में ही पितृ-हीन हो जाने के कारण ये स्वच्छन्द प्रकृति के हो गये। अतुल-धन सम्पत्ति ने इस स्व-च्छन्दता में योग दिया।

१३ वर्ष की आयु में भारतेन्दु जी का विवाह हुआ। दो वर्ष के उपरान्त ये सपरि-वार जगन्नाथ पुरी की यात्रा में निकले। तभी इनके अध्ययन का क्रम टूटा तो टूटा ही रह गया। पुरी से वापस आकर ये सार्वजनिक कार्यों में लग गये। यह देख कर हमें आश्चर्य होता है कि इतना अल्प अध्ययन होने पर भी इनकी अपूर्व प्रतिभा ने कितना अधिक विस्तृत कार्य कर दिया। देश का उपकार करने की धुन इन में समाई। ये इसी चिन्ता में सतत

लीन रहते थे कि किस प्रकार देश का कल्याण हो। इनका एक मात्र ध्येय यही हो गया कि किसी प्रकार देश तथा समाज की सेवा हो। इनके मन में यह बात घर कर गई कि शिक्षा प्रचार तथा मातृ भाषा की उन्नति के बिना देश की उन्नति नहीं हो सकती। इसी उद्देश्य से प्रेरित हो कर इन्होंने अपने घर पर एक स्कूल खोला जो आजकल हरिश्चन्द्र हाई स्कूल के नाम से विख्यात है।

साहित्य की उन्नति की भावना से प्रेरित हो कर इन्होंने सन् १८६८ ई० में कवि-वचन-सुधा नाम की पत्रिका निकाली। कुछ समय के बाद सन् १८६८ ई० में इन्होंने हरिश्चंद्र मैगजीन' नाम की पत्रिका निकाली जिसका नाम आठ महीनों के बाद 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गया। इसी पत्रिका के प्रकाशन के समय से हिन्दी के नवीन युग का प्रारम्भ माना जाता है। इन पत्रिकाओं में स्वयं भारतेन्दु जी तो लिखते ही थे साथ ही इन्होंने प्रतिभा-शाली लेखकों का एक मंडल भी बना लिया था जिनका उद्देश्य साहित्य की उन्नति के साथ देश और समाज की उन्नति था।

भारतेन्दु जी की उदारता असीम थी। बहुत से व्यक्तियों को अप्रत्याशित पुरस्कार दे कर इन्होंने कवि और लेखक बना दिया था। इनके घर पर साहित्यिकों और कलाकारों का जमघट लगा रहता था। इस अति उदारता के कारण थोड़े ही समय में इनकी आर्थिक अवस्था शोचनीय हो गई और अपने लघु जीवन के अन्तिम भाग में इन्हें आर्थिक कष्ट उठाना पड़ा। इनकी उदारता की अनेक कहानियां प्रसिद्ध हैं।

भारतेन्दु जी आशु कवि थे। 'अन्धेर नगरी' नाटक की रचना इन्होंने एक ही दिन में कर डाली थी। हिन्दी-वर्द्धिनी सभा द्वारा निमन्त्रित हो कर प्रयाग जाने पर इन्होंने एक ही दिन में अठावन दोहों का पद्यात्मक व्याख्यान तैयार कर सभा को सुनाया था जिससे सभी विस्मय-विमुग्ध हो गये थे। 'विजयिनी विजय वैजयन्ती' नाम की कविता सभा में जाने के कुछ ही समय पूर्व लिखी गई थी।

भारतेन्दु जी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। ये कवि, लेखक, नाटक कार, अभिनेता, पत्रकार, वक्ता, समाज सुधारक, देश-भक्त, अनुवादक आदि सब कुछ थे। ये कई लिपियों में बहुत सुन्दरता, निपुणता तथा शीघ्रता से लिख सकते थे। डा० राजेन्द्र लाल मित्र के शब्दों में इन्हें 'टाइटिंग मेशीन' कह सकते हैं।

इन्होंने अपने जीवन का सिद्धान्त बना लिया था, "निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल" और इनके जीवन के सम्पूर्ण कार्य इसी सिद्धान्त वाक्य से परिचालित होते रहे। मातृ-भाषा को आगे बढ़ाने में इन्होंने कुछ उठा नहीं रखा। हिन्दी को राज-भाषा बनाने का भारतेन्दु ने ही सर्व-प्रथम प्रयत्न किया। हिन्दी के लिए इन्होंने अपना तन, मन, धन सब कुछ अर्पित कर दिया। सचमुच मातृ-भाषा के प्रति इनका जैसा अनुराग था वैसा किसी अन्य व्यक्ति का नहीं हुआ।

इनके साहित्यानुराग से मुग्ध होकर पं० रघुनाथ ने इन्हें भारतेन्दु की उपाधि दी थी। पं० सुधाकर द्विवेदी ने कहा था "पूरे चांद में कलंक देख पड़ता है, आप दूज के चाँद हैं

जिन के दर्शन को लोग पुण्य समझते हैं।" यह सभी ने पसन्द किया। पं० रामेश्वर दत्त व्यास ने 'सार सुधा निधि' नामक पत्र में इन्हें 'भारतेंदु की उपाधि से विभूषित करने का प्रस्ताव किया जिसका समर्थन सभी लोगों ने सहर्ष किया। जनता की दी हुई इसी उपाधि से ये अधिक विख्यात हुए।

भारतेन्दु जी की मित्र-मंडली में पं० सुधाकर द्विवेदी, पं० प्रताप नारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट आदि हिन्दी तथा संस्कृत के विद्वानों के अतिरिक्त बंगाल के पं० ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, डा० राजेन्द्र लाल मित्र प्रभृति भी थे।

ये वल्लभ–सम्प्रदाय में दीक्षित एक भक्त थे। श्री कृष्ण इनके आराध्य देव थे। किन्तु साम्प्रदायिक कट्टरता इनमें बिल्कुल नहीं थी। इनके धार्मिक भाव अत्यन्त उदार थे।

भारतेन्दु के अन्तिम दिन सुख से नहीं बीते। इनकी राष्ट्रीयता के कारण सरकार की वक्र दृष्टि इन पर रहती ही थी, इनके छोटे भाई ने इनका अपव्यय (!) देख कर सम्पत्ति बाँट ली थी। उधर देश की हीनावस्था से ये चिन्तित रहते ही थे। स्वजनों की उपेक्षा तथा कृतघ्नता के कारण इनके हृदय पर कठोर आघात पड़ा। फल-स्वरूप इन्हें क्षय-रोग ने धर दबाया और माघ कृष्ण ६, संवत् १६४१ (६ जनवरी १८८५) को भारत का वह इन्दु अस्त हो गया। मृत्यु के समय इनकी आयु ३४ वर्ष ५ महीने की थी।

भारतेन्दु जी ने निम्न-लिखित कवित्त में अपना कितना वास्तविक मूल्यांकन किया था!

सेवक गुनी गन के चाकर चतुर के हैं,
　　कविन के मीत, चित हित गुन मानी के।
सीधेन सों सीधे, महा बाँके हम बाँकेन सों,
　　हरिश्चन्द्र नगद दमाद अभिमानी के।
चाहिबे की चाह, काहू को न परवाह,
　　नेही नेह के दिवाने सदा सूरत निवानी के।
सरबस रसिक के, सुदास हम प्रेमिन के,
　　सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधा रानी के॥

रचनाएँ

भारतेन्दु जी को साहित्य-सर्जन का समय २० वर्ष से भी कम मिला। इतने अल्प समय में इन्होंने जितना लिखा, उसे देख कर किसी को भी आश्चर्य हो सकता है। साहित्य का कोई भी अंग इनसे अछूता नहीं बचा। काव्य, नाटक, निबन्ध, कहानी, आलोचना, पत्रकारिता, व्यंग्य काव्य, अनुवाद, इतिहास, सम्पादन, यात्रा-विवरण सभी क्षेत्रों में भारतेन्दु जी की महत्त्व-पूर्ण देन है। इनके निबन्ध भी विभिन्न विषयों पर और विभिन्न

शैलियों में लिखे गये हैं। हिन्दी साहित्य का कोना कोना भारतेन्दु की धवल चन्द्रिका से जगमगा उठा। उस युग में जितने प्रकार की विचार-धाराएँ थीं, जितने प्रकार के आन्दोलन चल रहे थे, सबका प्रतिनिधित्व भारतेन्दु जी ने किया। वे एक व्यक्ति-विशेष नहीं प्रत्युत् एक युग के प्रतिनिधि थे। इतना भी कहना उनके लिए पर्याप्त नहीं होगा। हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास में जितनी भाव-धाराएँ बहीं, जितने युग आये और जितनी प्रवृत्तियां दृष्टि-गोचर हुईं, सभी का सुन्दर समन्वय भारतेन्दु जी की रचनाओं में देखा जा सकता है। भारतेन्दु जी की आलोचना लिखने का अर्थ एक युग-विशेष की आलोचना लिखना अथवा सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास का संक्षिप्त विवरण देना है। भारतेन्दु जी की रचनाएँ केवल युग–विशेष की निधि न हो कर सभी युगों की निधि हैं।

इनकी रचनाएँ निम्नाङ्कित हैं :—

नाटक :—भारतेन्दु जी के नाटक दो श्रेणियों के हैं; (क) मौलिक, और (ख) अनूदित।

मौलिक :—चन्द्रावली, भारत-दुर्दशा, नील देवी, अंधेर नगरी, विषस्य विषमौषधम्, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेम जोगिनी, सती–प्रताप (अपूर्ण)।

अनूदित :—मुद्रा-राक्षस, धनंजय विजय, रत्नावली नाटिका (संस्कृत से), कर्पूर मंजरी (प्राकृत से); पाषंड-विडम्बन, विद्या सुन्दर, भारत-जननी, सत्य हरिश्चद्र (बंगला से); दुर्लभ वन्धु (शेक्सपियर के मर्चेंट ऑफ वेनिस का अनुवाद)।

सत्य हरिश्चन्द्र को अधिकांश लोग मौलिक नाटक मानते हैं परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत से यह एक पुराने बंगला नाटक का अनुवाद कहा जा सकता है। क्षेमेन्द्र कृत चंड कौशिक के भी कुछ श्लोक इस नाटक में आये हैं और कथानक भी लगभग वही है।

निबन्ध :—सामयिक विषयों—जैसे होली दीवाली आदि—पर कुछ निबन्ध।

हास्य :— परिहास-बंचक, बंदर-सभा।

उपन्यासः—श्री राधा कृष्ण दास जी ने भारतेन्दु की आख्यायिकाओं और उपन्यास-रचनाओं में राम-लीला, हमीर हठ (अपूर्ण और अप्रकाशित), राजसिंह (अपूर्ण) एक कहानी कुछ आप बीती (अपूर्ण), मंदालसोपाख्यान, शीलवती, सुलोचना और सावित्री-चरित्र का उल्लेख किया है परन्तु अन्तिम दो के सम्बन्ध में उन्हें सन्देह है।

नाट्य-शास्त्र :—भारतेन्दु ने 'नाटक' नामक ग्रन्थ की रचना की जो संस्कृत और अंग्रेजी नाट्य शास्त्रों के सिद्धान्तों के आधार पर लिखा गया है।

भाषा-सम्बन्धी :—भारतेन्दु जी ने 'हिन्दी भाषा' नामक छोटे ग्रन्थ की रचना की जो खड्ग विलास प्रेस से प्रकाशित हुआ है। इनके गद्य–ग्रंथों में इसका महत्त्व-पूर्ण स्थान है।

इतिहास :—बादशाह दर्पण, काश्मीर कुसुम, उदय पुरोदय, बूँदी राज्य का इतिहास, महाराष्ट्र देश का इतिहास, रामायण का समय, अग्रवालों की उत्पत्ति, खत्रियों की उत्पत्ति, पुरावृत्त-संग्रह, चरितावली, पञ्च-पवित्रात्मा, दिल्ली दरबार दर्पण, काल-चक्र।

काव्य :— भारतेन्दु जी की प्रायः सभी कविताएँ मुक्तक हैं। इन्होंने भिन्न भिन्न शीर्षकों में उन मुक्तकों की रचना की। सभी को अलग अलग पुस्तक मान लेना उतना उचित नहीं जँचता, परन्तु अनेक विद्वानों ने ऐसा ही किया है।

ब्रजभाषमें लिखित भारतेन्दु के ग्रंथों में भक्ति, साम्प्रदायिक विषय, शृंगार, राज भक्ति तथा राष्ट्रीयता की भावनाएँ प्रमुख हैं। भक्ति की दृष्टि से भारतेन्दु के गेय पदों का विशेष महत्त्व है। काव्य-सौन्दर्य इन गीतों में अत्यधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। इनकी संख्या लगभग डेढ़ हजार है।

भारतेन्दु के अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें साम्प्रदायिक विषय मुख्य है अथवा जिनमें भक्ति की महिमा गायी गई है। कुछ के नाम निम्नलिखित हैं :—वैष्णव-सर्वस्व, वल्लभीय सर्वस्व, भक्त-सर्वस्व, भक्त-बावनी, वैशाख माहात्म्य, कार्तिक कर्म-विधि, मार्ग-शीर्ष-महिमा, माघ-स्नान-विधि, श्रीनाथ-स्तुति, विनय-प्रेम पचासा, प्रातः स्मरण मंगल पाठ, श्री सीता-वल्लभ स्तोत्र, जैन-कुतूहल, देवी-छद्म-लीला, तन्मय लीला, श्री पंचमी आदि।

शृंगार-सम्बंधिनी रचनाएँ विशेषतः कवित्त-सवैयों में हैं। कुछ के नाम निम्नलिखित हैं :— प्रेम-प्रलाप, प्रेम फुलवारी, मधु-मुकुल, फूलों का गुच्छा, प्रेम-मालिका, प्रेमाश्रु वर्षण, प्रेम माधुरी, प्रेम-तरंग, प्रेम-सरोवर आदि। इनके लिखे कुछ शृंगारिक पद भी हैं। बिहारी के सौ दोहों पर इन्होंने कुंडलियों की भी रचना की है।

राज-भक्ति के सम्बन्ध में भारतेन्दु के कई ग्रंथ हैं—सुमनांजलि, रिपनाष्टक, विजय-वल्लरी, भारत-वीरत्व, विजयिनी-विजय वैजयन्ती आदि। राष्ट्रीयता-सम्बन्धी रचनाओं में भारत-भिक्षा, भारत-वीरता, जातीय संगीत आदि मुख्य हैं। राज-भक्ति सम्बन्धी इनके ग्रन्थों में राज-भक्ति के साथ साथ देश-भक्ति की भी भावना दिखाई पड़ती है। इनके अनेक नाटकों में भी राष्ट्रीयता विषयक कई सुन्दर कविताएँ विद्यमान हैं।

हास्य-व्यंग्य :—भारतेन्दु जी की अनेक रचनाएँ हास्य और व्यंग्य से युक्त हैं। बकरी-विलाप और उर्दू का स्यापा इनमें प्रमुख स्थान रखते हैं।

आज कल हिन्दी में उपहास काव्य (Parody) काफी लिखे जा रहे हैं। यह कहना कठिन है कि उपहास काव्य कब से लिखा जाने लगा परन्तु कतिपय विद्वानों का कथन है कि कविता के आविर्भाव के थोड़े ही समय पश्चात् यह भी लिखा जाने लगा होगा। हिन्दी में उपहास काव्य भारतेन्दु के पहले के नहीं मिले हैं। यह भी हमें ज्ञात नहीं कि संस्कृत में यह था या नहीं और संस्कृत में इसे (Parody को) क्या कहते हैं। जब तक हिन्दी के किसी अन्य प्राचीन उपहास काव्य-लेखक का पता नहीं लगता तब तक

भारतेन्दु को ही हिन्दी का प्रथम उपहास - काव्य-लेखक मानना उचित है। इन्होंने 'बन्दर-सभा' नाम के ग्रंथ की रचना की जो 'इन्दर सभा' नामक प्राचीन उर्दू नाटक की पैरोडी है। इसे ही हिन्दी की प्रथम पैरोडी मानना उचित है।

भारतेन्दु जी ने इतने अल्प समय में बहुत लिखा। इनके ग्रंथों की संख्या १७५ है। यद्यपि इनके ग्रन्थों में से अधिकांश बहुत छोटे छोटे हैं तथापि इतना बहुत होता है। ये प्रति दिन कुछ न कुछ अवश्य लिखते थे। इनके उठने-बैठने के प्रत्येक स्थान में लिखने की सामग्री—कागज, कलम, दावात, पेंसिल आदि—अवश्य रखी रहती थी। कहा जाता है कि जब ये छत पर टहलते रहते तो इनके पीछे पीछे एक नौकर लिखने की सामग्री लेकर चलता रहता। किसी भी काम में रहते और यदि लिखने का भाव आ जाता तो ये वह काम छोड़ कर लिखने लग जाते। इनकी सर्जनात्मक शक्ति अपूर्व थी। यही कारण है कि इतने कम समय में ये इतना अधिक लिख सके।

भक्ति-भावना

भारतेन्दु जी का उदय हिन्दी साहित्य के उस युग में हुआ था जब रीति काल समाप्त हो रहा था और नवीन युग का आरम्भ निकट था। प्राचीनता तथा नवीनता के संधि-स्थल पर इनका आविर्भाव हुआ था। यद्यपि इन्होंने रीति काल के दम घुटाने वाले वातावरण से हिन्दी-भाषी जनता को मुक्त कर नव चेतना का संचार किया तथापि ये भक्ति-काल तथा रीति-काल की सारी प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं हो सके; वस्तुतः भारतेन्दु जी भक्ति काल तथा रीति काल की परम्परा में आते हैं।

इनका कुल वैष्णव था और इनके पिता जी भी परम वैष्णव भक्त थे। उत्तराधिकार में भारतेन्दु जी को यह कृष्ण-भक्ति प्राप्त हुई थी। इनकी इस वैष्णवी परम्परा और प्रेमी स्वभाव ने इनकी भक्ति-भावना को उद्दीप्त कर दिया। यद्यपि इनकी प्रारम्भिक रचनाएँ शृंगार रस की हैं, तथापि कुछ समय व्यतीत होने पर इन्होंने भक्ति-परक रचनाएँ कीं। इस दृष्टि से भारतेन्दु जी योग्य पिता के योग्य पुत्र सिद्ध हुए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र विलास के साधनों के बीच रहते हुए भी भक्त थे। सूर और तुलसी के समान वे गृह-त्यागी विरक्त भक्त नहीं थे अतः वे उन भक्तों की कोटि में परिगणित नहीं हो सकते, किन्तु जहां तक भक्ति नाम की हृदय की रागात्मिक वृत्ति से सम्बन्ध है, वहां भारतेन्दु जी किसी भक्त से पीछे नहीं हैं। वस्तुतः भक्ति की तन्मयता इनमें एक सीमा तक है।

भारतेन्दु जी की भक्ति में समन्वय की भावना विशद रूप में वर्त्तमान है। इनमें साम्प्रदायिक कट्टरता नाम की कोई वस्तु नहीं है। पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित होकर भी अन्य आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित भक्ति-मार्ग से इनका विरोध नहीं है। इनकी भक्ति में दास्य, सख्य, माधुर्य तथा वात्सल्य सब का समन्वय दृष्टि-गोचर होता है। इन्होंने

निर्गुण और सगुण का भी समन्वय किया। जैन मत के प्रति भी इनका पूर्ण आदर-भाव है। अपने उत्तर भक्त-माल में इन्होंने कुछ मुसलमान भक्तों के प्रति अपनी श्रद्धा दिखाई है और कृष्ण-भक्त आचार्यों के साथ अष्ट छाप के कवियों के प्रति भी आदर प्रदर्शित करके इन्होंने इन हरिजन मुसलमानों के विषय में कहा है "इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दुन वारिये।" इनका विश्वास था कि देश और राष्ट्र के हित के लिए आवश्यक है कि सब मतों में ऐक्य स्थापित किया जाय, कम से कम, आपसी मतभेद नहीं रहने पावे। इन्होंने ईश्वर के नाम, रूप आदि के भेदों पर ध्यान नहीं दिया और ईसाइयों तथा मुसलमानों के पैगम्बरों के प्रति भी श्रद्धा दिखाई। ये एक सम्प्रदाय के लोगों के द्वारा दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा करना अत्यन्त घृणित कार्य मानते थे। ये सच्चे ईश्वर-भक्त थे अतः मन्दिर मस्जिद का भी भेद नहीं मानते थे :—

दुश्मन को दोस्त को एक नजर से देखे।
मैखाना मसजिद मन्दिर एक ही समझे ॥

भारतेन्दु जी वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे यों तो उनका कुल ही वैष्णव था। वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार इन्होंने अपनी भक्ति के चार स्तम्भ माने हैं :—"राधा-वल्लभ' कृष्ण, 'वल्लभी' राधा, 'वल्लभ' आचार्य वल्लभ तथा 'वल्लभ ताई' वल्लभ सम्प्रदाय। निम्न-लिखित पंक्तियों से यह बात स्पष्ट हो जाती है :—

राधा वल्लभ, वल्लभी, वल्लभ, वल्लभ ताई।
चार नाम वपु एक पद बन्दत सीस नवाई ॥

महाप्रभु वल्लभाचार्य और उसके पुत्र गोस्वामी विट्ठल नाथ को कई स्थलों पर इन्होंने भक्ति के साथ स्मरण किया है जिससे उनके प्रति इनकी असीम श्रद्धा प्रकट होती है। भक्त सर्वस्व में राधा की स्तुति के अनन्तर भारतेन्दु जी ने महाप्रभु की वन्दना निम्न-लिखित पंक्तियों में की है :—

जयति जयति तैलंग-कुल रत्न-दीप द्विज राज।
श्री वल्लभ जग-अघ-हरन तारन पतित समाज ॥

अनेक पदों में इन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्य तथा गोस्वामी विठ्ठल नाथ दोनों पिता पुत्र की स्तुति की है :—

(१) हम तो मोल लियो या घर को।
दास दास श्री वल्लभ कुल के चाकर राधा वर के ॥

(२) श्री वल्लभ प्रभु मेरे सरबस।
पचौ वृथा करि जोग यज्ञ कोउ हमको तो इक इहै परम रस।
हमरे मात पिता पति बंधू हरि गुरु मित्र धरम धन कुल जस ॥

वास्तव में वल्लभ-सम्प्रदाय के किसी भी भक्त ने वल्लभाचार्य की उतनी स्तुति नहीं की जितनी भारतेन्दु जी ने की। इस प्रकार इन्होंने अपने को वल्लभ-सम्प्रदाय का सच्चा अनुयायी प्रमाणित किया।

वल्लभ-सम्प्रदाय में ईश्वर के समान जगत् की सत्यता में विश्वास किया जाता है, साथ ही मायावाद का खंडन भी किया जाता है। मायावाद और अद्वैतवाद का खंडन करना भारतेन्दु के लिए, शुद्धाद्वैतवाद के नाते आवश्यक था। इन्हें विश्वास था कि तत्कालीन समाज के नैतिक पतन के मूल में वेदान्त के अद्वैतवाद और मायावाद ही हैं। अतः भारतेन्दु ने अद्वैतवाद के विरोध में कहा :—

(१) कहो अद्वैत कहां से आयो।
हमें छोड़ि दूजो है को जेहिं सब थल पिया लखायो।
बिनु वैसो चित पाएँ झूठी यह क्यों जाल बनायो।
हरीचन्द बिनु परम प्रेम के यह अभेद नहिं पायो॥

(२) जो पै सबै ब्रह्म ही होय।
तो तुम जोरू जननी माना एक भाव सों दोय।
ब्रह्म ब्रह्म कहि काज न सरनो वृथा मरो क्यों रोय।
हरीचन्द इन बातन सों नहिं ब्रह्मादि पैहों कोय॥

गोस्वामी वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद था। में भारतेन्दु जी ने कहा है :—

जो पै ईश्वर साँचो जान।
तो क्यों जग को सगरे मूरख झूठो करत बखान।
जो करता साँचो है तो सब कारज हू है साँच।
जो झूठो है ईश्वर तो सब जगहू जानौ काँच।
जो हरि एक अहै तो माया यह दूजी है कौन?

भारतेन्दु जी ने अष्ट छाप के कवियों के सदृश कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का वर्णन अपने गेय पदों में किया है। भावना की तन्मयता तथा वेदना की गहरी अनुभूति की दृष्टि से ये पद अष्ट छाप के कवियों के पदों के समकक्ष हैं। इन पदों में कृष्ण की दानलीला, मानलीला, रासलीला, रूप-वर्णन आदि का मार्मिक चित्रण किया गया है। विरह वेदना की जो मर्म-स्पर्शिता सूर और नन्द में दृष्टि-गत होती है, वही भारतेन्दु के गीतों में उपलब्ध होती है। किन्तु अष्ट छाप के कवि गण इन विषयों पर इतना कह गये हैं कि आधुनिक युग के किसी कवि के लिए कहने को कुछ नवीन बचा ही नहीं। अतः भारतेन्दु जी को कहने के ढंग में नवीनता लानी पड़ी। जहां तहां ये मौलिक उद्भावना भी ला सके हैं।

गेय पदों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में जो भक्ति दिखाई गई है उसमें अधिकतर साम्प्रदायिक प्रचार मात्र है। भक्ति के माहात्म्य का विषय छन्दोबद्ध कर दिया गया है अथवा वैष्णव भक्ति की विभिन्न विधियों तथा पद्धतियों पर प्रकाश डाला गया, हृदय की शुद्ध रागात्मिका वृत्ति से इन पुस्तकों का सम्बन्ध कम है। साम्प्रदायिक दृष्टि से

इनका जो महत्त्व हो किन्तु भक्ति-भावना की दृष्टि से जो महत्त्व गेय पदों का है, वह इन पुस्तकों का नहीं।

अब हम भारतेन्दु जी की भक्ति-भावना के विभिन्न रूपों पर विचार करें। भक्त को उन सभी पदार्थों अथवा स्थानों से असीम प्रेम है जिनसे कृष्ण भगवान् का सम्बन्ध रहा है। व्रज भूमि, यमुना, करील-कुंज तथा व्रज-भूमि के प्रत्येक लता-पत्र से भक्त को स्वाभाविक प्रेम हो जाता है। रसखान के समान भारतेन्दु भी कह उठते हैं :—

(१) व्रज के लता पता मोहिं कीजै।
गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै।
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्री राधे राधे मुख यह बर हरिचन्द को दीजै॥

(२) अहो हरि वे हू दिन कब ऐहै।
जा दिन में तजि और संग सब हम व्रज बास बसै हैं॥

पुष्टि मार्ग के भक्त होने के कारण कृष्ण की बाल – लीला का वर्णन करना आवश्यक और स्वाभाविक था। सूर और अन्य पुष्टि-मार्गी कवियों के समान भारतेन्दु ने भी बाल-लीला का वर्णन किया है :—

झगरत कबहुँ दोउ आनन्द भरि कबहुँ चलत हैं धाय।
कबहुँ गहत माता की चोटी माखन माँगत आय॥

कृष्ण की बाल लीला का एक दूसरा अलंकार-पूर्ण वर्णन देखिए :—

आजु लख्यों आंगन में खेलत यशुदा जी को बारो री।
पीत झँगुलिया तनक चौतनी मन हरि लेत दुखारो री।
अति सुकुमार चंद्र से मुख पै तनक डिठौना दीनो री।
मानहुं श्याम कमल पै इक अलि बैठो है रंग भीनो री।
उर बधनखा विराजत सखि री उपमा नहिं कहि आवै री॥
मनु फूली अगस्त की कलिका शोभा अति ही बढ़ावै री॥

भारतेन्दु जी ने राधा जी की भी बाल लीला का वर्णन किया है :—

मनि मय आँगन प्यारी - खेलैं।
किलकि किलकि हुलसति मन ही मन गहि अंगुरी मुख मेलैं।
बड़ भागिनि कीरति सी मैया जोहन लागी डोलैं।
कबहुँक लै झुनझुना बजावति मीठी बतियन बोलैं।

बाल कृष्ण के रूप वर्णन के पश्चात् भारतेन्दु जी ने कृष्ण के यौवन के सौन्दर्य का भी वर्णन अनेक पदों में किया है।

वह आवनि वह हँसन छबीली वह मुसकनि चित चोरै।
वह बतरानि, मुरनि हरि की वह, वह देखन चहुँ कोरै॥

इस सम्प्रदाय के कुछ अन्य भक्त कवियों के समान भारतेन्दु जी ने राधा और कृष्ण के रूप का एक साथ वर्णन किया है :—

कहा कहूँ छबि कहि नहिं आवै, ये साँवर वे गोरी।
ये पीताम्बर सारी पहिनैं उनकी पीत पिछौरी।
एक रूप एक बेस एक बय बरनि सकै कवि को री।
हरीचन्द दोउ कुंजन ठाढ़े हँसत करत चित चोरी॥

कृष्ण-भक्त कवियों की कृष्ण की मुरली पर अनेक सुन्दर उक्तियां हैं। सूर और नन्द के तो इस विषय पर कई पद हैं। हरिश्चन्द्र ने भी कुछ पदों में मुरली तथा उसके प्रभाव का सुन्दर वर्णन किया है।

बिमानन देव बधू रहीं भूलि।
सुनि कै अति विचित्र गीतन कों बंसी की धुनि घोर॥
चकित होत सब अंग अंग मैं बाढ़त मैन मरोर।

पुष्टि-सम्प्रदाय में राधा जी का विशेष महत्त्व है। राधा जी के प्रकट होने पर ही पुष्टि मार्ग की सार्थकता है, क्योंकि यदि वे प्रकट नहीं होतीं तो रास नहीं होता और पुष्टि मार्ग भी स्थापित नहीं हो पाता।

जो पै श्री राधा रूप न धरतीं।
प्रेम-पंथ जग प्रकट न होतो ब्रज बनिता कहा कहतीं।
पुष्टि-मार्ग थापित को करतो ब्रज रहतो सब सूनो।
हरि लीला काके सँग करते मंडल होतो ऊनो।
रास मध्य को रमतो हरि सँग रसिक सुकवि कह गाते।
'हरीचंद' भव के भय सों भजि किहि के शरणहिं जाते।

प्राचीन भक्तों के समान हरिश्चन्द्र में दीनता की भी भावना वर्त्तमान है। भगवान् पतित पावन हैं और भक्त अनेक पापों का भंडार। अतः भगवान् की कृपा के विना भक्त का उद्धार नहीं हो सकता। भक्त का उद्धार अपने पुण्य-कर्म के बल पर सम्भव नहीं। भगवान् की ही कृपा का भरोसा है :—

कहौ किमि छूटै नाथ, सुभाव।
काम, क्रोध, अभिमान, मोह सँग तन को बन्यो बनाव॥
ताहू मैं तुव माया सिर पै औरहु करन कुदाव।
हरीचंद बिनु नाथ कृपा के नाहिंन और उपाव॥

भगवान् के यहां ऐसे लोगों की भी पूछ होती है जो कामी, क्रोधी, लोभी आदि हैं और जिन को उद्धार की आशा अल्प मात्रा में भी नहीं रहती। केवल भगवान् की आशा और अवलम्ब हैं :—

बलिहारी है या दरबार की।
बिधि निषेध मरजाद शास्त्र की गति नहिं जहां प्रकार की॥

किन्तु यदि भगवान् परीक्षा लेना आरम्भ करेगा, तो भक्त का उद्धार नहीं हो सकता। उसे तो केवल भगवान् की करुणा का ही सहारा है—

प्यारे मोहि परखिए नाहीं।
हम न परीच्छा जोग तुम्हारे यह समझहु मन माहीं॥
पापहि सो उपज्यो पापहि में सगरो जनम सिरान्यो।
तुव सनमुख सो न्याव तुला पै कैसे कै ठहरान्यो॥
दया-निधान भक्त-वत्सल करुणा मय भव-भयहारी।
देखि दुखी 'हरिचंदहि' कर गहि बेगहि लेहु उबारी॥

दास्य भाव के पद :—

(क) प्रभु हो ऐसी तो न बिसारो।
कहत पुकार नाथ तव रूठे कहुँ न निवाह हमारो॥
(ख) तुम्हें तो पतितन ही सों प्रीति।
लोकरु बेद-विरुद्ध चलाई क्यों यह उलटी रीति॥
(ग) नाथ तुम अपनी ओर निहारो।
हमरी ओर न देखहु प्यारे निज गुन गनन बिचारो॥

सख्य भाव के निम्लिखित पद द्रष्टव्य हैं : -

(क) आजु हम देखत हैं को हारत।
हम अब करत कि तुम मोहि तारत को निज बान बिसारत॥
होड़ पड़ी है तुमसों हमसों देखैं को प्रन पारत।
हरीचंद अब जात नरक में कै तुम धाइ उबारत॥
(ख) कै तो निज परतिज्ञा टारौ।
गीतादिक में जौन कही है ताकों तुरत बिसारो॥
दीन बंधु प्रनतारति-नासन अपनो बिरद बिगारौ।
कै झट धाइ उठाइ भुजा भरि 'हरीचंद' को तारो॥
(ग) नखरा राह राह को नीको।
इत तो प्रान जात है तुव बिनु तुम न लखत दुख जी को॥

माधुर्य भाव के अन्तर्गत निम्नलिखित पद हैं :—

(क) पुरानी परी लाल पहचान।
अब हम को काहे को चीन्हो प्यारे भये सयान॥
नई प्रीति नए चाहन वारे तुम हूँ नए सुजान।
हरीचंद पै जाइ कहाँ हम लालन करहु बखान॥
(ख) भई सखि ये अँखिया बिगरैल।
बिगरि परी मानत नहिं देखे बिना साँवरो छैल॥
(ग) मैं तो तेरे मुख पर वारी रे।

इन अँखियन को प्रान प्रिया छबि तेरी लागत प्यारी रे ॥

माधुर्य भाव की पराकाष्ठा निम्न-लिखित पद में देखी जा सकती है जहां राधा कृष्ण-मय हो गई है और उसे अपने स्वतंत्र अस्तित्व का भान भी नहीं होता :—

राधा भई आप घनस्याम ।
आपुन को गोविंद कहति है छाँड़ि राधिका नाम ॥

हिन्दी साहित्य में उद्धव-गोपी-संवाद लेकर अनेक भक्त कवियों की सरस और अनूठी उक्तियां हैं। सूर और नंद के भ्रमर-गीतों में इस विषय को लेकर बहुत विस्तार हुआ है। हिन्दी साहित्य में भ्रमर गीत की परम्परा ही चल पड़ी। भारतेन्दु जी ने भी इस प्रसंग को लेकर अनेक सुन्दर पदों की रचना की है। कुछ उदाहरण देखें—

(क) पिय सों प्रीति लगी नहिं छूटै ।
ऊधो चाहो सो समझाओ अब तो नेह न टूटै ॥
सुन्दर रूप छाँड़ि गीता को ज्ञान लेइ को कूटै ।
'हरीचन्द' ऐसो को मूरख सुधा त्यागि विष लूटै ॥

(ख) ऊधौ जो अनेक मन होते ।
तौ इक स्याम सुन्दर को देते इक लै जोग सँजोते ॥
एक सों सब गृह कारज करते एक सों धारते ध्यान ।
एक सों स्याम रँग रँगते तजि लोक लाज कुल कान ॥
जो जप करै जोग को साधै को पुनि मूँदै नैन ।
हिये एक रस स्याम मनोहर मोहन कोटिक मैन ॥
ह्याँ तो हुतो एक ही मन सो हरि लै गये चुराइ ।
हरीचंद कोऊ और खोजि कै जोग सिखावहु जाइ ॥

इस पद पर सूरदास के निम्नलिखित पद का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है—

ऊधो मन नाहीं दस बीस ।
एक हुतो सो गयो स्याम सँग को आराधै ईस ॥

ज्ञान-पंथियों की निर्गुण-मार्गी शैली में भी भारतेन्दु ने कुछ रचना की है। कुछ उदाहरण देखें :—

(क) देखैं पावत कौन सोहाग ।
बहुत सोहागिन एक पियरवा सब ही को अनुराग ॥

(ख) एक एक कर छोड़ रहे हैं नित नित खेप लदाई है ।
जो बचते सो यही सोचते उनकी सदा रहाई है ॥
अजब भँवर है जिस में पड़ कर सब दुनिया चकराई है ।
हरीचन्द भगवंत भजन बिनु इससे नहीं रिहाई है ॥

(ग) यारो यह नहिं सच्चा धरम ।
छू छू कर या नाक मूँद कर जो कि बढ़ाया भरम ॥

भारतेन्दु जी ने राम-भक्ति-विषयक ३० श्लोकों का एक स्तोत्र ग्रंथ "श्री सीता-वल्लभ स्तोत्र" संस्कृत में लिखा है। 'राम-लीला' नामक १० पृष्ठों के लघु ग्रंथ में रामायण के अयोध्या कांड की कथा संक्षेप में कही गई है जिसके कई पद काफी मार्मिक हैं।

भारतेन्दु जी ने कई पदों में जैन धर्म के प्रति उदारता प्रदर्शित की है। 'जै जै पद्मावति महारानी' तथा 'जय जय जयति ऋषभ भगवान्' इस श्रेणी के पदों में अग्रगण्य हैं।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि भारतेन्दु की भक्ति-पद्धति में कट्टरता नाम की कोई वस्तु नहीं है। यद्यपि ये पुष्टि-मार्ग में दीक्षित थे तथापि साम्प्रदायिक कट्टरता इनमें नाम को भी नहीं थी। भक्ति-काल में भक्ति की जितनी पद्धतियाँ प्रचलित थीं, सबका प्रतिनिधित्व भारतेन्दु ने अकेले किया। यही नहीं, भारतेन्दु की भक्ति वैष्णव भावना की सीमा का अतिक्रमण कर जैन भक्ति तक कुछ अंश में चली जाती है।

शृंगार-भावना

भारतेन्दु जी के काव्य में भक्ति की रचनाओं के साथ साथ शृंगार की भी रचनाएँ हैं। यों तो माधुर्य भक्ति की रचनाओं में शृंगार है ही, किन्तु शुद्ध शृंगार रस की भी प्रचुरता भारतेन्दु जी की कविता में है। एक ओर भारतेन्दु जी जहां अपने भक्ति-परक पदों के कारण भक्ति युग में आते हैं, वहां दूसरी ओर शृंगार-परक कवित्त-सवैयों के कारण रीति-काल के कवियों में उच्च स्थान पाने के अधिकारी हैं।

अपनी रसिक प्रवृत्ति तथा आमोद-प्रमोद के वातावरण में पलने के कारण भारतेन्दु जी में शृंगार-भावना पर्याप्त मात्रा में वर्त्तमान है। रसिकता इन के रोम रोम में व्याप्त है। भारतेन्दु जी की अनेक रचनाएँ ऐसी है जिन्हें शृंगार की कोटि में रखा जा सकता है क्योंकि प्रत्यक्ष रूप में वे शृंगारात्मक ही प्रतीत होती हैं परन्तु वास्तव में भक्ति की कोटि में हैं और उनमें प्रतीकात्मक अर्थ सन्निहित रहता है।

साधारणतः भारतेन्दु की शृंगारिक रचनाएँ रीति काल के ढंग पर निर्मित हुई हैं; परन्तु दोनों में बहुत अन्तर है। रीति-कालीन कवियों का ध्यान रहता था शब्दाडम्बर पर और उन्हें चमत्कार प्रदर्शन ही अभीष्ट था परन्तु भारतेन्दु के शृंगार परक कवित्त-सवैये सरसता तथा अनुभूति में पूर्णतः डूबे हुए हैं। फिर रीति कालीन कवि अपनी कविता अलंकार तथा नायिका-भेद के उदाहरण के रूप में रचते थे परन्तु भारतेन्दु का आग्रह लक्षण और उदाहरण पर नहीं है। इनके कवित्त सवैये स्वतंत्र रूप से निर्मित हुए हैं।

एक ओर जहां भक्ति की रचनाओं के कारण भारतेन्दु जी सूर, नंद, मीराँ और रसखान की परम्परा में आते हैं, वहां दूसरी ओर अपनी शृंगारिक रचनाओं के कारण ये देव, घनानंद, ठाकुर और पद्माकर की परम्परा में गिने जाते हैं। ये घनानंद, ठाकुर और पद्माकर से प्रभावित जान पड़ते हैं। घनानंद का तो इन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

जान पड़ता है कि भारतेन्दु जी ने घनानंद को ही अपना आदर्श मान लिया था। घनानंद के ही समान इनकी भी कविता आडम्बर-विहीन और अलंकार-रहित रहने पर भी हृदय पर गहरा प्रभाव डालती है। भारतेन्दु के शृंगार में ऐन्द्रियता भी है, सूक्ष्मता भी है; यदि एक ओर वाह्य रूप का आकर्षण है तो दूसरी ओर आत्मा की तन्मयता भी है।"[1]

कुछ आलोचक भारतेन्दु की कविता में कतिपय रीति कालीन प्रवृतियाँ देख कर इनकी भक्ति-परक भी कुछ कविताओं में शृंगार की गंध पाते हैं। यह तो विदित ही है कि माधुर्य भाव की भक्ति में शृंगार भावना किसी अंश में वर्त्तमान रहती ही है परन्तु ऐसी कविताओं को शृंगार-परक नहीं कह सकते। भारतेन्दु जी ने जहां कहीं भी राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन किया है, सर्वत्र लौकिक नायक और नायिका के रूप में नहीं। राधा और कृष्ण की काम-केलि, हास-विलास में कवि की भक्ति ही अधिकतर स्थानों में परिलक्षित होती है। हाँ, यह सत्य है कि सर्वत्र ऐसा ही नहीं है। अनेकत्र इनके राधा-कृष्ण सामान्य नायक नायिका के रूप में दिखाये गये हैं।

भारतेन्दु जी की शृंगारिक कविताओं में शृंगार के दोनों पक्षों का वर्णन हुआ है। किन्तु संयोग की अपेक्षा विप्रलम्भ का रंग विशेष निखरा दिखाई पड़ता है। राधा और कृष्ण की केलि क्रीड़ा पर आधारित बहुत पद भारतेन्दु जी की कविता में प्राप्य हैं परन्तु जो मनोहारिता तथा मर्म स्पर्शिता विप्रलम्भ शृंगार के वर्णन में है वह संयोग शृंगार में उपलब्ध नहीं होती।

संयोग शृंगार—प्रथम दर्शन का चित्र देखिए:—

जा दिन लाल बजावत बेनु अचानक आय कढ़े मम द्वारे।
हौं रही ठाढ़ी अटा अपने लखि कै हँसे मो तन नन्द दुलारे॥
लाजि कै भागि गई 'हरिचन्द' भौन के भीतर भीति के मारे।
ताही दिना तें चबाइन हूँ मिलि हाय चबाय कै चौचंद भारे।

उद्दीपन के रूप में वर्षा ऋतु का वर्णन द्रष्टव्य है:—

कूकै लगीं कोइलैं कदम्बन पै बैठी फेरि;
धोए धोए पात हिल मिल सरसै लगे।
बोले लागे दादुर मयूर लगे नाचै फेरि,
देखि कै सँजोगी जन हिय हरसै लगे॥
हरी भई भूमि सीरी पवन चलन लागी,
लखि हरिचन्द फेर प्रान तरसै लगे,
फेरि झूमि झूमि बरषा की ऋतु आई,
फेरि बादर निगोरे झुकि झुकि बरसै लगे॥

---

१ प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा।

नायिकाओं के अट्ठाईस सात्त्विक अलंकार बताये गये हैं जिनके तीन स्थूल विभाग हैं अंगज, अयत्नज और यत्नज। भारतेन्दु जी की कविता में सभी के उचित उदाहरण मिल जाते हैं। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य और प्रगल्भता नामक अयत्नज सात्त्विक अलंकारों का सम्मिलित उदाहरण देखिये—

सिसुताई अजौं न गई तन तें तऊ जोबन जोति बटोरै लगी।
सुनि कै चरचा 'हरिचन्द' की कान कछूक दै भौंह मरोरै लगी॥
बचि सासु जेठानिन सों पिय तें दुरि घूंघट में दृग जोरै लगी।
दुलही उलही सब अंगन तें दिन द्वै तें पियूष निचोरै लगी॥

सम्भोग श्रृंगार का एक विलास-पूर्ण चित्र देखिए :—

आजु केलि मंदिर सों निकसि नवेली ठाढ़ी,
भौंर चारों ओर रहे गंध लोभी बार के।
नैन अलसाने घूमैं, पटहु परे हैं भू मैं,
उर में प्रगट चिह्न पिय कंठ हार के॥

संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत नखशिख वर्णन की भी परिपाटी है। भारतेन्दु जी ने इस परम्परा का भी पालन किया है। हिंडोला, जलक्रीड़ा, होली आदि का भी वर्णन भारतेन्दु जी ने पर्याप्त मात्रा में किया है। होली के वर्णन में तो भारतेन्दु जी सीमा को भी लाँघ गये हैं।

विप्रलम्भ श्रृंगार :—भारतेन्दु जी का विरह-वर्णन प्राचीन परिपाटी के कवियों के विरह-वर्णन से कुछ भिन्न है। इसमें अत्युक्ति और अस्वाभाविकता की कमी तथा स्वाभाविकता और मार्मिकता की प्रचुरता है। प्राचीन कवियों ने—विशेषतः रीति-कालीन कवियों ने—एक से बढ़कर एक नई नई उड़ानें भरी हैं, बहुत सी विचित्र बातें कही हैं; परन्तु उनमें से अधिकांश में, मार्मिकता का अभाव है। उनका विरह-वर्णन कोरा वाग्जाल होकर रह गया है। परन्तु भारतेन्दु जी के विरह-वर्णन में इन सब त्रुटियों का प्रायः अभाव है। फलतः हम इससे प्रभावित होते हैं। उदाहरण के लिए निम्न-लिखित सवैया देखें :—

रोवैं सदा नित की दुखिया बनि ये अँखियाँ जिहि द्यौस सों लागी।
रूप दिखाओ इन्हैं कबहूं हरिचंद जु जानि महा अनुरागी॥
मानिहैं औरन सों नहिं ये तुव रंग रँगी कुल लाजहिं त्यागी।
आँसुन को अपने अँचरान सों लालन पोंछि करौ बड़ भागी॥

भारतेन्दु जी की कविता में ऐसे बहुत कवित्त सवैये हैं जिनका अर्थ लौकिक श्रृंगार में तथा कृष्ण-भक्ति में भी लगाया जा सकता है। किसी भी तरह इनमें विप्रलम्भ श्रृंगार ही रस माना जायगा भले ही इसमें माधुर्य भक्ति हो या लौकिक श्रृंगार।

एक विरहिणी का स्वाभाविक वर्णन देखें :—

छटी सी छकी सी जड़ भई सी जकी सी घर,
हरी सी बिकी सी सो तो सब ही घरी रहै।

बोले तें न बोलै दृग खोलै ना हिंडोलै बैठि,
एक टक देखे सो खिलौना सी धरी रहै ॥
'हरीचन्द' औरो घबरात समुझाएँ हाय,
हिचकि हिचकि रोवै जीवति मरी रहै ।
याद आएँ सखिन रोवावै दुख कहि कहि,
तौ लौं सुख पावै जो लौं मुरछि परी रहै ॥

प्रणय मान का एक उदाहरण लीजिए :—

प्रिय रूसिबे लायक होय जो रूसनो वाही सों चाहिए मान किये ।
'हरीचंद' तो दास सदा बिन मोल कों बोलै सदा रुख तेरो लिये ॥
रहै तेरे सुखी सों सुखी नितहीं मुख तेरो ही प्यारी बिलोकि जिये ।
इतने हूँ पै जानै न क्यों तू रहै सदा पीय सों भौंह तनेनी किये ॥

वियोग पक्ष की ग्यारह दशाएँ कही गई हैं। भारतेन्दु जी ने अपनी कविता में सब का समावेश किया है। विरहिणी 'उन्माद' की दशा में कह रही है कि क्या ब्रह्मा ने संसार की सारी अमरता मेरे ही भाग्य में लिख दी है ?

इतने हूँ पै प्रान गये नहिं फिरहू सुधि आई अधराती ।
हौं पापिन जीवति ही जागी फटी न अजौं कुलिस की छाती ॥
फिर वह घर व्यवहार वहै सब करन परै नितहीं उठि माई ।
'हरीचन्द' मेरे ही सिर विधि दीनी काह जगत अमराई ॥

निम्न-लिखित सवैया 'मरण' दशा के अन्तर्गत है ।

हे हरि जू बिछुरे तुम्हरे नहिं धारि सकी सो कोऊ बिधि धीरहिं ।
आखिर प्रान तजे दुख सों न सम्हारि सकी वा वियोग की पीरहिं ॥
पै 'हरिचन्द' महा कलकानि कहानी सुनाऊँ कहा बल बीरहिं ।
जानि महा गुन रूप की रासि न प्रान तज्यो चहै वाके सरीरहिं ॥

विप्रलम्भ शृंगार के उद्दीपनों के रूप में षट् ऋतु का वर्णन भारतेन्दु जी ने किया। इसके अतिरिक्त प्रकृति के विभिन्न रूपों को इन्होंने उद्दीपन के रूप में ग्रहण किया है। जहां कहीं भी सच्चा काव्यत्व मिला, भारतेन्दु जी ने तुरंत ग्रहण कर लिया। सारांश यह कि भारतेन्दु के विरह-वर्णन में कुछ अन्य कवियों के सदृश कोरा वाग्जाल नहीं है वरन् वेदना की मार्मिक अभिव्यंजना है ।

राष्ट्रीयता

भारतेन्दु की राष्ट्रीय भावना समझने के लिए हमें उस युग पर दृष्टि-पात करना लाभ-कारक प्रमाणित होगा। भारतेन्दु के जन्म के लगभग १०० वर्ष पहले मुसलमानी शासन का अन्त हो गया था और भारत के अधिकांश भाग पर अंग्रेजी राज्य स्थापित

हो चुका था। हिन्दू जनता के लिए मुसलमानी राज्य और अंग्रेजी राज्य दोनों पर-राज्य ही थे। परन्तु अब उसे सन्तोष इस बात का था कि अंग्रेजी शासन में उसके मंदिर नहीं तोड़े जाते और न बल-पूवक धर्म-परिवर्त्तन ही होता। अंग्रेजों को व्यापार के द्वारा भारत से केवल धन ले जाकर अपने देश को समृद्ध करना था; उन्हें ईसाई धर्म के अनुयायियों की संख्या बढ़ाने से कोई विशेष प्रयोजन नहीं था। इस प्रकार मुसलमानी शासन से सन्तप्त जनता को अंग्रेजों का राज्य वरदान सा प्रतीत हुआ।

इसी पृष्ठ-भूमि में भारतेन्दु की राज-भक्ति विषयक कविताओं को ग्रहण करना चाहिए। सन् १८७५ ई० में प्रिंस ऑफ वेल्स (पीछे सप्तम एडवर्ड) के भारत आने पर भारतेन्दु ने जो कविता लिखी, उसकी निम्न-लिखित पंक्तियाँ इसी मनोदशा को प्रमाणित करती हैं :—

दुष्ट नृपति बल दल दली दीना भारत-भूमि।
लहिहै आजु अनन्द अति तुव पद-पंकज चूमि॥
जैसे आतप तपित कों छाया सुखद गुनात।
जवन राज के अंत तुव आगम तिमि दरसात॥
मसजिद लखि बिसुनाथ ढिग परे हिये जो घाव।
ता कहँ मरहम सरिस यह तुव दरसन नर राव॥

अंग्रेजों ने धर्म के विषय में अहस्तक्षेप की नीति अपनायी जो नीति भारत के विगत सात आठ सौ वर्षों के इतिहास से सर्वथा भिन्न थी। इस दशा में भारतेन्दु को प्रसन्नता कैसे नहीं होती?

जो न प्रजा-तिय दिसि सपनेहूँ चित्त चलावै।
जो न प्रजा के धर्महिं हठ करि कबहुँ नसावै।

अंग्रेजी शासन का शोषण तुरन्त समझ में आनेवाला नहीं था। धीरे धीरे समय बीता और अनुभव के बाद भारतीय जनता के दृष्टि-कोण में परिवर्त्तन होना आरम्भ हो गया। भारतेन्दु ने अनुभव किया कि अंग्रेजी शासन के परिणाम-स्वरूप भारत धन-हीन होकर खोखला होता जाता है। तब भी राज-भक्ति का कुछ अंश उनमें वर्त्तमान था। इन्होंने एक पंक्ति में राज भक्ति दिखाई और दूसरी पंक्ति में देश भक्ति :—

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी॥

वे फिर आगे कहते हैं—

ताहू पै महंगी काल रोग विस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईश देत हा हा री॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

भारतेन्दु ने अन्यत्र कहा—

भीतर भीतर सब रस चूसै, हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन ? ना अंगरेज ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु में राज-भक्ति तथा देश-भक्ति दो विरोधी भावनाएँ मिश्रित हैं। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि भारतेन्दु के युग में आज के समान उग्र राष्ट्रीयता नहीं थी।

कुछ आलोचक कह सकते हैं कि भारतेन्दु जी की राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता थी जहां हिन्दुओं के अतिरिक्त और किसी के लिए स्थान नहीं था। कर्पूर मंजरी के भरत वाक्य की निम्न-लिखित पंक्तियों से यह कथन प्रमाणित किया जा सकता है :—

जवन संसरग जात दोष गन इन सों छूटैं,
सबै सुपथ पथ चलैं नितहिं सुख सम्पति लूटैं।

परन्तु हमें नहीं भूलना चाहिए कि भारतेन्दु की इस आकांक्षा के पीछे भारत वर्ष का सात आठ सौ वर्षों का इतिहास है।

भारतेन्दु प्राचीन भारत के गौरव को याद कर और वर्त्तमान भारत की दयनीय दशा देख कर द्रवित हो जाते हैं; उनका हृदय चीत्कार कर उठता है। भारतीयों को काला कह कर उनका अपमान किया जाता है यह देख कर कवि कह उठता है :—

ये कृष्ण बरन जब मधुर तान।
करते अमृतोपम वेद-गान ॥
तब मोहत सब नर-नारि-वृन्द।
सुनि मधुर बरन सज्जित सुछंद ॥

× × ×

जब लेत रहे कर में कृपान।
इन ही कहँ हो जग तृन समान ॥
सुनि के रन बाजन खेत माँहि।
इन ही कहँ हो जिय संक नाहिं ॥

परन्तु वही भारत-भूमि आज किस अवस्था में है ?

हाय वहै भारत भुवि भारी। सब ही विधि सो भयो दुखारी ॥

और,

सोइ भारत की आज यह भई दुरदशा हाय।
कहा करैं कित जाँय नहि सूझत कछू उपाय ॥

भारत की यह दुर्दशा देख कर भारतेन्दु का हृदय रो उठता है—

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई ।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥

कवि को इस विपन्न दशा में कोई उपाय नहीं सूझता कि इस विपत्ति-गर्त्त से भारत का उद्धार कैसे किया जाय । अंत में वह काशी, प्रयाग, अयोध्या, पंचनद, पानीपत को एक एक कर याद करता है । इनमें से एक एक नाम के स्मरण में अपार शक्ति भरी है किन्तु आज ये सभी नाम व्यर्थ से लगते हैं :—

काशी प्राग अयोध्या नगरी । दीन रूप सब ठाढ़ी सगरी ॥
चंडाल हु जेहि देखि घिनाई । रहीं सबै भुव मुँह मसि लाई ॥
हाय पंचनद ! हाय पानीपत । अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत ॥
हाय चित्तौर निलज तू भारी । अजहुँ खरी भारत हिं मँझारी ॥

× × ×

घेरि छिपावहु विंध्य हिमालय । करहु सकल जल भीतर तुम लय ॥
धोवहु भारत अपजस पंका । मेटहु भारत भूमि कलंका ॥

दुःखियों के लिए ईश्वर ही एक मात्र सहारा होता है । भारत की विपत्ति में भी वही करुणा कर के इसका उद्धार कर सकेगा । इसी आशा से प्रेरित होकर भारतेन्दु जी 'नील देवी' नाटक में देश के उद्धार के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं :—

कहाँ करुना-निधि केसव सोये ।
जागत नेक न जदपि बहुत बिधि भारत बासी रोये ।
इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारतहित बिसराये ।
इनके पसु गनै को आरत लखि आतुर प्यादे धाये ।।

× × ×

कहां गये सब शास्त्र कही जिन भारी महिमा गाई ।
भक्त-बछल करुना-निधि तुम कहँ गायो बहुत बनाई ।।
हाय सुनत नहिं निठुर भये क्यों परम दयाल कहाई ।
सब विधि बूड़त लखि निज देसहि लेहु न अबहु बचाई ।।

सभी अवसरों पर भारतेन्दु जी की दृष्टि देश पर ही रही है । काव्य, नाटक जो कुछ भी भारतेन्दु जी ने लिखा, सब में अवसर पा कर इन्होंने देश-भक्ति का विषय अवश्य रख दिया है । इन के सभी चरित्र तथा सभी रचनाएँ राष्ट्रीयता तथा देश-भक्ति के रंग में पूर्ण रूप से रंजित हैं । भारतेन्दु जी हिन्दी के प्रथम राष्ट्र कवि हैं ।

समाज-सुधार

भारतेन्दु जी के समय में सामाजिक तथा धार्मिक दशा भी दयनीय थी। सर्वत्र अनाचार तथा कुरीतियों का साम्राज्य था। धर्म के नाम पर ढोंग चल रहा था। धर्म के स्थान पर अनेक प्रकार की कुरीतियाँ अपना अड्डा बना रही थीं। बाल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध, छूआ छूत तथा अनेक प्रकार के अंध विश्वास अपनी जड़ जमा चुके थे।

भारतेन्दु जी समाज के ही प्राणी थे। इनका ध्यान समाज और धर्म की इन त्रुटियों की ओर गया। समाज की अवनति देख कर इन्हें मार्मिक वेदना हुई। इन्होंने इन समस्याओं पर मौलिक ढंग से विचार किया और सब को सुलझाने के सुझाव दिये।

भारतेन्दु जी ने समाज-सुधार के कार्य विशेष रूप से अपने समाचार पत्रों द्वारा किये। इनके कतिपय नाटकों में भी इन समस्याओं की ओर ध्यान दिया गया है तथा इन्हें सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में धार्मिक कुरीतियों की ओर भारतेन्दु ने जनता का ध्यान आकृष्ट किया है और इन्हें दूर करने की ओर संकेत किया है। 'प्रेम जोगिनी' में सामाजिक कुरीतियों को हटाने का प्रयत्न किया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में समाज सुधारकों के तीन दल थे—(१) प्राचीन पंथी सनातन, (२) वैदिक धर्म का पक्षपाती आर्यसमाज, तथा (३) अंग्रेजी सभ्यता का पक्षपाती ब्रह्म समाज। समाज सुधार की दिशा में आर्यसमाज और ब्रह्म समाज ने हिन्दू समाज की अमूल्य सेवा की। ब्रह्म समाज का प्रभाव विशेषतः बंगाल तक ही सीमित रहा परन्तु आर्य समाज का प्रभाव सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर पड़ा। भारतेन्दु जी ने समाज-सुधार के विषय में भी समन्वय वादी नीति अपनायी, यथा—

खंडन जग में काको कीजै।
सब मत तो अपने ही हैं इनको कहा उत्तर दीजै॥
नहिं मंदिर में नहिं पूजा में, नहिं घंटा की घोर में।
'हरिश्चन्द्र' वह बाँध्यों डोलत एक प्रीति की डोर में॥

भारतेन्दु जी स्त्री-शिक्षा के समर्थक थे। इन्होंने इस उद्देश्य से प्रेरित हो कर एक पत्रिका 'बाला-बोधिनी' के नाम से निकाली। समाज-सुधार के लिए इन्होंने अनेक प्रकार के लोक प्रिय गीतों की रचना की। ठुमरी, लावनी, नौटंकी के गीत, गजल आदि की रचना से इन्होंने इस दिशा में पर्याप्त कार्य किया। इन लोक प्रिय गीतों के द्वारा इनके सामाजिक विचारों का बहुत प्रचार हुआ जिससे समाज-सुधार के कार्यों में सहायता मिली।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति को ध्यान में रख कर कवियों की दो श्रेणियां की जाती हैं—(१) मानव प्रकृति के कवि और (२) मानवेतर प्रकृति के कवि। कुछ कवि मानव-प्रकृति का ही चित्रण करते हैं और अन्य कवि मानव प्रकृति के अतिरिक्त हमारे चतुर्दिक विस्तृत प्रकृति का

चित्रण करते हैं। भारतेन्दु जी मानव प्रकृति के ही कवि थे। मानवेतर प्रकृति के--जिसे सामान्यतः प्रकृति कहते हैं—कवि नहीं थे।

इस तथ्य का कारण यह है कि भारतेन्दु जी का प्रायः सम्पूर्ण जीवन नगर की उच्च अट्टालिकाओं के बीच व्यतीत हुआ। इन्हें प्रकृति के उन्मुक्त क्षेत्र में स्वच्छन्द विचरण करने का अवसर प्रायः नहीं मिला। इन्हें उद्यानादि से भी विशेष प्रेम नहीं था।

इसका फल यह हुआ कि भारतेन्दु जी का मन प्रकृति वर्णन में नहीं रमा। इन्होंने प्रकृति का चित्रण कम ही स्थलों पर किया है और जहां किया भी है वहां ये मानव-मन का ही विशेष विश्लेषण करने में रत हो गये हैं। इन्होंने प्रकृति को विशेषतः कार्य-कलाप की पूर्व पीठिका के रूप में ही देखा है।

भारतेन्दु ने प्रकृति का वर्णन दो ही तीन स्थलों पर किया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में गंगा का वर्णन मनोहर है किन्तु वह गंगा काशी के ऊँचे घाटों के नीचे से बहने वाली गंगा है, किसी वनस्थली से होकर स्वच्छन्द गति से बहने वाली गंगा नहीं। वहां भी मानव मन का ही वर्णन मुख्य हो गया है यथा—

नव उज्जल जल धार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद, मध्य मुक्ता मनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन, एक पै इक इमि आवत।
जिमि नरगन मन बिबिध मनोरथ करत मिटावत॥

'चन्द्रावली' नाटिका में यमुना का वर्णन किया गया है, किन्तु वहां भी नायिका की सखी के द्वारा उस पर पड़े प्रभाव का ही अलंकृत वर्णन मिलेगा—

कहूँ तीर पर अमल कमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवाल मध्य कुमुदिनी लगि रही पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत निज सोभा।
कै उमगे पिय-प्रिया प्रेम के अगनित गोभा॥

भारतेन्दु जी का प्रकृति वर्णन यथा-तथ्य चित्रण नहीं है। इनकी प्रकृति इनके नाटकों की पृष्ठ-भूमि के रूप में आई है। वर्णन सौंदर्यानुभूति के कारण नहीं है वरन् उसका उपयोग कुछ दूसरा ही है।

किन्तु इतना कहा जा सकता है कि रीति-काल में कवियों का सम्बन्ध प्रकृति से छूट-सा गया था और भारतेन्दु ने नवीन कवियों के लिए इस दिशा में भी अग्रदूत का कार्य किया। इनके प्रकृति-वर्णन से नये युग के कवियों को प्रेरणा मिली और बहुत से प्रकृति-विमुख कवि प्रकृति की ओर आकृष्ट हुए।

रस-निरूपण

भारतेन्दु जी रसिक प्रकृति के व्यक्ति थे। अपनी प्रकृति के अनुसार ही इन्होंने राधा-कृष्ण की प्रेम लीलाओं का वर्णन किया। यह वर्णन लौकिक शृंगार के भी अन्तर्गत

है और भक्ति भाव के भी अन्तर्गत। जो कविताएँ भक्ति भाव की हैं उनमें अधिकतर माधुर्य भक्ति की ही हैं। अतः वे भी रस की दृष्टि से शृंगार की ही रचनाएँ हैं। ये कविताएँ उसी प्रकार से शृंगार रस के अन्तर्गत आती हैं जिस प्रकार सूर, नंद तथा मीराँ की भक्ति-परक कविताएँ। ऐसी रचनाओं से पाठक को ईश्वर-प्रेम में प्रोत्साहन प्राप्त होता है।

रीति कालीन कवियों के सदृश भारतेन्दु जी ने लौकिक शृंगार की भी बहुत कविताएँ रची हैं। नायक नायिका के अनेक भेदों का वर्णन भारतेन्दु जी की कविता में हुआ है परन्तु कहीं भी अश्लीलता नहीं आने पाई है। इन्होंने अनेक प्रकार के उद्दीपनों का भी स्वतंत्र वर्णन किया है। इनकी अधिकतर शृंगारिक रचनाएँ आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव तथा संचारियों से पुष्ट हैं। कुछ ऐसी भी शृंगारिक रचनाएँ हैं जिनमें शास्त्रीय दृष्टि कोण नहीं अपनाया गया है और जो सामान्य शृंगार की कोटि में आती हैं। भावना और अनुभूति की दृष्टि से भारतेन्दु की शृंगारिक रचनाएँ रीति-कालीन रचनाओं से उत्तमतर हैं। इन्होंने शृंगार के दोनों पक्षों का सुन्दर वर्णन किया, विप्रलंभ शृंगार की सभी अन्तर्दशाओं का भी समावेश किया है।

भारतेन्दु जी का दूसरा प्रधान रस है शांत। इनकी भक्ति की अनेक रचनाओं में शांत रस ही मुख्य रूप से आया है। इनके नाटकों में वीर, रौद्र, करुण और बीभत्स रस भी दिखाये जा सकते हैं परन्तु इनके नाटकों की आलोचना हमारा प्रस्तुत विषय नहीं है।

भाषा-शैली

भारतेन्दु जी का उदय संक्रान्ति काल में हुआ था। रीति काल का अवसान तथा नवीन युग का प्रारम्भ हो रहा था। इन्होंने रीति काल की बहुत प्रवृत्तियां अपनायीं किन्तु भाषा में बहुत कुछ सुधार किया। भारतेन्दु जी समन्वयवादी थे और भाषा के विषय में भी इन्होंने अपने समन्वयवाद का परिचय दिया।

भारतेन्दु जी के पूर्व काव्य की भाषा व्रजभाषा थी। इन्होंने गद्य में खड़ी बोली का प्रयोग किया किन्तु कविता में व्रज-भाषा का स्थान अक्षुण्ण रहने दिया। कविता में भी इन्होंने खड़ी बोली का कुछ प्रयोग किया किन्तु अन्त में समझ लिया कि कविता के लिए खड़ी बोली उपयुक्त नहीं। व्रज-भाषा के पास शताब्दियों की अर्जित शक्ति थी, उसके प्रत्येक शब्द के साथ एक एक भाव-परम्परा संलग्न हो गई थी तथा निरंतर प्रयोग के कारण उसमें परिमार्जन आ गया था। ऐसी भाषा के समक्ष खड़ी बोली काव्य-भाषा के उपयुक्त नहीं जान पड़ी। अतः भारतेन्दु जी ने कविता के लिए व्रज-भाषा को ही चुना। इनके युग में किसी अन्य कवि ने भी खड़ी बोली में कविता नहीं लिखी।

अब हम इनकी काव्य-भाषा ब्रज-भाषा पर थोड़ा विचार करें। इनकी ब्रज-भाषा में निम्न-लिखित विशेषताएँ हैं :—

(१) भारतेन्दु जी की भाषा सरल, सरस, मधुर तथा परिमार्जित है। वह रीति-कालीन भाषा के दोषों से सर्वथा मुक्त है।

(२) भारतेन्दु ने ब्रज-भाषा में मे ऐसे शब्दों को निकाल दिया जो अभी तक काव्य में व्यवहृत हो रहे थे किन्तु जन साधारण की भाषा में जिनका व्यवहार बहुत पहले ही रुक गया था। ऐसे अप्रचलित शब्दों के उदाहरण हैं—भुवाल, ठायो, ऊनो, दीह आदि।

(३) भारतेन्दु जी ने भाषा में एक प्रकार से अन्य सुधार किया। इन्होंने शब्दों का तोड़ मरोड़ करना अच्छा नहीं समझा और न मन गढ़न्त शब्दों का प्रयोग किया। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का कथन है—"दूसरा दोष जो बढ़ते बढ़ते बहुत बुरी हद को पहुँच गया था, वह शब्दों का तोड़ मरोड़ और गढ़न्त के शब्दों का प्रयोग था। उन्होंने ऐसे शब्दों को भर सक अपनी कविता से दूर रखा और अपने रसीले सवैयों में जहां तक हो सका, बोल चाल की ब्रज भाषा का प्रयोग किया। इसीसे उनके जीवन काल में ही उनके सवैये चारो ओर सुनायी देने लगे।"[१]

(४) इनकी भाषा भाव के ही सदृश कोमल है। कहीं भी परुषता दिखायी नहीं देती। इन्होंने चमत्कार लाने का कहीं भी प्रयास नहीं किया है; कहीं कहीं अनुप्रास योजना का प्रयास भी किया है तो भाव की हत्या करके नहीं, भाव और भाषा की कोमलता के लिए निम्न लिखित पंक्तियां प्रसिद्ध हैं : -

रसमयी सरस रँगीली अँखियाँ मद सो भरीं।.
मुँदि मुँदि खुलत छकीं आलस सों ढुरि ढुरि जात ढरीं॥
झूमत झुकत रंग निचुरत मनु मैन मँजीठ परी।
'हरीचन्द' पिय छकत लखत ही सबहि भाँति निखरीं॥

'मधु मुकुल' की रचनाओं में पद-लालित्य अनूठा है। भाव, भाषा सब दृष्टियों से यह काव्य रास-पंचाध्यायी के सदृश है :

(५) भारतेन्दु की भाषा की एक विशेषता है वाग् वैचित्र्य। इनकी रचनाओं में प्राचीन कवियों की रमणीयता तो दृष्टि-गोचर होती है, नवीन युक्तियों का परिमार्जित रूप भी प्राप्त होता है।

(६) भारतेन्दु जी की अभिव्यंजना-शक्ति की प्रबलता के कारण इनकी भाषा में चित्रमयता आ गई है। उनकी अनेक पंक्तियां पढ़ते समय पाठक की आँखों के सामने उस दृश्य का चित्र अंकित हो जाता है। इनके शब्दों के उच्चारण मात्र से ऐसी ध्वनि निकलती है कि वह दृश्य प्रत्यक्ष हो जाता है। उदाहरण लीजिए—

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास।

कोउ गावत कोउ नाचत आवै कोऊ भाव बतावै।
कोउ मृदंग बीना सुर-मंडल ताल उपंग बजावै ॥

वास्तव में भारतेन्दु जी शब्दों की अन्तरात्मा को पूर्ण रूप से पहचानते थे।

(७) भारतेन्दु जी की भाषा में तत्सम, तद्भव, देशी तथा उर्दू शब्द वर्त्तमान हैं। उनका ध्यान भाषा में स्वाभाविकता लाने की ओर था। अब हम इनकी कविता में प्रयुक्त विभिन्न शब्दों का विश्लेषण करें।

(क) इनकी भाषा में प्रचलित तत्सम शब्द बहुलांश में हैं, यथा सुख, मदन, पर, अंग, बल आदि।

(ख) इनकी भाषा में तद्भव शब्दों की भी बड़ी संख्या है, यथा—कोस, नैनन, दरस सोगन, प्रान, गुनी आदि।

(ग) उर्दू के भी शब्द भारतेन्दु जी की भाषा में आये हैं परन्तु वे ही शब्द जो प्रचलन में आ गये हैं और उनके वे ही रूप जो साधारणत: हिन्दी-भाषी जनता बोलती है न कि जो उर्दू के विद्वान् प्रायः बोला करते हैं; यथा—नस, हवाले, नाराज (नाराज़ नहीं), ज्यादे (ज़्यादा नहीं-)।

(घ) ठेठ ग्रामीण शब्द भी इनकी भाषा में बहुत हैं और स्वाभाविकता बढ़ाने में बहुत सहायता करते हैं, जैसे—सौतुख, चबाव, हियाव, रूसना आदि।

(८) माधुर्य और प्रसाद भारतेन्दु जी की भाषा के विशेष गुण हैं। कोई भी पद या सवैया देखिये; उसमें ये दोनों गुण पर्याप्त मात्रा में मिलेंगे। शृंगार रस के अनुरूप माधुर्य गुण की ही स्थिति अपेक्षित भी है। माधुर्य और प्रसाद के उदाहरण ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं, कहीं भी प्राप्य हैं।

(९) भाषा को सजीव बनाने के लिए मुहावरों और कहावतों की आवश्यकता पड़ती है। भारतेन्दु जी जैसे निपुण कलाकार की भाषा में फिर कहावतों और मुहावरों का क्या अभाव हो सकता है? भारतेन्दु जी ने अपनी रचनाओं में इनका प्रचुर प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण देखिये।

(क) रूप दिखाइ के मोल लियो।
(ख) हाय सखी इन हाथन सों अपने पग आप कुठार मैं दीनी।
(ग) तउ लाल लाल परे रावरे दरस के।
(घ) रँग दूसरो और चढ़ैगो नहीं अलि साँवरो रंग रँग्यो सो रँग्यो।
(ङ) बिहरिहैं जग सिर पै दे पांव।
(च) नौ घरी भद्रा घरी में घर जरे।
(छ) कूप ही में ह्यां भंग परी है।
(ज) साँची कही कहावति वा अरी ऊँची दुकान की फीकी मिठाई।
(झ) रहे क्यों एक म्यान में असि दोय।

(१०) भारतेन्दु जी की भाषा में कहीं कहीं व्याकरण-सम्बन्धी कुछ त्रुटियाँ मिलती हैं ; जैसे-अधीरज मना, श्यामताई, कृपा किया। परन्तु भारतेन्दु के समय में अभी व्याकरण स्थिर नहीं हो पाया था और बहुत लोग इस प्रकार की भूलें कर दिया करते थे।

(११) उस समय रचना की जितनी शैलियाँ प्रचलित थीं, भारतेन्दु ने सब में कविता की है और सफलता के साथ सबका प्रयोग किया है। गेय पद, कवित्त, सवैया, दोहा, छप्पय कुण्डलियाँ, उर्दू की बहरें, गजल, कजली, होली, लावनी, इन्होंने सब कुछ लिखा है। उस समय जनता में ये शैलियां प्रचलित थीं औद इसी कारण भारतेन्दु जी की कविता इनके जीवन काल में ही इतनी लोक-प्रिय हो गई।

भारतेन्दु जी हिन्दी साहित्य में अमर हैं। हिन्दी को उन्होंने बहुत कुछ दिया। यह भी कहा जा सकता है कि आज हिन्दी का जो रूप है, वह बहुत अंशों में इन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप। इन्होने अपने पूर्ववर्ती कवियों से बहुत कुछ लिया। सूर, नन्द, मीराँ, घनानंद का प्रभाव भारतेन्दु पर स्पष्ट रूप से पड़ा है, परन्तु इन्होंने सर्वत्र से सामग्री लेकर अपना काव्य सुन्दरता से सजा दिया है; कहीं भी कोरा अनुकरण नहीं किया है। ३४-३५ वर्ष की ही आयु में भारतेन्दु अस्त हो गये किन्तु इनकी स्निग्ध चाँदनी आज भी हमारा मार्ग-प्रदर्शन कर रही है।

जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

जीवन-वृत्त

श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' का जन्म काशी में भाद्रपद शुक्ल पंचमी, संवत् १९२३ वि०, को हुआ था। ये अग्रवाल वैश्य थे। इनके पूर्वज पानीपत के रहने वाले और मुगल दरबार में उच्च - पदस्थ थे। कालान्तर में मुगल साम्राज्य अवनति की ओर अग्रसर हुआ और ये लोग पूर्व की ओर अग्रसर हो कर लखनऊ आये। रत्नाकर जी के प्रपितामह सेठ तुलाराम काशी आये और यहीं बस गये। रत्नाकर जी के पूर्वजों के पास अतुल सम्पत्ति थी किन्तु वह धीरे धीरे इन लोगों का साथ छोड़ रही थी। फिर भी सम्पत्ति का एक बड़ा अंश रत्नाकर जी के जीवन पर्यन्त बच रहा था।

रत्नकार जी के पिता बा० पुरुषोत्तम दास जी फारसी के अच्छे विद्वान् और काव्य-रसिक थे। हिन्दी से भी उनका बड़ा प्रेम था। उनके घर पर इन दोनों भाषाओं के कवियों का जमघट लगा रहता था। बा० पुरुषोत्तम जी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अभिन्न मित्रों में से थे और उनकी कवि-गोष्ठियों में प्रायः जाया करते थे। जगन्नाथ जी भी अपने पिता के साथ भारतेन्दु जी के पास जाते थे। इस प्रकार भारतेन्दु जी जैसे महान् प्रतिभाशाली साहित्यिक का सम्पर्क इन्हें सहज ही प्राप्त हो गया। साहित्य-प्रेम इन्हें उत्तराधिकार रूप में प्राप्त था; काव्य-प्रतिभा इनमें जन्म - जात थी। भारतेन्दु जैसे असाधारण पुरुष का सम्पर्क था ही; शिक्षा दीक्षा ने प्रतिभा को परिष्कृत तथा विकसित करने में अमूल्य योग दिया। इनकी जागरुक प्रतिभा देखकर भारतेन्दु ने भविष्यवाणी की थी, "जगन्नाथ हिन्दी का एक अच्छा कवि होगा।" यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुई।

रत्नाकर जी की शिक्षा काशी में ही हुई। इन्होंने १८६१ ई० में फारसी लेकर बी० ए० परीक्षा पास की। फारसी ही लेकर एम० ए० की भी परीक्षा देने की इनकी इच्छा थी, परन्तु कारणवश अपनी इच्छा को कार्य रूप में परिणत नहीं कर सके। फारसी और हिन्दी का इन्होंने गहरा अध्ययन किया और फारसी में 'ज़की' तखल्लुस (उपनाम) से कविता भी करते थे। किन्तु कुछ ही समय के अनन्तर व्रज भाषा की ओर इनका पूर्ण आकर्षण हुआ और इसी भाषा में 'रत्नाकर' उपनाम से कविता करने लगे। कवि-सम्मेलनों और कवि-गोष्ठियों के आयोजन में इनका मन बहुत लगने लगा।

इन्होंने दो वर्षों तक आवागढ़ रियासत में कोष-निरीक्षक के पद पर काम किया परन्तु जलवायु अनुकूल नहीं होने के कारण त्याग-पत्र देकर काशी चले आये और वहीं रहने लगे। सन् १६०२ ई० में ये अयोध्या-नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त हुए और १६०६ ई० में उनके निधन के उपरान्त उन्हीं की महारानी के प्राइवेट सेक्रेटरी हुए जिस पद पर जीवन-पर्यन्त बने रहे। ये जिस लगन और उत्साह से कविता के क्षेत्र में आये, उसी उत्साह से अधिक दिनों तक कार्य नहीं कर सके नहीं तो इन्होंने जितना लिखा उससे कहीं अधिक लिख सकते।

उस समय तक खड़ी बोली काव्य की भाषा बन चुकी थी। जो कवि पहले ब्रज-भाषा में कविता लिखते थे वे भी अब खड़ी बोली में लिखने लगे थे। परन्तु रत्नाकर जी ब्रज भाषा को अपनाये रहे। काशी में इन्होंने ब्रज भाषा के कवियों का एक मंडल ही तैयार कर लिया और उसीके तत्त्वावधान में ब्रज भाषा काव्य का परिशीलन होने लगा।

कुछ दिनों के व्यवधान के पश्चात् सन् १६२१–२२ में रत्नाकर जी पुनः काव्य-क्षेत्र में आये, किन्तु उस समय तक यह क्षेत्र छायावादियों से अत्यन्त प्रभावित हो चुका था। छायावाद के प्रतिक्रिया-स्वरूप इनमें ब्रज भाषा का प्रेम और भी प्रबल हो उठा और ये और भी उत्साह से ब्रज भाषा में ही रचना करने लगे। यहां तक कि इन्होंने वेश भूषा आदि को भी मध्ययुगीन ही रखा।

रत्नाकर जी ने ब्रज भाषा की उन्नति के लिए बहुत कुछ किया। प्रयाग में इन्हीं की प्रेरणा से 'रसिक मंडल' नाम का समाज स्थापित हुआ था जिसका मुख्य उद्देश्य ब्रज भाषा को आगे बढ़ाना था। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' को इन्होंने एक निधि दी जिससे उक्त सभा ने 'रत्नाकर-पुरस्कार' का प्रबन्ध किया। इन्होंने अपना सम्पूर्ण पुस्तकालय भी 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' को दान कर दिया।

जीवन के अन्तिम दिनों में इन्होंने 'सूर सागर' का प्रामाणिक संस्करण निकालने का प्रयत्न किया। इसके लिए इन्होंने कठिन परिश्रम किया तथा अधिक परिमाण में धन भी व्यय किया, किन्तु अचानक मृत्यु के कारण यह कार्य पूरा नहीं हो सका। इन्होंने 'बिहारी सतसई' की एक बहुत श्रेष्ठ टीका प्रस्तुत की। यह टीका प्रथम कोटि की समझी जाती है। संवत् १६८६ में होने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के अध्यक्ष ये ही चुने गये थे।

इस प्रकार साहित्य-सेवा करते हुए सं० १९८९, आषाढ़ कृष्ण ३, २१ जून १९३२, को हरद्वार में इनका देहावसान हुआ।

रत्नाकर जी प्राचीनता के प्रेमी थे। इनकी प्रवृत्ति मध्य-युगीन थी और इस नवीन युग में रह कर भी ये मध्ययुग के ही वातावरण में रहते थे। इनकी भाव-धारा भी मध्ययुग की थी और ये वैष्णव काव्य-धारा की परम्परा में आते हैं। इनकी भाषा और इनके विषय भी उसी युग के अनुकूल थे और इस युग की भाषा और भाव से इन्होंने अपने को असंपृक्त रखा। मध्ययुग के हिन्दी साहित्य में सूर और तुलसी ने जो धारा बहाई और जिसमें परवर्त्ती कवियों ने अवगाहन किया, उसी धारा में रत्नाकर भी निमग्न हैं। किन्तु सूर और तुलसी ने भागवत और वाल्मीकीय रामायण का आधार लेकर भी पर्याप्त मौलिकता दिखाई और हिन्दी-भाषी जनता को देने के लिए उनके पास नवीन संदेश था। किन्तु रत्नाकर जी के पास जीवन की ऐसी कोई नवीनता नहीं दिखाई पड़ती। इन के पास केवल उक्ति-वैचित्र्य, अलंकार और भाषा का चमत्कार ही मुख्य हैं। सूर और तुलसी के काव्य स्वयं ही हिन्दी के लिए शास्त्रीय बन गये और उन्होंने अनुवर्त्ती कवियों की एक शृंखला का निर्माण किया जिस शृंखला की अन्तिम कड़ी के रूप में रत्नाकर जी ही थे।

रचनाएँ

अन्य कार्यों में व्यस्त रहने पर भी रत्नाकर जी ने जो कुछ लिखा वह बहुत है। इनकी समस्त रचनाओं का जैसा सुन्दर संस्करण निकला है वैसा सुन्दर संस्करण हिन्दी के किसी अन्य कवि की रचनाओं का नहीं निकल सका। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से इनकी सम्पूर्ण रचनाओं का संग्रह 'रत्नाकर' नाम से निकला है।

रत्नाकर जी की निम्न-लिखित रचनाएँ हैं।

१ हिंडोला— यह कवि की प्रथम रचना है। इसमें राधा और कृष्ण के झूला झूलने का वर्णन है। यह प्रबन्ध काव्य के ढंग पर है। इसमें प्रकृति का मनोहर वर्णन है। संयोग शृंगार इसका प्रधान रस है।

२ समालोचनादर्श— यह अंग्रेज कवि पोप की कृति Essays on criticism का पद्य मय अनुवाद है।

३ हरिश्चन्द्र— यह एक खंड काव्य है और प्रसिद्ध पौराणिक राजा हरिश्चद्र की कथा पर आधारित है।

४ कल काशी— इसमें काशी की महिमा वर्णित है। यह अपूर्ण रचना है।

५ उद्धव शतक— यह ग्रन्थ उद्धव के ब्रज गमन का प्रसंग लेकर लिखा गया है। सूर तथा नन्ददास के भ्रमर गीतों के ही ढंग पर यह ग्रन्थ भी लिखा गया है। प्रसंग तथा रूप रेखा वे ही हैं। किन्तु कथानक का विकास तथा विलास कवि ने अपने ढंग पर किया है।

६ गंगावतरण— इस खंड काव्य में सगर के ६० हजार पुत्रों का कपिल मुनि के शाप-द्वारा भस्म होने, भगीरथ के प्रयत्नों के फल स्वरूप पृथ्वी पर गंगा के आने और सगर के पुत्रों के उद्धार की कथा वर्णित है।

७ शृंगार लहरी—ब्रज में रहते समय कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का वर्णन इस ग्रन्थ में है। यदि उद्धव-शतक को कृष्ण चरित का उत्तरार्द्ध माना जाय तो इस ग्रन्थ को पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। शृंगार में गोपियों के साथ कृष्ण का संयोग पक्ष वर्णित है।

८ गंगा विष्णु लहरी—इसमें गंगा और विष्णु के प्रति भक्ति-भाव प्रदर्शित है।

९ रत्नाष्टक—इसमें भिन्न भिन्न विषयों पर लिखे गये आठ आठ कवित्त हैं। शारदा, गणेश, कृष्ण आदि की स्तुति से लेकर षड्ऋतु वर्णन आदि इसके विषय हैं।

१० वीराष्टक—इसमें उन भारतीय वीरों और वीरांगनाओं का वर्णन प्रायः आठ आठ पद्यों में है जिन्होंने भारतीय जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं।

११ प्रकीर्ण पद्यावली— यह फुटकल पद्यों का संग्रह है।

इन मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त रत्नाकर ने बिहारी सतसई की प्रामाणिक एवं शोध-पूर्ण टीका प्रस्तुत की। यह बिहारी का सर्वाधिक प्रामाणिक संस्करण समझा जाता है तथा टीका की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट एवं बहुमूल्य है। रत्नाकर जी ने सूर सागर का प्रामाणिक संस्करण तैयार करना प्रारम्भ किया था परन्तु अचानक मृत्यु के कारण उसे पूरा नहीं कर सके।

काव्य-साधना

रत्नाकर जी वास्तव में कलाकार थे और कलाकार की दृष्टि से उन्होंने सब कुछ देखा। यद्यपि ये नवीन युग में उत्पन्न हुए थे, परन्तु इनकी भावना मध्य-युगीन थी और जिस विषय को इन्होंने उठाया उसपर अनेक पूर्ववर्त्ती कवियों ने बहुत कुछ कह दिया था। इनके पास कहने को कुछ नवीन नहीं था, ऐसी दशा में अभिव्यंजना की नवीन प्रणाली पर ही इनकी सफलता निर्भर करती थी। अतः उक्ति–वैचित्र्य पर ही रत्नाकर जी ने विशेष ध्यान दिया। मध्य युगीन भक्त कवियों के लिए कविता तो साधन मात्र थी; साध्य था अपनी भक्ति का प्रकाशन। किन्तु रत्नाकर जी के लिए कविता ही साध्य थी; कविता करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था।

रत्नाकर जी ने अपने काव्य का विषय विशुद्ध पौराणिक रखा। सूर, तुलसी तथा मीराँ के सदृश इनका भी विषय पौराणिक आख्यान ही है। किन्तु जहां प्राचीन भक्तों ने अपने काव्य में सच्ची भावुकता तथा गहरी अनुभूति का परिचय दिया वहां रत्नाकर ने उन्हीं भावों को नवीन वेश भूषा दे दी और नूतन वचन-भंगिमा के कारण उन्हें ओजः पूर्ण बना

दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि रत्नाकर जी रीति - कालीन कवियों की परम्परा में आते हैं। परन्तु कई बातों में ये रीति कालीन कवियों से भिन्न प्रतीत होते हैं।

(१) सर्व प्रथम हमारा ध्यान इस बात की ओर जाता है कि रीति काल के कवि दरबारी थे परन्तु रत्नाकर जी को दरबारी वातावरण से कोई सम्बन्ध नहीं था। रीति कालीन कवि अपने आश्रय-दाता सामन्तों की प्रसन्नता के लिए ही कविता रचते थे और यदि आश्रय दाता उनकी कविता से प्रसन्न हो जाते तो वे अपने काव्य की पूर्ण सफलता मानते थे। परन्तु रत्नाकर जी को किसी आश्रय-दाता को प्रसन्न करने की आवश्यकता नहीं थी। इनकी कविता पहले 'स्वान्तः सुखाय' थी और आगे चलकर 'सर्वान्तः सुखाय' हो गई। रत्नाकर जी को किसी सामन्त की प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता से कोई तात्पर्य नहीं था। इन्हें तो अपने हृदय की भावना को वाणी देनी थी।

(२) रत्नाकर जी को आचार्य बनने की आकांक्षा नहीं थी। यद्यपि अधिकतर रीति कालीन कवियों की अपेक्षा इनका अध्ययन अधिक गम्भीर था तथा इनमें उन कवियों की अपेक्षा अधिक प्रतिभा थी, परन्तु रत्नाकर जी ने अपने को आचार्यत्व से सर्वथा पृथक् रखा इसका बहुत कल्याण-प्रद परिणाम यह हुआ कि जो दोष रीति कालीन आचार्यों में आ गये हैं, वे रत्नाकर जी से अलग ही रहे।

(३) रीति कालीन कवियों ने अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए मुक्तक रचना को अधिक पसन्द किया। प्रायः सभी कवियों ने मुक्तक का ही सहारा लिया। परन्तु रत्नाकर ने प्रबन्ध काव्यों की रचना की। प्रबन्ध काव्यों में इनके गंगावतरण तथा हरिश्चन्द्र आते हैं। रत्नाकर ने अपने मुक्तक काव्य में भी प्रबन्धात्मकता का सुखद सन्मिश्रण किया है। उद्धव-शतक तथा शृंगार-लहरी ऐसी रचना के सुन्दर उदाहरण हैं।

(४) रीति काल के काव्य में प्रकृति-वर्णन का अभाव है। उस काव्य के कवियों में अधिकतर ने तो प्रकृति का वर्णन किया ही नहीं, किन्तु जिन लोगों ने किया भी उन्होंने प्रकृति का उद्दीपन रूप ही लिया अथवा केवल अलंकार-प्रदर्शन के लिए ही प्रकृति को ग्रहण किया। रत्नाकर जी ने प्रकृति का स्वतंत्र रूप ग्रहण किया और इनका प्रकृति-चित्रण बहुत सजीव, मनोरम तथा संश्लिष्ट है। हिंडोला, हरिश्चन्द्र, शृंगार-लहरी तथा गंगावतरण में प्रकृति के सुन्दर चित्र अंकित हैं। रत्नाष्टक में षड्ऋतु का मनोहर वर्णन दृष्टि-गोचर होता है।

(५) रीति काल के कवियों ने एकमात्र शृंगार रस में ही कविता रची है, कोई अन्य रस उनके काव्य में लगभग नहीं आ सका। किन्तु रत्नाकर ने अपने काव्य में शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों का भी समुचित समावेश किया है। इनके अनेक ग्रन्थों में वीर, रौद्र, भयानक बीभत्स तथा करुण रसों का मनोरम प्रयोग किया गया है। अकेले गंगावतरण में ही कई रसों का सफल प्रयोग है।

रत्नाकर जी हर तरह से मध्य युगीन थे। इसी शती में रह कर भी वे वेश-भूषा, रहन-सहन तथा मनोवृत्ति की दृष्टि से भी मध्य-युग के ही व्यक्ति थे। इनके काव्य के विषयों पर भी ध्यान देने से यही बात प्रमाणित होती है। इनकी वीरता की परिभाषा

भी सम्भवतः भूषण के ही काल की थी, इसीलिए वीराष्टक में इन्होंने तारा बाई और लक्ष्मी बाई तक को ही ग्रहण किया और किसी भी प्रकार अपने वीरों के अन्तर्गत आधुनिक युग के महान् वीरों—गांधी, तिलक आदि—की गणना नहीं कर सके।

रत्नाकर जी की रचनाओं को देखने से जान पड़ता है कि ये तत्कालीन आन्दोलनों तथा अन्य प्रमुख घटनाओं से सर्वथा तटस्थ रहे। इनके जीवन में कई विश्व व्यापी तथा देश व्यापी घटनाएँ हुईं, किन्तु किसी भी घटना से ये प्रभावित नहीं हुए। प्रथम विश्व युद्ध इनके जीवन काल की सम्भवतः सर्व प्रमुख विश्व व्यापी घटना है, उसका कोई भी प्रभाव रत्नाकर जी पर नहीं पड़ा। इनके समय में दो देश व्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन हुए जिनसे सभी देश-वासी किसी न किसी रूप में प्रभावित हुए और सभी भाषाओं के प्रायः सभी लेखकों तथा कवियों ने किसी न किसी प्रकार उनका उल्लेख अवश्य किया है; परन्तु रत्नाकर जी जैसे आँख और कान बन्द कर रहते हों। ये प्राचीन काल के सन्तों से भी बढ़ गये जिन्होंने तत्कालीन घटनाओं पर थोड़ा सा भी ध्यान नहीं दिया। रत्नाकर जी को ध्यान में रख कर जब हम भारतेन्दु तथा सत्य नारायण जी की प्रगति शीलता पर ध्यान देते हैं तो हमें महान् आश्चर्य होता है।

रत्नाकर जी की रचनाएँ मुख्यतः दो प्रकार की है— प्रबन्ध काव्य तथा मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्य में गंगावतरण तथा हरिश्चन्द्र हैं। गंगावतरण की रचना अयोध्या की महारानी के आदेश से हुई जिस पर प्रसन्न हो कर महारानी ने इनको पुरस्कार भी दिया। इस काव्य में सगर के ६० हजार पुत्रों का पाताल-प्रवेश, कपिल मुनि के शाप से उनका भस्म हो जाना तथा भगीरथ के प्रयत्नों से गंगा का आना और सगर-पुत्रों का उद्धार करना वर्णित है। हरिश्चन्द्र एक खंड काव्य है जिसमें सत्यवीर राजा हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा वर्णित है। रत्नाकर जी का सर्व - श्रेष्ठ और सर्व - प्रसिद्ध ग्रंथ उद्धव शतक है जिसे मुक्तक काव्य के साथ साथ प्रबन्ध काव्य भी कह सकते हैं। इस में वही कथानक है जो सूर और नन्ददास के भ्रमर गीतों में है किन्तु कवि ने इस में मौलिकता का भी सन्निवेश किया है।

प्रबन्ध काव्यों के अतिरिक्त रत्नाकर जी ने मुक्तक काव्य की भी रचना की है। इनमें प्रकृति का वर्णन बहुत कुछ हुआ है। समस्या-पूर्ति के भी कुछ छन्द हैं, परन्तु वे सुन्दर नहीं बन पड़े हैं।

भक्ति-भावना

अब हम रत्नाकर जी की भक्ति-भावना पर थोड़ा विचार करें। पहले ही प्रश्न उठता है कि क्या इनके भक्ति-सम्बन्धी उद्गार में भक्तोचित कोमलता है या नहीं। क्या इनकी भक्ति की रचनाएँ सच्चे अनुराग पर आधारित हैं? कुछ आलोचकों का विचार है कि रत्नाकर जी भक्तों की परम्परा में नहीं वरन् केवल रीति काल के कवियों की परम्परा में आते हैं। उनका तर्क है, "यदि सचमुच ही वह जबर्दस्त कृष्ण-भक्त होते तो अपने

आराध्य को छोड़ कर हरिश्चन्द्र या गंगावतरण को प्रबन्ध काव्य का विषय नहीं बनाते। किसी भी भक्त कवि ने ऐसा नहीं किया है। उद्धव शतक उन्होंने कुछ कृष्ण-भक्ति से प्रेरित होकर नहीं लिखा, बल्कि वह प्रसंग ही कुछ ऐसा मार्मिक और हृदय-ग्राही है कि किसी भी भावुक हृदय का उस ओर खिंच जाना स्वाभाविक है।"[१]

किन्तु दूसरे आलोचक रत्नाकर जी को भक्त मानते हैं। "कवि की भक्ति रस की रचनाओं में साम्प्रदायिक कट्टरता के दर्शन नहीं होते। कवि के उपास्य राधा-कृष्ण हैं। इन्हीं की लीलाओं के वर्णन अधिकांश भक्ति की कविताओं में प्राप्त होते हैं। हिंडोला तथा उद्धव शतक के विषय कृष्ण से ही सम्बन्ध रखते हैं; विष्णु लहरी कृष्णाष्टक आदि में विष्णु अथवा कृष्ण की भक्ति के उद्‌गारों के विषय हैं। सुदामा अष्टक, गजेन्द्र-मोक्ष अष्टक, द्रौपदी अष्टक आदि में भी कृष्ण के चरित्र अंकित करने का प्रयत्न है। इसी प्रकार विनय के अन्य कवित्तों में भी कृष्ण से विनति की गई है। गंगा पर गंगावतरण नामक सुन्दर प्रबन्ध काव्य के अतिरिक्त गंगा लहरी बनाई है तथा अनेक फुटकल रचनाओं में गंगा का गुण गान किया है। विष्णु के राम अवतार को भी अनेक रचनाओं का विषय बनाया गया है। इनके साथ ही अन्य देवताओं जैसे गणेश, सरस्वती, शंकर आदि पर भी सुन्दर रचनाएँ की गई हैं।"[२]

आलोचकों के इस प्रकार के कथन के उत्तर में शर्मा जी का तर्क है, "पर इस तरह जो बात रत्नाकर की उदारता के सम्बन्ध में कही जाती है, वही इस बात का प्रमाण है कि चूँकि वह किसी देव विशेष के उपासक नहीं हैं, इसीलिए सबों के प्रति उनकी समान श्रद्धा है।"[३]

मेरा विचार है कि रत्नाकर जी उस प्रकार के भक्त नहीं थे जिस प्रकार के भक्त सूर, तुलसी, मीराँ, रसखान अथवा हरिश्चन्द्र थे। मूलतः ये रीति काल की परम्परा के कवि थे और इनके काव्य का मुख्य उद्देश्य भक्ति-भाव का प्रकाशन नहीं प्रत्युत् श्रृंगारिक भावनाओं का अभिव्यंजन ही था। हिंडोला तथा श्रृंगार लहरी आदि ग्रंथों का मुख्य रस श्रृंगार ही है, भक्ति नहीं। किन्तु रत्नाकर जी के बहुत से कवित्त ऐसे हैं जिनमें भक्ति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इनकी कविता में श्रृंगार के बाद भक्ति का ही स्थान है। निम्न-लिखित पंक्तियों में रत्नाकर जी की भक्ति परिलक्षित होती है :—

ऐसो कछु बानक बनाइ दै विधाता जदि
तो पै गुनैं ताकी ताकि करुना अगाधा कै।
धाइ व्रज बीथिन अघाइ जमुना कै बारि
एकौ बार उमगि पुकरैं हम राधा कै॥

---

१ प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा।
२ पं० कृष्ण शंकर शुक्ल।
३ प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा।

रत्नाकर जी ने उपासना की परिधि के भीतर सेवक-सेव्य भाव माना है परन्तु प्रायः भक्त कवियों की रचनाओं में व्यावहारिक सेवक-सेव्य भाव के पीछे अद्वैतवाद भी चलता रहा है। रत्नाकर जी भी सिद्धान्ततः अद्वैत सिद्धान्त के समर्थक थे। निम्न-लिखित कवित्त द्रष्टव्य है :—

साधिहैं समाधि औ अराधिहैं न ज्ञान-ध्यान,
बाँधि हैं तिहारैं गुन प्रान मुकुलैहैं ना।
कहै रतनाकर रहैगो ह्वै तिहारे भृत्य,
दुरभर भार भरतार को भरैहैं ना॥
आपनी ही चिन्ता सौं न चैन चित रंच लहैं,
जगत निकाय कौ प्रपंच सिर लैहैं ना।
एकै पट नाधि साध सकल पुराइं अब,
हम तुम ह्वै कै घट घट में समैहैं ना॥

पर रत्नाकर जी उन अद्वैत वादियों में नहीं हैं जो संसार को मिथ्या मानते हैं। उनके अनुसार चराचर सृष्टि प्रभुमय है—

देखत तुम्हैं ना तो कहा है नैन देखत ये
सुनत तुम्हैं ना तौ ऽब स्रवन सुनैं कहा।
कहै रतनाकर न पावै जौ तिहारी बास
नासा तौ प्रसूननि सौं ललकि लुनै कहा।
तेरे बिनु काकौ रस रसना लहति यह
परसन माँहि त्वक अपर चुनै कहा।
कोऊ धुनै ज्ञान की कहानी मनमानी बैठि
अलख लखैयनि कौं हम पै गुनैं कहा॥

रत्नाकर जी ने अपनी भक्ति-भावना को पुष्ट करने के लिए भगवान् के सुन्दर रूप का वर्णन किया है। गोलोक स्थित युगल बिहारी के रूप की झाँकी देखिए—

नील पीत अभिराम बसन द्युति-धाम धराए।
मनहु एक कौ रंग एक निज अंग अँगाए।
निज निज-रुचि-अनुहार धरे दोउ दिव्य विभूषन।
जो तन-द्युति की दमक पाइ चकमत ज्यौं पूषन॥

यहाँ भगवान् का स्वरूप भक्ति का आलम्बन है।

प्रिय के सम्पर्क में रहने के कारण उसकी प्रत्येक वस्तु से प्रेमी को मोह हो जाना स्वाभाविक है। रत्नाकर जी को ब्रज भूमि के प्रति अनन्य अनुराग है। उनके ब्रजवासी ब्रज छोड़ कर कृष्ण से भी मिलने मथुरा भी नहीं जाना चाहते :—

जद्यपि न दूरि मधु पुरि कछु श्रीवन तैं
अरग न तौहूँ एक परग सिधैहैं हम।

कहै रतनाकर वियोग-ज्वाल - जालनि मैं
जरि बस बृंदाबन-रज मैं बिलैहै हम ।।
तन की कहै मन प्रान आतमा हूँ सबै
याही के कनूका पै तिनूका लौं लुटैहैं हम।
जौ हूँ ब्रजवासी प्रेम पद्धति उपासी तऊ
अन्य धाम स्याम हूँ सौं मिलन न जैहैं हम ।।

वास्तविक सौन्दर्य के वाह्य तथा आभ्यन्तर दो स्वरूप होते हैं। आभ्यन्तर सौन्दर्य को शील कहते हैं। भगवान् का वाह्य सौन्दर्य तो भक्तों को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, किन्तु आभ्यन्तर सौन्दर्य भी भावुकों को अत्यन्त ही प्रभावित करता है। भक्त-वत्सलता शील के ही अन्तर्गत आती है। अपने भक्तों की आर्त्त पुकार सुन कर भगवान् किस प्रकार व्यग्र हो जाते हैं निम्न-लिखित कवित्त में देखिए।

सेद-कन सारत संभारत उसास हू न,
बास हू बदलि पट नील कँधियाए हौ।
कहै रतनाकर पछाए पच्छिनायक की,
पढ़त पुकार हू कैं पार अगुवाए हौ ।।
बाएँ पंचजन्य जात बाजत बजाएँ बिना,
दाएँ चकरात चक्र बेग यौं बढ़ाए हौ ।।
कौन जन कातर गुहार लगिबे कैं काज,
आज इमि आतुर गुपाल उठि धाए हौ ।।

गजराज की करुण दशा देख कर भगवान् की दशा देखिए :—

पच्छी पति पौन चंचला सौं चख चंचल सौं,
चित्त हूँ सौं चौगुने चपल चलि राह मैं।
बारन उबारि दसा दारुन बिलोकि तासु
हुचकन लागे आप करुना-प्रवाह मैं ।।

वैष्णव भक्तों का विश्वास है कि भक्तों का कल्याण भगवान् के अनुग्रह पर ही निर्भर रहता है। भगवान् का अनुग्रह तो भक्त का एक-मात्र आधार है। परन्तु जब भक्त व्रत नियम आदि का पालन करेगा तो भगवान् के अनुग्रह का पात्र हो ही जायगा। इसमें भगवान् का क्या निहोरा ? वह कृपा तो सकारण होगी। भक्त तो चाहता है कि भगवान् की अकारण कृपा प्राप्त हो। इसीलिए दुःख पड़ने पर भी वह राधा और कृष्ण को नहीं पुकारता :—

दुख हू परे पै ना पुकारत गुपाल तुम्हैं,
कबहूँ उचारत उसास भरि राधा ना।
कहै रतनाकर न प्रेम अवराधैं रंच,
नेम व्रत संजम हूं साधैं करि साधा ना ।।

याही भावना मैं रहैं भभरि भुलाने कहूँ,
उभरि करेंजौं परै करुना अगाधा ना ।
अकथ अनंद जो अकारन कृपा कौ नाथ,
हाथ करिबै मैं तुम्हैं ताहि परैं बाधा ना ॥

भक्त अपने को सबसे बड़ा पापी समझता है। "भक्तों की नाईं रत्नाकर ने न तो अपने कर्मों पर पश्चात्ताप ही किया है, न अपने को 'व्याध, गणिका, गीध, अजामिल' से बढ़ कर पापी ही ठहराया है।"१

परन्तु निम्न-लिखित कवित्तों में देखिए कि रत्नाकर अपने को कितना बड़ा पापी ठहरा रहे हैं। वे पापियों को यमराज के यहां सिखा कर भेज रहे हैं कि वे यमराज से कहें कि सबसे पहले हमारे सरदार 'रत्नाकर' के पापों पर विचार हो। पापियों के सरदार के पापों की गणना होते होते युगों की अनेक चौकड़ियां बीत जायँगी। बस पापियों के पाप की जाँच का समय ही नहीं आ पायगा।

एहो बीर पातकी अधीर जनि होहु सुनौ
यह तदबीर भीर रावरी भजावैगी।
भाषैं यहै आगैं हू अभागे हम सौं जो जाहिं,
याही एक बात घात सकल बनावैगी ॥
पहिलै हमारे सरदार रतनाकर की,
पातक अपार परतार पार पावैगी।
जैहैं बस चौकड़ी अनेक जुगवारी बीति,
पारी फेरि जाँच की तिहारी नाहिं आवैगी ॥

आधुनिक विधान के अनुसार ये संशय का लाभ (Benefit of doubt) भी उठाना चाहते हैं। उस समय तक—

केते मनु अन्तर निरंतर व्यतीत ह्वै हैं,
केती चित्रगुप्त जम औधि उठि जाइगी।
कहै रतनाकर खुल्यौं जो पाप खाता मम,
तौ गनि बिधाता हू की आयु खुटि जाइगी ॥
जैहैं बाँचि बूझि अब की ना लिपि भाषा नैंकु,
औरे पाप पुन्य परिभाषा जुटि जाइगी।
लाहु लहि संसय कौ संसय बिना ही बस,
पापिनि की मंडली अदंड छुटि जाइगी ॥

भक्त ढिठाई से पूछता है कि यदि पाप और पुण्य के ही अनुसार फल मिलता है तो आप सर्वशक्तिमान किस बात के लिए ?

---

१ प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा।

भाग अरु कर्म ही कौ धर्म राखिबौ जौ हुतौ,
तो पै धरी सीस सर्व सक्तिताई क्यौं।
जो पै रावरी कृपा मैं ना समाई हुती,
ऐती ठकुराई ठानि ठसक बढ़ाई क्यौं॥

भक्त अपनी कामना को एक युक्ति से सिद्ध करना चाहता है। वह समझता है कि उसके पाप इतने अधिक हैं कि वह अपने सम्पूर्ण पापों को लेकर यमलोक में समा नहीं सकता और उसके स्वर्ग जाने का प्रश्न हीं नहीं उठता क्योंकि वहां तो केवल धर्मात्मा हीं जाते हैं और वह ठहरा प्रचंड पापी। इसलिए भक्त कहता है कि यही उचित होगा कि जब तक मेरे योग्य कोई नया लोक नहीं बन जाता तब तक मैं आपके ही द्वार पर अमानत के रूप में पड़ा रहूं।

जाउँ जम गाउँ जौ समेत अपराधनि के,
तो पै तिहिं ठाउँ ना समाउँ उबर्‌यौ रहौं।
कहै रतनाकर पठावौ अधनासि जु पै,
तो पै तहाँ जाइबे की जोगता हर्‌यौ रहौं॥
सुकृत बिना तौ सुरपुर मैं प्रवेश नाहिं,
पर तिन तैं तौ नित दूर ही टर्‌यौ रहौं।
तातैं नयौ जौ लौं ना निवास निरमान होइ,
तौ लौं तव द्वार पै अमानत पर्‌यौ रहौं॥

इन कवित्तों से स्पष्ट हो जाता है कि रत्नाकर जी ने अपने को सब से बड़ा पापी ठहराया है। ये किसी सम्प्रदाय के भक्त नहीं थे परन्तु इनमें भक्ति-भावना का अभाव नहीं। इनकी भक्ति मुख्यतः दास्य भाव की है।

शृंगार-भावना

रत्नाकर जी की शृंगार भावना के मूल में दो तथ्य हैं, एक है रति भाव की व्यापकता तथा दूसरा है रीति काव्य की परम्परा। रति भाव सृष्टि के मूल में है। उसके बिना सृष्टि की स्थिति ही सम्भव नहीं। इसीलिए भक्तों ने भी अपनी कविता में शृंगार रस का इतना समावेश कराया है। शृंगार के मूल में रति है जिसका अर्थ प्रेम होता है।

मुक्तक काव्य में कवि प्रेमी और प्रेमिका को स्वच्छन्द और उन्मुक्त हो कर प्रेम करने का अवसर देता है! मुक्तक के प्रेमी किसी प्रकार के प्रतिबन्धों को स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं होते। रत्नाकर जी भी मुक्तकों की इसी प्रणाली पर अग्रसर हुए हैं। इस प्रकार के संकेत सूत्र इस कवित्त में देख सकते हैं।

अब न हमारौ मन मानत मनाएँ नैंकु,
टेक करि बापुरौ विवेक नखि लेन देहु।

कहै रतनाकर सुधाकर-सुधा कौं धाइ;
तृषित चकोरनि अघाई चखि लेन देहु ॥
संक गुरु लोगनि के बंक तकिबे की तजि,
अंक भरि सिगरौ कलंक सखि लेन देहु ।
लाज कुल कानि के समाज पर गाज गेरि ।
आज ब्रजराज की लुनाई लखि लेन देहु ॥

दो हृदयों में प्रेम की सरसता का स्वाभाविक उदय निम्न-लिखित कवित्त में सुन्दर ढंग से दिखाया गया है :—

आवन लगी है दिन द्वैक तैं हमारैं धाम
रहै बिनु काम जाम जाम अरुझाई है ।
कहै रतनाकर खिलौननि सम्हारि राखि
बार बार जननी चितावत कन्हाई है ॥
देखीं सुनी ग्वारिनि किंतेक ब्रज वारिनि पै
राधा सी न और अभिहारिनि लखाई है ।
हेरत ही हेरत हर्यौ तो है हमारौ कछू
काह धौं हिरानौ पै न परत जनाई है ॥

रत्नाकर जी के श्रृंगार में रीति कालीन कवियों के सदृश स्थूलता की अतिशयता नहीं है और न घनानंद के श्रृंगार की सूक्ष्मता ही । इनका श्रृंगार दोनों छोरों के बीच में आता है अर्थात् न बहुत अधिक स्थूल और न बहुत अधिक सूक्ष्म । इनका श्रृंगार अधिकांश कवियों की अपेक्षा संयत और शिष्ट है । इसमें नग्नता का अभाव है ।

कोई गोपिका अपनी सखी से रात्रि को बढ़ा देने की प्रार्थना करती है क्योंकि आज रात्रि में कृष्ण मिलने वाले हैं :—

आज बड़े भागनि मिलैंगे ब्रज राज आइ
साज सुख सम्पति के सिगरे सजाइ दै ।
कहै रतनाकर हमारे अभिलाष लाख
रजनी रंचक ताहि सजनी बढ़ाइ दै ॥

रत्नाकर जी ने अपने श्रृंगार-वर्णन में हावों और अनुभावों का विशेष चित्रण किया । हाव और अनुभाव इन्हें विशेष प्रिय जान पड़ते हैं । इसका तात्पर्य है कि इनकी पर्यवेक्षण शक्ति बहुत सूक्ष्म है । हाव का एक उदाहरण देखा जाय :—

गूँथन गुपाल बैठे बेनी बनिता की आप,
हरित लतानि कुंज माहिं सुख पाइ कै ।
कहै रतनाकर सँवारि बिरवारि बार,
बार बार बिहँस बिलोकत बिकाइ कै ॥

लाइ उर लेत कबौं फेरि गहि छोर लखैं,
ऐसे रही ख्यालनि मैं लालन लुभाइ कै ।
कान्ह-गति जानि कै सुजान मन मोद मानि,
करत कहा हौ कह्यौ मुरि मुसुकाइ कै ॥

कंप, स्वेद आदि सात्त्विकों की योजना बड़ी कुशलता से की गई है। कंप तथा विवर्णता की एक योजना देखिए :—

काहू मिस आजु नंद-मंदिर गुबिंद आगैं,
लेतहिं तिहारौ नाम धाम रस पूर कौ ।
सुनि सकुचाइ लगे जदपि सराहन से,
देखि कला करत कपोत अति दूर कौ ।
मृग-मद-बिंदु तऊ चटक दुचंद भयौ,
मंद भयौ खौर हरिचंदन कपूर कौ ।
थहरन लागे कल कुंडल कपोलनि पैं,
छहरन लाग्यौ सीस मुकुट मयूर कौ ॥

अनुभावों का एक सुन्दर उदाहरण देखिए :—

सुनि सुनि ऊधव की अकह कहानी कान,
कोऊ थहरानी, कोऊ थानहिं थिरानी हैं ।
कहै रतनाकर रिसानी, बररानी कोऊ,
कोऊ बिलखानी, बिकलानी, बिथकानी हैं ॥
कोऊ सेद-सानी, कोऊ भरि दृग पानी रहीं,
कोऊ घूमि घूमि परीं भूमि मुरझानी हैं ।
कोऊ स्याम स्याम कै बहकि बिललानी कोऊ,
कोमल करैजो थामि सहमि सुखानी हैं ॥

रत्नाकर ने शृंगार के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों का मार्मिक चित्रण किया है। संयोग शृंगार का वर्णन विशेष रूप से हिंडोला तथा शृंगार-लहरी में और वियोग शृंगार का मार्मिक चित्रण उद्धव-शतक में हुआ है। विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत षट् ऋतु का वर्णन भी परम्परा से होता आया है। रत्नाकर जी ने इस परम्परा का भी पालन किया है। निम्न-लिखित कवित्त में हेमन्त का वर्णन विरह के विषाद की व्यंजना करने के लिए हुआ है।

रीते परे सकल निषंग कुसुमायुध के,
दूरे दूरे कान्ह यै न तातैं चलै चारौ है ।
कहै रतनाकर बिहाय बर मानस कौं,
लीन्यौ है हुलास हंस बास दुरिवारौ है ॥

पाला परै आस पै न भावत बतास बारि
जात कुम्हिलात हियौ कमल हमारौ है।
षट ऋतु ह्वै है कहूं अनत दिगंतनि मैं,
इत तौ हेमन्त कौ निरन्तर पसारौ है ॥

उद्धव-शतक

भ्रमर गीत की परम्परा एवं उद्धव-शतकः—

उद्धव-शतक रत्नाकर जी की कृतियों में सर्वश्रेष्ठ है। विषय एवं कथावस्तु की दृष्टि से यह सूर के भ्रमर गीत तथा नंद दास के भवँर गीत की परम्परा में आता है। इसका भी आधार भागवत पुराण ही है। यह प्रसंग इतना मार्मिक है कि अनेक कवियों ने इस विषय पर अपनी काव्य-प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। हिन्दी साहित्य में भ्रमर गीत की परम्परा ही चल पड़ी जिसकी अन्तिम कड़ी उद्धव-शतक है। रीति कालीन कवियों के सम्मुख इतना मार्मिक प्रसंग पड़ा था, किन्तु उन लोगों ने इसका उपयोग नहीं किया। किन्तु रत्नाकर ने इस प्रसंग की मार्मिकता पहचानी और इसका पूरा उपयोग किया। इन्होंने उद्धव शतक में सूर के भ्रमर गीत तथा भागवत के भाव ग्रहण करने के अतिरिक्त अपना मौलिक भी कुछ दिया है।

रत्नाकर ने अपने काव्य का नाम भ्रमर गीत नहीं रख कर उद्धव शतक रखा। इसका कारण यह है कि सूर और नंद के समान इन्होंने अपने काव्य में भ्रमर का आगमन नहीं दिखाया है। उद्धव शतक में केवल उद्धव और गोपियों में वार्त्तालाप दिखाया है, भ्रमर का कहीं उल्लेख नहीं है। अतः उद्धव शतक नाम सार्थक एवं साभिप्राय हैं।

कथावस्तु एवं उसकी समीक्षा:—

एक दिन कृष्ण अपने अंतरंग सखा उद्धव के साथ यमुना में स्नान करने जाते हैं। वहां जल की धारा में उन्हें एक मुरझाया कमल बहता हुआ दिखाई देता है। वे उसे पकड़ कर सूँघते हैं। उसे सूँघते ही उन्हें राधा की याद आ जाती है और वे अपनी सुध बुध खो देते हैं। इसी बीच पंजरस्थ शुक 'राधा राधा' पुकार उठता है। राधा का नाम सुनते ही कृष्ण की व्यग्रता अधिक तीव्र हो जाती है। उनका मुख पीला पड़ जाता है और आँखों से अजस्र अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है। यह दशा देख कर उद्धव उन्हें बहुत समझाते हैं, परन्तु कृष्ण पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कृष्ण अपना संदेश व्रज में भेजना चाहते हैं और विवश हो कर उद्धव को कृष्ण का संदेश लेकर व्रज जाना पड़ता हैं। अपने ज्ञान के गर्व से पूर्ण उद्धव व्रज पहुंचते हैं। वहां पहुंचते ही गोपियां उन्हें चारों ओर से घेर कर कृष्ण का समाचार पूछने लगती हैं। समाचार कहने के पश्चात् उद्धव उन्हें निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने लगते हैं। इस उपदेश का प्रभाव गोपियों पर कुछ भी नहीं पड़ता प्रत्युत् गोपियों का अनन्य प्रेम देख कर उद्धव अपना सारा

ज्ञान भूल जाते हैं और स्वयं प्रेम के रंग में पूर्ण रूप से रँग जाते हैं। मथुरा लौटने पर कृष्ण के सामने उनके मुख से बोली नहीं निकलती, मुख ही नहीं खुल पाता। किसी किसी प्रकार गोपियों की प्रेम-कथा कृष्ण को सुनाते हैं। इस प्रकार ज्ञान पर प्रेम की विजय होती है।

उद्धव-शतक के कथानक में निम्न-लिखित त्रुटियां दिखाई देती हैं:—

(१) गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में अपने को भूल गई थीं, वे कृष्ण-मय हो रही थीं। किन्तु उद्धव-शतक के कथानक में कृष्ण ऐसी प्रेम-परायणा गोपियों को भूल गये हैं। यह अस्वाभाविक है।

(२) कमल का फूल सूँघ लेने पर अचानक राधा की याद आना भी कम अस्वाभाविक नहीं है। यदि कृष्ण यमुना में स्नान करने नहीं जाते और कमल का फूल नहीं सूँघते तो शायद राधा की याद कभी नहीं आती।

(३) इसी बीच पंजरस्थ शुक का 'राधा राधा' पुकारना भी अस्वाभाविक है। ऐसा जान पड़ता है कि घटनाओं की शृंखला जान बूझ कर जोड़ी गई है। उसी समय उस शुक को भी राधा का नाम लेना था।

(४) कृष्ण को व्रज, राधा और गोपियों की याद बिल्कुल नहीं थी परन्तु अब अचानक उनकी याद आई तो कृष्ण की दशा दयनीय हो गई। उनका मुख विवर्ण हो गया, आँखों से अश्रुधारा बहने लगी और वे अचेत से हो गये और

आये भुज बंध दिये ऊधव सखा के कंध
डगमग पाय मग धरत धराये हैं।
कहै रत्नाकर न बूझैं कछु बोलत औ
खोलत न नैन हूं अचैन चित छाये हैं।

स्मरण और विस्मरण दोनों दो छोरों पर हैं। सूरदास और नंद दास के काव्यों में यह अस्वाभाविकता नहीं आ सकी है।

(५) उद्धव अपनी बात गोपियों से लगातार एक साँस में कह जाते हैं, बीच में कोई व्यवधान नहीं पड़ता। फिर जब गोपियां कहना आरम्भ करती हैं तो रुकने का नाम नहीं लेतीं और अपनी सम्पूर्ण विरह-कथा सुना कर ही दम लेती हैं। इस बीच उद्धव चुप चाप सुनते रहते हैं। यह भी अस्वाभाविक है। नंद दास के भवँरगीत में कथोपकथन की शैली अपनायी गई है, अतः उसमें यह अस्वाभाविकता नहीं आई है। यह दोष सूरदास में भी है परन्तु भावना की गम्भीरता के कारण वहां कुछ अंश में छिप जाता है।

(६) गोपियों की करुण कहानी सुन कर उद्धव बिना एक शब्द बोले मथुरा लौट पड़ते हैं। यह भी अस्वाभाविक है।

(७) उद्धव पर गोपियों की करुण कथा का अतिशय प्रभाव दिखाने के लिए रत्नाकर ने मथुरा के रास्ते में उद्धव को रथ पर से उतार कर धूलि में लोटवाया है। यह भी अस्वाभाविक है। धूलि में लोटवाये बिना भी भक्ति का प्रभाव दिखाया जा सकता था।

इस प्रकार कथानक के आदि, मध्य और अन्त में कुछ त्रुटियां आ गई हैं। इन त्रुटियों के आने का मुख्य कारण यह है कि रत्नाकर जी ने प्राचीन कथानक में मौलिकता लाने का प्रयास किया है। इन त्रुटियों पर यदि ध्यान नहीं दिया जाय तो उद्धव-शतक एक बहुत सफल रचना है।

काव्य का स्वरूप:—

उद्धव शतक में प्रबन्ध काव्य और मुक्तक का सुन्दर समन्वय किया गया है। इस में एक कथानक भी चलता है जिसका उचित निर्वाह किया गया है। साथ ही इस काव्य का प्रत्येक कवित्त स्वतंत्र भी है। हम प्रत्येक कबित्त पढ़ते जाते हैं और हमारे मस्तिष्क में एक चित्र अंकित होता चलता है। इसे प्रबन्धात्मक मुक्तक काव्य कह सकते हैं।

दार्शनिक विचार:—

कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी सभी काव्य ग्रन्थों का आधार श्रीमद्भागवत पुराण ही है। सूर, नंद तथा अन्य कृष्ण-भक्तों ने उसी उपजीव्य काव्य का आश्रय लिया है। सभी के दार्शनिक सिद्धान्त भी प्रायः एक से ही हैं। रत्नाकर के भी दार्शनिक विचार प्राचीन ही हैं। उद्धव और गोपियों के बीच ज्ञान और भक्ति के विषय में जो वार्तालाप हुआ है, उसमें रत्नाकर ने अपने दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति की है।

आरम्भ में ही उद्धव ने कृष्ण को ज्ञान का उपदेश दिया है 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' ब्रह्म ही यथार्थ है और संसार स्वप्न के सदृश असत्य है। उन्होंने अद्वैतवाद के सिद्धान्त का निरूपण किया—

गोपिनि मैं, आप मैं, वियोग औ सँजोग हू मैं
एकै भाव चाहिए सचोप ठहरायौ है।
आपु ही सौं आपु कौ मिलाप औ बिछोह कहां
मोह यह मिथ्या सुख दुख सब ठायौ है॥

किन्तु गोकुल के मार्ग में ही उद्धव के ज्ञान की गठरी ढीली पड़ जाती है:—

ग्यान-गठरी की गाँठि छरकि न जान्यौ कब
हरैं हरैं पूँजी सब सरकि कछार मैं।
डाल मैं तमालनि की कछु बिरमानी अरु
कछु अरुझानी है कछीरनि की झार मैं॥

गोपियों की दशा देख कर ही उनके नीरस मन में प्रेम और भक्ति की लहरें उठने लगती हैं। गोकुल जाकर गोपियों के सामने वे अपने ज्ञान का प्रकाश फैलाना चाहते हैं और निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देना आरम्भ करते हैं। यहीं से दार्शनिक भावों का समावेश हो जाता है।

योग के द्वारा अन्तर्दृष्टि से देखने पर भगवान् कृष्ण का संयोग मिल जाता है। मोह के कारण गोपियां को भगवान् कृष्ण दृष्टि-गोचर नहीं होते किन्तु वास्तव में वे सब के अन्तर में विराजमान हैं। माया के प्रपंच के कारण सच्चिदानन्द का वह रूप अपने

वास्तविक रूप में प्रकट नहीं होता। अनेक वस्तुओं में सर्वत्र ही उसी ब्रह्म का रूप है जो भ्रम के पटल के कारण दृष्टि-गत नहीं होता :—

पंच तत्त्व मैं जो सच्चिदानन्द की सत्ता सो तौ
हम तुम उन मैं समान ही समोई है।
कहै रतनाकर विभूति पंच-भूत हू की
एक ही सी सकल प्रभूतनि मैं पोई है ॥
माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै
काँच-फलकनि ज्यौं अनेक एक सोई है।
देखौ भ्रम-पटल उघारि ज्ञान आँखिन सौं
कान्ह सब ही मैं कान्ह ही मैं सब कोई है ॥

उद्धव अपने अद्वैतवादी दर्शन की और भी व्याख्या करते हैं—

सोई कान्ह सोई तुम सोई सब ही हैं लखौ
घट-घट-अन्तर अनंत स्याम घन कौं।
कहै रतनाकर न भेद भावना सौं भरो
बारिधि औ बूँद के विचारि बिछुरन कौं ॥

इस प्रकार उद्धव गोपियों को योग द्वारा अन्तर्यामी भगवान् से मिलने का उपदेश देते हैं।

गोपियां दर्शन के सूक्ष्म सिद्धान्त नहीं जानतीं। वे सीधा सादा उत्तर देती हैं। निर्गुणोपासना के विरोध में उनका तर्क व्यावहारिकता के आधार पर स्थित है। लोक-व्यवहार से परे जो ब्रह्म है, उससे गोपियों का काम कैसे चल सकता है!

कर-बिनु कैसे गाय दुहिहै हमारी वह
पद-बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाइहै।
कहै रतनाकर बदन-बिनु कैसे चाखि
माखन बजाइ बेनु गोधन गवाइहै ॥
देखि सुनि कैसे दृग-स्रवन बिना ही हाय
भोरे ब्रज बासिनि की बिपति बराइहै।
रावरो अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म
ऊधौ कहौ कौन धौं हमारे काम आइहै ॥

हठयोग के द्वारा शरीर में जो परिवर्त्तन होते हैं, गोपियां उन्हें अच्छा नहीं समझतीं। उन्हें तो कृष्ण के लिए अपने शरीर की सुन्दरता की रक्षा करनी है। ब्रह्म को अगोचर बता कर उद्धव उनका ध्यान करने को गोपियों से कहते हैं। गोपियां इसे केवल प्रलाप समझती हैं। जो ब्रह्म इतने बड़े दृश्य जगत् में दिखाई नहीं पड़ा उसे त्रिकुटी में कैसे देखा जा सकता है!

रूप-रस-हीन जाहि निपट निरूप चुके
ताको रूप ध्याइबो औ रस चखिबौ कहौ ।
एते बड़े विस्व माहिं हेरैं हूँ न पैये जाहि
ताहि त्रिकुटी मैं नैन मूँदि लखिबौ कहौ ॥

उद्धव ने जगत् को स्वप्न बताया है। किन्तु गोपियों को तो जगत् सत्य प्रतीत होता है। उद्धव को यह स्वप्न सा लगता है, इससे जान पड़ता है कि वे सो रहे हैं। फिर स्वप्न में बकने वाले व्यक्ति की बातों पर कौन विश्वास करे?

जग सपनौ सौ सब परत दिखाई तुम्हें
तातैं तुम ऊधो हमैं सोवत लखात हौ ।
कहै रतनाकर सुनै को बात सोवत को
जोई मुँह आवत सो बिबस बयात हौ ॥

उद्धव ब्रह्म तथा जीव का एकत्व प्रतिपादित करते हैं। गोपियां इसे पसन्द नहीं करतीं। यदि ब्रह्म और जीव में एकात्म-भाव हो भी तो भक्त को इससे क्या लाभ? आनंदानुभूति के लिए द्वैत भाव की आवश्यकता होती है। यदि जीव ब्रह्म में मिल ही जाय तो आनन्द का अनुभव कौन करेगा? गोपियां अद्वैत-भावना का तिरस्कार करती हैं:—

मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम,
तौ हूँ हमैं भावति न भावना अन्यारी की ।
जैहे बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की ॥

ज्ञान-मार्ग कष्ट-साध्य है। योग-रत्नाकर में जब साँस रोक कर डुबकी लगाई जाती है तो शायद मुक्ति-मुक्ता प्राप्त हो सके। इसके विपरीत भक्ति-मार्ग सरल है। गोपियां भक्ति का अपना सीधा मार्ग बताती है:—

जोग रत्नाकर मैं साँस घूँटि बूड़ै कौन
ऊधौ हमैं सूधौ यह बानक बिचारि चुकीं ।
मुक्ति-मुकता कौ मोल माल ही कहा है जब
मोहन लला पर मन-मानिक ही वारि चुकीं ॥

भक्ति में ही वास्तविक अनासक्ति प्राप्त हो सकती है। अनासक्ति की अवस्था प्राप्त हो जाने पर पाप-पुण्य का बंधन टूट जाता है। उस दशा में भक्त को न यम का डर रह जाता है और न स्वर्ग की लालसा ही रह जाती है।

हम जमराज की धरावति जमा न कछू
सुर-पति-संपति की चाहति न ढेरी हैं ।

उद्धव अपने निर्गुण ब्रह्म को अंग-रहित—अनंग—बताते हैं। गोपियां इस शब्द का दूसरा ही अर्थ—कामदेव—लगा कर उनकी हँसी उड़ाती हैं।

एक ही अनंग साधि साध सब पूरी अब
और अंग-रहित अराधि करिहैं कहा।

उद्धव शतक में जो दार्शनिक विचार व्यक्त किये गये हैं उनकी विशेषताएँ संक्षेप में निम्न-लिखित हैं।

(१) इस काव्य-ग्रंथ में व्यक्त किये गये विचार प्राचीन हैं, किन्तु कवि ने उन्हें नवीन ढंग से व्यक्त किया है।

(२) गोपियों ने दार्शनिक उद्धव के तर्कों को अपनी सरल तर्क-प्रणाली से विशेष परिश्रम के बिना ही छिन्न भिन्न कर डाला है। यदि कवि गोपियों के द्वारा भी दार्शनिक ढंग से तर्क कराते तो उद्धव-शतक में काव्यत्व का अभाव हो जाता और शुष्कता आ जाती।

(३) रत्नाकर जी ने गोपी-उद्धव-संवाद जिस पद्धति से प्रस्तुत किया है उससे हृदय की भावनाओं के सम्मुख तर्क उपहास मय सिद्ध हो जाता है। उद्धव के तर्क अकाट्य होकर भी व्यर्थ हो जाते हैं, क्योंकि उन तर्कों के प्रतिपादक ही अन्त में उन्हें छोड़ कर प्रेम-मार्गी भक्त बन जाते हैं। गोपियों पर तो कोई प्रभाव पड़ता ही नहीं। उन्होंने तो तर्क का आश्रय ही नहीं लिया।

(४) गोपियों को उद्धव के तर्क बेढंगे प्रतीत होते हैं। वे उन तर्कों को हास और व्यंग्य के ही द्वारा छिन्न भिन्न कर देती हैं और उद्धव को लज्जित होना पड़ता है। उद्धव को एक प्रकार से अपने तर्क की अनुपयुक्तता स्वीकार करनी पड़ती है।

(५) कवि ने दार्शनिक विचारों की चर्चा नहीं की अतः इस काव्य में शुष्कता नहीं आई। इसीलिए उद्धव की गम्भीरता आकर्षक बन गई है।

(६) निष्कर्ष यही निकलता है कि रत्नाकर जी ने दार्शनिक विचारों को नवीन प्रणाली से उपस्थित किया है जिससे काव्य की भाव-धारा चमत्कार–पूर्ण हो गई है।

वास्तव में जहां सूरदास की गोपियाँ सीधी सादी अपढ़ ग्रामीण बालाएँ हैं और जहां नन्द दास की गोपियां तर्क में निपुण विदुषी महिलाएँ हैं, वहां रत्नाकर की गोपियां साधारण पढ़ी लिखी नागरिक रमणियां प्रतीत होती हैं।

कवि की बहुज्ञता:—

रत्नाकर जी को अनेक विषयों—जैसे रसायन शास्त्र, दर्शन शास्त्र, वैद्यक, मनोविज्ञान, योग शास्त्र तर्क शास्त्र, और विज्ञान आदि—का भी सामान्य ज्ञान था। उद्धव शतक में इन्होंने स्थान स्थान पर इन सब शास्त्रों के ज्ञान का परिचय दिया है। किन्तु इन्होंने कोरा पांडित्य-प्रदर्शन नहीं किया वरन् इस सुन्दर प्रणाली से इन विषयों का समावेश अपने काव्य में किया है कि काव्य के सौन्दर्य में किसी भी प्रकार कमी नहीं आती, वृद्धि ही होती है। आयुर्वेद में विषम ज्वर के लिए सुदर्शन चूर्ण की महत्ता प्रसिद्ध है। इसी बात को कवि ने श्लेष के प्रयोग द्वारा व्यक्त किया है।

रस के प्रयोगनि के सुखद सु जोगनि के
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।

तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन,
देत ना सुदर्शन हूं यौं सुधि सिराई हैं ॥
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिन कौ,
भाय क्यौं अनारिनि कौ भरत कन्हाई हैं ॥
ह्याँ तौ विषम ज्वर वियोग की चढ़ाई यह,
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं ।

किन्तु यह रत्नाकर की मौलिक उद्भावना नहीं। विषम ज्वर और सुदर्शन पर बिहारी की उक्ति देखिए—

यह बिनसतु नग राखिकै जगत बड़ो जसु लेहु ।
जरी विषम जुर ज्याइये आइ सुदरसन देहु ॥

विज्ञान के प्रकाश और प्रतिबिम्ब के सिद्धान्त की व्यंजना निम्न-लिखित पंक्तियों में हुई है—

ज्यौं ज्यौं बसे जात दूरि दूरि प्रिय प्रान मूरि ।
त्यौं त्यौं धसे जात मन मुकुर हमारे मैं ।

इसी प्रकार अन्य विषयों के भी अनेक कबित्त हैं ।

उद्धव शतक में प्रकृति-वर्णन के भी अनेक सजीव चित्र हैं। परम्परा के अनुसार षट् ऋतु वर्णन के कबित्त विप्रलम्भ श्रृंगार के उद्दीपन के रूप में रचे गये हैं। हास और व्यंग्य के भी कई कबित्त इस काव्य ग्रंथ में वर्त्तमान हैं। गोपियों ने कुब्जा पर व्यंग्यात्मक बातें कही हैं जिनका वर्णन अनेक कबित्तों में है। कृष्ण के काले रंग पर भी व्यंग्य किया गया है। अतः उद्धव शतक हास और व्यंग्य से भी पूर्ण है।

रस-निरूपण

यद्यपि रत्नाकर ने रीति काल की परम्परा का पालन किया हैं तथापि इनकी दृष्टि संकुचित नहीं, अत्यन्त व्यापक है। रीति काल में श्रृंगार रस की ही कविता प्रायः की जाती थी परन्तु रत्नाकर ने अपनी कविता में प्रायः सभी रसों का समावेश किया है। यह सत्य है कि इन्होंने भी श्रृंगार को ही प्रधानता दी है, परन्तु उनके काव्य में अन्य रस भी आये हैं।

रत्नाकर ने श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का समुचित चित्रण किया है। हिंडोला में संयोग श्रृंगार की प्रधानता है तथा उद्धव शतक में विप्रलम्भ श्रृंगार की। संयोग श्रृंगार का एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

जाके सुर प्रबल प्रवाह कौ झकोर तोर,
सुर नर-मुनि- वृन्द धीर निपट बहावै है ।
कहै रतनाकर पतिव्रत परायन की
लाज कुल कानि कौ करार विनसावै है ॥

कर गहि चिबुक कपोल कल चूमि चाहि
मृदु मुसुकाइ जो मयंकहि लजावै है।
ग्वालिनि गुपाल सों कहत इठलाइ कान्ह
ऐसी भला कोऊ कहूँ बाँसुरी बजावै॥

विप्रलम्भ श्रृंगार के अनेक सजीव चित्र उद्धव शतक में भरे हैं। एक उदाहरण देखिये:—

हाल कहा बूझत बिहाल परीं बाल सबै,
बसि दिन द्वैक देखि दृगनि सिधाइयौ।
रोग यह कठिन न ऊधौ कहिबे के जोग
सूधौ सौ सँदेस याहि तू न ठहराइयौ॥
औसर मिलै औ सरताज कछु पूछहिं तौ
कहियौ कछू न दसा देखी सो दिखाइयौ॥
आइ कै कराहि नैन नीर अवगाहि कछू
कहिबैं को चाहि हिचकी लै रहि जाइयौ॥

निम्नलिखित पंक्तियों की प्रभावोत्पादकता देखिए:—

आँस भरि ऐहै औ उदास मुख ह्वै है हाय
ब्रज-दुख-त्रास की न तातैं साँस लीजियौ।
नाम को बताइ औ जताइ गाम ऊधौ बस,
स्याम सों हमारी राम-राम कहि दीजियौ॥

श्रृंगार रस में विप्रलम्भ के चित्र संयोग से अधिक मर्म स्पर्शी होते हैं। दूरी से आकर्षण और भी बढ़ जाता है। वियोग श्रृंगार जितना प्रभावोत्पादक होता है, उतना संयोग नहीं। उद्धव-शतक में प्रवास जन्य विरह है।

गंगावतरण से रौद्र रस का उदाहरण लीजिये:—

सुनि अति अनहित बैन भये नृप-नैन रिसौंहैं।
फरकि उठे भुज दंड तने तेवर तरजौंहैं॥
कह्यौ सारथी टेरि त्रिपथ-गामी रथ नाधौ।
महाचाप सायक अमोघ भाथनि भरि बाँधौ॥

बीर रस का एक उदाहरण द्रष्टव्य है:—

पंचनि कैं देखत प्रपंच करि दूरि सबै,
पंचनि को स्वत्व पंच तत्त्व मैं मिलैहौं मैं।
हरि-प्रन-हारी-जस धारि कै धरा ह्वै सांत,
सांतनु कौ सुभट सपूत कहवैहौं मैं॥

भयानक रस का उदाहरण गंगावतरण से देखिए:—

बिंध्य-हिमाचल-मलय-मेरु-मंदर हिय हहरे।
ठहरे जदपि पषान ठमकि तउ ठामहिं ठहरे॥
थहरे गहरे सिंधु पर्व बिनहूँ लुरि लहरे।
पै उठि लहर-समूह नैंकु इत उत नहिं ढहरे॥

उसी ग्रंथ से हास्य रस का उदाहरण देखा जाय :—

ब्रह्म अंजली देखि भूप बिनवत मृदु बानी।
मुसकाने बिधि आनि चित्त चुल्लू भर पानी॥

हरिश्चन्द्र काव्य से करुण रस की निम्न-लिखित हृदय-द्रावक पंक्तियां देखिए। शैव्या पुत्र का शव लेकर आई है; उसीकी मर्म-विदारक वाणी है।

अंचल फारि लपेटि मृतक फूँकन ल्याई हूँ।
हा हा! एती दूर बिना चादर आई हूँ॥
दीन्हें कफनहिं फारि लखहु सब खुलत हैं।
हाय! चक्रवर्ती कौ सुत बिन कफन फुकत है॥

उसी काव्य में बीभत्स रस का चित्रण देखिए :—

कहुँ सुलगति कोउ चिता कहूँ कोउ जाति बुझाई।
एक लगाई जाति एक की राख बुझाई॥
विविध रंग की उठति ज्वाल दुर्गंधनि महकति।
कहूँ चरबी सौं चटचटाति कहुँ दहदह दहकति॥

द्रौपदी के चीर-हरण का अद्भुत रस से पूर्ण चित्र देखिए :—

बोलि उठे चकित सुरासुर जहां ही तहां,
हा हा यह चीर है कै धीर बसुधा को है।
कहै रतनाकर कै अम्बर दिगम्बर कौ,
कैधौं परपंच कौ पसार बिधना कौ है॥

शान्त रस का उदाहरण देखा जाय :—

देखै देखि देखन की दीठि दई जाहि दई,
इहिं जग जंगम कोऊ थिर थावै है।
कहै रतनाकर नरेस रंक सूधौ बंक
कोऊ कल नैंकु एक पलक न पावै है॥

भाषा-शैली

रत्नाकर जी ब्रज भाषा के कुशल कवि थे। भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। ब्रज भाषा को सँवारने सुधारने में इनका बहुत बड़ा हाथ है। रत्नाकर ब्रज भाषा के अनन्य प्रेमी थे इसी लिए इस युग में भी जब ब्रज भाषा के प्रायः सभी कवियों ने खड़ी

बोली में कविता-रचना आरंभ की, इन्होंने व्रज भाषा का साथ नहीं छोड़ा। इन्हें भाषा के ऊपरी रूप की ही नहीं वरन् उसकी आत्मा की भी पहचान थी। इसीलिए हर तरह से इन के हाथ से ब्रज भाषा की सजावट हुई।

रत्नाकर का कला-पक्ष भाव-पक्ष से अधिक पुष्ट है। ये प्रथम कोटि के कलाकार हैं। इनकी भाषा की निम्न-लिखित विशेषताएँ ध्यातव्य हैं।

(१) इनकी भाषा में प्रबल प्रवाह है। इस प्रवाह में कोई भी पाठक सरलता से बह जाता है। अपनी भाषा की इस शक्ति से कवि पूर्ण रूप से अभिज्ञ है, इसीलिए गर्वोक्ति के रूप में शारदाष्टक में सरस्वती के मुँह से कहलाया है।

सुनि रत्नाकर की रचना रसीली रंच
ढीली परी बीनहिं सुरीली करि ल्याऊँ मैं।

(२) रत्नाकर की भाषा में प्रसाद और माधुर्य के साथ साथ ओज गुण पूर्ण मात्रा में वर्त्तमान है। प्रसाद और माधुर्य गुण तो व्रज भाषा के अनेक कवियों में मिलते हैं परन्तु ओज गुण कम ही कवियों में उपलब्ध होता है। इस पुस्तक में जितने कवियों की आलोचना की गई है, उनमें रत्नाकर ही एक मात्र कवि हैं जिनकी कविता में ओज गुण पूर्ण मात्रा में पाया जाता है। प्रसाद गुण तो इन की कविता में प्रायः सर्वत्र दृष्टि-गोचर होता है। माधुर्य गुण के लिए इनके तीन ग्रथ हिंडोला, शृंगार-लहरी तथा उद्धव शतक विशेष रूप से प्रख्यात हैं। ओज गुण के लिए गंगावतरण तथा हरिश्चन्द्र प्रसिद्ध हैं। गंगा के उतरने का ओजः पूर्ण वर्णन देखिए:—

निकसि कमंडल तैं उमंडि नभ मंडल खंडति।
धाई धार अपार बेग सौं वायु बिहंडति॥
भयौ घोर अति शब्द धमक सौं त्रिभुवन तर्जै।
महा मेघ मिलि मनहुँ एक संगहिं सब गर्जैं॥

माधुर्य और प्रसाद गुणों की रचना के उदाहरण कहीं से भी लिये जा सकते हैं। पहले भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा चुके हैं।

(३) रत्नाकर की भाषा का एक बहुत बड़ा गुण है भाव के अनुकूल शब्द-विधान। कवि किसी मूर्त्त वस्तु का वर्णन करता हो अथवा किसी अमूर्त्त भाव का चित्रण कर रहा हो, किन्तु बहुत सरलता से वह उस वस्तु अथवा भाव का चित्र अंकित कर सकता है।

(४) माधुर्य गुण में अनुप्रास बहुत अधिक सहायता करता है। रत्नाकर जी अनुप्रास को बहुत आवश्यक और महत्त्व-पूर्ण मानते हैं। अपने इस उद्देश्य से उन्होंने अपनी काव्य-भाषा में अनुप्रास का प्रचुर प्रयोग किया है।

(५) रत्नाकर ठेठ और संस्कृत-निष्ठ दोनों प्रकार की व्रज भाषा लिखने में कुशल हैं। वार्त्तालाप वाले प्रसंगों में इन्होंने ठेठ व्रजभाषा का प्रयोग किया है तथा जहां वर्णन वाले प्रसंग हैं, वहां संस्कृत-निष्ठ ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। उद्धव शतक में प्रायः

ठेठ ब्रज भाषा का और गंगावतरण में अधिकतर संस्कृत-निष्ठ ब्रज भाषा का प्रयोग किया गया है। ठेठ ब्रजभाषा का उदाहरण देखिएः—

लैकै पन सूछम अमोल जो पठायो आप,
ताको मोल तनक तुल्यौ न तहां साँठी तैं।
कहै रत्नाकर पुकारे ठौर ठौर पर,
पौरि वृष भानु की हिरान्यौ मति नाठी तैं॥

संस्कृत-निष्ठ ब्रज भाषा का उदाहरण प्रस्तुत हैः—

जय विधि-संचित-सुकृत-सार सुख-सागर-संगिनि।
जय हरि-पद-अरविंद-मंजु-मकरंद-तरंगिनि॥
जय सुर-सेवित-संभु-विपुल-बल-विक्रम-साका।
जय भूपति-कुल-कलस-भगीरथ-पुन्य-पताका।

इनमें प्रथम उदाहरण अधिक सफल है। भाषा का यही आदर्श होना भी चाहिए। दूसरे उदाहरण में थोड़ा परिवर्त्तन कर दिया जाय तो इसे संस्कृत की रचना कहा जा सकता है। नंद दास की रास पंचाध्यायी के अतिरिक्त ब्रज भाषा के किसी अन्य काव्य में ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं किया गया है।

(६) यद्यपि रत्नाकर फारसी के मर्मज्ञ विद्वान् थे तथापि इन्होंने अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग बहुत ही परिमित संख्या में किया है। इन से अधिक फारसी शब्दों का प्रयोग बिहारी ने किया। रत्नाकर ने जिन फारसी शब्दों का प्रयोग किया वे बहुत प्रचलित शब्द हैं; जैसे—बरकत, आब, महल, करामात, रोब, दाग़, निगाह आदि। कहीं कहीं फारसी अरबी शब्दों के अपभ्रंश रूप भी मिल जाते हैं; जैसे—अंदेसो, गरक, हौसलो आदि।

(७) भाषा की एक-रूपता पर किसी भी कवि ने पूरा ध्यान नहीं दिया था। रत्नाकर ने इस ओर ध्यान दिया। निम्न-लिखित विषयों में रत्नाकर ने एकरूपता ला दीः—

(क) एक ही काल की क्रिया के सामान्य भूत काल में अनेक रूप लिखे जाते थे जैसे—दीन, दियो, दिन्ह्यौ आदि। इस अनेक-रूपता से साहित्योचित भाषा में हानि की सम्भावना रहती है। रत्नाकर ने एक निश्चित रूप स्थिर कर दिया।

(ख) कारकों के रूपों में भी बहुरूपता पाई जाती थी। रत्नाकर ने कारकों के भी रूपों को स्थिर किया।

(ग) लिंग-रचना-सम्बन्धी बहुरूपता को भी रत्नाकर ने दूर कर के एक स्थिर रूप दिया।

(घ) शब्दों के शुद्ध उच्चारण और उनके लिखने में प्रायः रूपान्तर देखे जाते हैं। उनके रूप निश्चित और स्थिर करने का काम किसी से नहीं हो सका था। परन्तु रत्नाकर ने शब्दों के विवरण का रूप स्थिर किया। जैसे 'ज्यों' तीन रूपों में प्रायः मिलता है—ज्यों, ज्यौं और ज्यौँ। इस सम्बन्ध में रत्नाकर जी ने कुछ नियमों का निर्माण किया। सानुनासिक स्थानों पर ये निश्चित रूप से चन्द्र-विन्दु का प्रयोग करते थे।

(८) रत्नाकर की भाषा भाव की पूर्ण-व्यंजना करने वाली है। इनकी रचना में शब्दों का महत्त्व स्थानोचित है। यदि उस शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द रख दिया जाय तो वह व्यंजकता नहीं रह जाती।

'बात चलैं जिनकी उड़ात धीर धूरि भयौ।'

इस पंक्ति में प्रयुक्त 'धूरि' शब्द के स्थान पर यदि दूसरा शब्द रख दिया जाय तो वह व्यंजकता नहीं रह जायगी।

(९) रत्नाकर के काव्य में लक्षणा शक्ति का पूरा उपयोग किया गया है। लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग पर्याप्त संख्या में हुआ है। जैसे :—

(क) मख राखन कौ रंग पाइ नरपति हरियाने।

(ख) भव-वैभव को जदपि भूप-गृह अमित उज्यारौ।
तउ इक सुत कुल-दीप बिना सब लागत अंध्यारौ॥

ऊपर की पंक्तियों में रेखाङ्कित शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग है।

(१०) रत्नाकर की भाषा में वाक्य-विन्यास तथा भाव-गुम्फन का समन्वय मिलता है। इसीलिए इनकी कविता में सुन्दर भाव-व्यंजना दिखाई पड़ती है।

(११) इनकी भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रचुर प्रयोग पाया जाता है जिससे भाषा की व्यंजना-शक्ति बढ़ गई है। उद्धव-शतक में तो बहुत अधिक संख्या में मुहावरे प्रयुक्त हैं। देखिए एक ही कविता में कितने मुहावरे आये हैं :—

आये हो पठाये वा छतीसे छलिया के इतै,
बीस-बिसै ऊधौ बीर बावन कलाँच ह्वै।
कहै रतनाकर प्रपंच ना पसारौ गाढ़े,
बाढ़े पै रहोगे साढ़े बाइस की जाँच ह्वै॥
प्रेम अरु जोग मैं है जोग छठैं आठैं पर्‌यौ,
एक ह्वै रहैं क्यौं दोऊ हीरा अरु काँच ह्वै।
तीन गुन पांच तत्त्व बहकि बतावत सो,
जै है तीन तेरह तिहारो तीन पांच ह्वै॥

निम्न-लिखित मुहावरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग देखिए :—

(क) टूक टूक ह्वै है मन मुकुर हमारो हाय।
(ख) हम जमराज की धरावति जमा न कछु।
(ग) बानी कहूँ राधे आधे कान सुनि पावै ना।
(घ) पाला परै आस पर।
(ङ) काम विधि बाम की कला में मीन मेष कहा।
(च) रोस पै सँजोगिनि के ओस परिबै लगी।

(१२) रत्नाकर जी की भाषा में पूर्वी प्रयोग भी आये हैं। ऐसे शब्द काशी के आस पास विशेष रूप से बोले जाते हैं। कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं :--

झमेला--दूरि करे जेते द्रोह मोह के झमेले हैं।
उतान--केते कुंत तानि कै उतान करि डारे हैं।
उरात--रोवत रोवत हूँ न उरात है।
गंजन--गंजन ह्वै खंजन-गुमान लटे जात हैं।
लौकना--ऊषा को प्रकास लाग्यौ लौकन अकास माहिँ।
बतास--पाला परै आस पै न भावत बतास बारि।
पवाँरि--चिंतामनि मंजुल पवाँरि धूरि धारनि मैं।
भकुवाने--भूले से भ्रमे से भभरे से भकुवाने से।

कुछ क्रियाओं पर भी पूर्वी प्रभाव दिखाई पड़ता है। जैसे--

(क) एतहिं मैं रोवत, रोवत सो विलखि पुकारो।
(ख) साँचहिं अब समुझत बात हम अनुचित कीन्हीं।

(१३) चित्रमयता का एक सुन्दर उदाहरण देखा जाय :--

औसर मिलै औ सरताज कछु पूछहिं तौ,
कहियौ कछू न दसा देखी सो दिखाइयौ।
आह कै, कराहि, नैन नीर अवगाहि, कछू
कहिबै कौं चाहि, हिचकी लै रहि जाइयौ॥

इन पंक्तियों की प्रभावोत्पादकता तथा अभिनेयता दर्शनीय हैं।

"(१४) संतुलित वाक्य :--

आवत बितुंड की पुकार मग आधे मिली,
लौटत मिल्यौ त्यौं पच्छिराज मग आधे मैं।

(१५) अनुकरणात्मक शब्द-योजना :--

आये भुज बन्ध दिये ऊधव सखा के कंध
डगमग पाय मग धरत धराये हैं।

(१६) आत्यंतिकता--मन सौं, करेजो सौं, स्रवन सिर आँखिन सौं।

(१७) द्वित्व-प्रयोग और वाक्यावृत्ति :--

उझकि उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छवै लागीं।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हम कौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं।"१

(१८) रत्नाकर की भाषा में कहीं कहीं त्रुटियां रह गई हैं, सम्भवतः असावधानी के कारण। जैसे "फिर यह आनन कहां, कहां यह नैन अभागी।" 'नैन' पुंलिंग है

---

१ स्वर्ण-मंजूषा की भूमिका से।

अतः 'अभागी' स्त्रीलिंग विशेषण अशुद्ध है। "छोर छिति की सब छानी" में छोर पुंलिंग है परन्तु यहां स्त्रीलिंग में व्यवहृत है।

(१६) रत्नाकर जी की शैली पर उनके व्यक्तित्व तथा सहृदयता की अमिट छाप पड़ी है। जिस प्रकार भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है उसी प्रकार उनकी शैली भी पूर्णतः उन्हीं की है। छन्द योजना में रत्नाकर ने कोई नवीनता नहीं दिखाई है। रोला और कवित्त इनके विशेष प्रिय छन्द हैं। इन छन्दों पर रत्नाकर जी का असाधारण अधिकार है। इन्होंने इन छन्दों का प्रयोग सफलता से किया है।

भारतेन्दु के परवर्त्ती ब्रज भाषा के कवियों में रत्नाकर का स्थान सर्व-श्रेष्ठ है। ब्रज भाषा के सम्पूर्ण कवियों में भी इनका स्थान बहुत ऊँचा है।

सत्यनारायण कविरत्न

जीवन-वृत्त

ब्रज कोकिल पं० सत्यनारायण कविरत्न का जन्म संवत् १९४१, माघ शुक्ल तृतीया को हुआ था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे और अलीगढ़ के मूल निवासी थे। बचपन में ही इन के माता-पिता का देहावसान हो गया और इनके पालन पोषण का भार इनकी मौसी पर पड़ा। इनकी मौसी देशी रियासतों में अध्यापिका के पद पर थीं। दुर्भाग्यवश अल्पकाल में ही यह भी आश्रय इनसे छिन गया और इनकी मौसी का देहान्त हो गया। मौसी की मृत्यु के उपरान्त धांधू पुर निवासी बाबा रघुनाथ दास का आश्रय इन्हें प्राप्त हुआ। यहीं आगरे से डेढ़ कोस दूर धांधूपुर में इनका शेष जीवन व्यतीत हुआ। बाबा रघुनाथ दास के स्नेह-पूर्ण वात्सल्य ने इनके जीवन में माता-पिता का अभाव दूर कर दिया और इनका जीवन-रथ प्रगति के मार्ग पर द्रुत गति से अग्रसर होने लगा।

इन्होंने आगरा जिले के तहसीली स्कूल से हिन्दी मिडिल पास किया। फिर इन्हें अंग्रेजी पढ़ने की इच्छा हुई। ये एन्ट्रेंस और एफ० ए० की परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए। सन् १९१० ई० में इन्होंने बी० ए० की परीक्षा दी किन्तु दुर्भाग्यवश उत्तीर्ण नहीं हो सके; फलस्वरूप इन्होंने पढ़ना छोड़ दिया।

बाबा रघुनाथ दास के पवित्र एवं संयमित जीवन का बहुत गहरा प्रभाव पं० सत्य-नारायण जी के जीवन पर पड़ा। बाबा के साहचर्य के कारण इनके जीवन में पूर्ण रूप से सात्त्विकता का समावेश हो गया। ये स्वच्छ तथा निश्चल हृदय के व्यक्ति थे और इनका व्यवहार सर्वथा आडम्बर-रहित था; यद्यपि अंग्रेजी की शिक्षा बी० ए० तक प्राप्त की थी तथापि ये ब्रज भूमि के वातावरण में इस प्रकार निमग्न थे कि ग्रामीणों के समान

सीधी सादी वेश-भूषा में रहते थे जैसे अंग्रेजी शिक्षा का नाम भी न सुना हो। ऐसी सादगी आश्चर्य - जनक है। भावनाओं की दृष्टि से ये आधुनिकतम युग के व्यक्ति थे किन्तु वेश भूषादि की दृष्टि से सर्वथा प्राचीन युग के थे।

पं० सत्यनारायण जी का विवाह पं० मुकुन्दा राम जी की बड़ी पुत्री सावित्री देवी से सम्पन्न हुआ और यही विवाह इनके अन्त का कारण हुआ। पति-पत्नी के विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर था। कविरत्न स्वयं रस राज भगवान् कृष्ण के अयन्य भक्त थे और इनकी पत्नी आर्य-समाज के उग्र विचारों की परम समर्थिका थीं। "वे थे व्रज-माधुरी में पगे जीव; उनकी पत्नी थीं आर्य समाज के तीखेपन में तली महिला. इस विषमता की विरसता बढ़ती ही गई और थोड़ी ही अवस्था में कविरत्न जी की जीवन यात्रा समाप्त हो गई।"[१] ये 'भयो क्यों अनचाहत को संग' गा कर घंटों रोया करते थे। इस एक पंक्ति में इनके जीवन की सम्पूर्ण वेदना प्रकट हो जाती है। यों तो इनके सरस और हँसमुख स्वभाव के कारण साधारण परिचय रखने वालों को इनकी वेदना का पता नहीं चलता था। इस असह्य वेदना से छुटकारा देने के लिए ही जैसे मृत्यु आई और ३४ वर्ष की अल्पायु में ही १६ अप्रिल सन् १६१८ ई० में यह व्रज-कोकिल अपनी अन्तिम काकली सुनाकर उड़ गया। इनकी अकाल मृत्यु का मुख्य कारण इनके दाम्पत्य जीवन की असफलता ही है।

छात्रावस्था से ही सत्यनारायण जी व्रज भाषा में कविता रचने लगे थे। कविता के लिए यह प्रबल आकर्षण प्रतिदिन बढ़ता गया और आगे चल कर कविता ही इनके जीवन का उद्देश्य बन गई। किसी भी सभा-सम्मेलन में सत्यनारायण जी आमन्त्रित होते और कविता पाठ से सब को मुग्ध कर लेते। कविता-पाठ का इनका ढंग इतना मनोहर था कि सभी श्रोता मंत्र-मुग्ध हो जाते।

सत्यनारायण जी कभी किसी का अनुरोध टालते नहीं थे। इसका अनुचित लाभ उठा कर इनसे लोग सभा-सम्मेलनों के लिए तथा नेताओं के अभिनन्दन के लिए कविता लिखा लिया करते थे। कवि-रत्न जी का बहुत समय ऐसी ही कविताएँ लिखने में लग जाता था।

सत्यनारायण जी का सम्पूर्ण जीवन विषमताओं एवं उलझनों के बीच व्यतीत हुआ परन्तु ये कभी भी उन विषमताओं से पराजित नहीं हुए। संघर्षों के रहने पर भी इनके होठों पर मुसकान की रेखा नाचती रहती। इसीलिए इनकी कविताओं में एक विचित्र व्यक्तिगत निर्लिप्तता दृष्टि-गोचर होती है। लगातार ठोकर खाते खाते इनका कोमल हृदय कोमलतर हो गया था; फलस्वरूप जिस विषय को इनकी काव्य-प्रतिभा स्पर्श कर देती, वही विषय काव्य बन जाता।

कविरत्न जी की प्रतिभा पर कवीन्द्र रवीन्द्र जैसे महान् व्यक्ति भी मुग्ध थे। इन्हें स्वामी रामतीर्थ जैसे महापुरुष का सत्संग प्राप्त था। हिन्दी-हिन्दू-हिन्द के लिए

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

इनके हृदय में अपार श्रद्धा थी साथ ही व्रजभूमि, व्रज-पति एवं व्रज-भाषा के लिए इन्हें अटूट प्रेम था। स्वाभाविक सरलता, स्वार्थ-रहित साहित्य-सेवा और मधुर स्वर का अपूर्व सम्मिश्रण सत्यनारायण जी में मिलता है। हिन्दूत्व के उद्धार के लिए वे सतत प्रयत्न-शील थे, परन्तु कराल-काल ने इन्हें असमय में ही संसार से उठा लिया। हिन्दी के काव्य भंडार के समृद्ध होने की जो जो आशाएँ और सम्भावनाएँ थीं, सभी समाप्त हो गईं। सत्यनारायण कविरत्न का सम्पूर्ण जीवन करुणा की एक कहानी है।

रचनाएँ

परिमाण की दृष्टि से सत्यनारायण जी ने अधिक नहीं लिखा, परन्तु उन्होंने जो कुछ लिखा उसी पर ये ब्रज भाषा के श्रेष्ठ कवियों में गिने जाते रहेंगे। इनके यश को चिर-स्थायी बनाने के लिए वे ही रचनाएँ पर्याप्त हैं। परिमाण में विस्तृत नहीं होने पर भी गुण में वे अत्युच्च हैं। अनेक विषयों पर इनकी फुटकर रचनाएँ हैं जिन का संग्रह नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा, ने दो खंडों में 'हृदय-तरंग' के नाम से निकाला है। इन कविताओं के विषय हैं—विनय, देश-भक्ति, भ्रमर दूत, प्रकृति-सौन्दर्य, ब्रज भाषा, प्रख्यात व्यक्तियों—जैसे रामतीर्थ, गोखले, तिलक, गांधी, रवीन्द्र आदि—की प्रशस्तियां, लोकोपकारक कार्यों के लिए अपील (जैसे काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के लिए अपील) कुली-प्रथा के विरुद्ध पुकार आदि। इनमें कई कविताएँ समयोपयोगी तो हुईं परन्तु उनका स्थायी महत्त्व नहीं हो सका। 'प्रेम-कली' शीर्षक कविता में इन्होंने प्रेम का प्रतिपादन किया है। 'विनय' में भक्ति-युग के कृष्ण भक्त कवियों के अनुकरण पर कृष्ण के प्रति भक्ति का प्रदर्शन किया गया है। देश-भक्ति की कविताओं में भारत माता की वन्दना है और कवि ने अपनी राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति की है। 'भ्रमर-दूत' भ्रमर गीत की परम्परा में कहा जाता है यद्यपि उससे सर्वथा भिन्न है। 'प्राकृतिक सौन्दर्य' विभिन्न ऋतुओं के विषय में लिखी गई अनेक कविताओं का संग्रह है। 'ब्रज भाषा' में कवि ने ब्रज भाषा के प्रति मोह प्रदर्शित किया है। इन्होंने कुछ अंग्रेजी कविताओं का अनुवाद ब्रज भाषा में किया है। सत्यनारायण कविरत्न जी ने संस्कृत के दो प्रसिद्ध नाटकों का अनुवाद भी किया है। महाकवि भवभूति के दो नाटकों 'उत्तर रामचरित' तथा 'मालती माधव' के गद्य-पद्य मय सुन्दर अनुवादों को पढ़ने से मौलिक नाटकों का आनन्द प्राप्त होता है। मेकॉले के प्रबन्ध-काव्य होरेशस का भी अनुवाद इन्होंने किया।

राष्ट्रीय भावना

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार हुआ; रत्नाकर जी इस भावना से प्रभावित नहीं हो सके, किन्तु सत्यनारायण जी ने उसे अति स्पष्टता से ग्रहण

किया। इनकी सभी कविताओं में राष्ट्रीयता की भावना वर्त्तमान है। राष्ट्रीयता ही इनकी भावनाओं की प्रेरक शक्ति है, यहां तक कि इनकी भक्ति-सम्बन्धी तथा प्रकृति-निष्ठ कविताओं में भी राष्ट्रीयता का स्वर मुखर है।

सत्यनारायण जी ने जन्म-भूमि को जननी से कम नहीं, अधिक ही महत्त्व दिया है। भ्रमर-दूत में इन्होंने लिखा—

जननी जन्म-भूमि सुनियत स्वर्ग हुँ सों प्यारी।

जिस तन्मयता से कवि ने भारत भूमि की स्तुति की है उसे देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इनके हृदय में देश के लिए कितना अधिक प्रेम था। निम्न-लिखित कविता से इनका देश-प्रेम परिलक्षित हो जाता है।

बन्दौं मातृ-भूमि मन-भावनि,
जासु विमल जल मृदुफल बलप्रद
मलयज सीर समीर सुहावनि।
कलित ललित संकुचित नवल तृण
चमत्कार निज चहुँ चमकावति।

इस कविता पर बंकिम चन्द्र के प्रसिद्ध गीत 'वन्दे मातरम्' की स्पष्ट छाया है, परन्तु माधुर्य में यह बंकिम चन्द्र के गीत से बढ़ कर है।

एक दूसरी कविता 'बन्दौं भारत-भूमि महतारी' में भारत माता का अत्यन्त ही कारुणिक चित्र उपस्थित किया गया है। यह कविता पढ़ कर शायद ही कोई सहृदय ऐसा होगा जो द्रवित नहीं हो जाय। इस कविता में कवि ने राष्ट्र-भूमि को सजीव तथा चेतन रूप प्रदान किया है। कुछ पंक्तियां देखिए:—

बन्दौं भारत–भूमि महतारी।
शेष अस्थि पिंजर बस केवल, भय युत चकित बेचारी।
रोग अकाल दुकाल सताई, जीरन देह दुखारी॥
धूलि-धूसरित जाकी झलकैं, अलकें स्वेत उघारी।
अंचल फटे लटे तन ठाढ़ी, सुधि बुधि सकल बिसारी॥
तीस कोटि सुत अछत दुखी तउ कैसी गति संसारी।
जात लाज ब्रजराज राखिए याकी कृष्ण मुरारी॥

सत्यनारायण जी ने कई कविताएँ राष्ट्र के प्रख्यात नेताओं की प्रशस्ति में भी लिखी हैं। विश्व-वंद्य महात्मा गांधी जी की स्तुति में जो कविता इन्होंने लिखी थी, उसका महत्त्व आज भी कम नहीं।

मोहन प्यारे, तुम सों निसि दिन, बिनय बिनीत हमारी।
हिन्दू-हिन्दी-हिन्द देश के, बनहुँ सत्य अधिकारी॥
तुम से बस तुमही लसत, और कहा कहि चित भरें।
सिवराज प्रताप ऽरु मेजिनी, किन किन सों तुलना करें॥

लोक-मान्य बाल गंगाधर तिलक की प्रशस्ति में इन्होंने जो पंक्तियां लिखीं उनकी मर्म-स्पर्शिता द्रष्टव्य है—

देश-भक्ति स्वर्गीय गंग आघात तीव्र तर।
गंगाधर सम सह्यौ अटल मन तुम गंगाधर॥
नित स्वदेश हित निर्भय निभ्रम नीति-प्रकाशक।
जय स्वराज सयुक्त शक्ति के पुण्य उपासक॥
जय आत्म त्याग अनुराग के उज्ज्वल उच्च उदाहरन।
जय शिवं संकल्प स्वरूप शुभ एक मात्र तारन तरन॥

सत्यनारायण जी ने लोकोपकारक कार्यों के लिए अपील भी निकाली। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के लिए लम्बी अपील तथा 'कुली प्रथा के विरुद्ध पुकार' कविताओं की भी गणना राष्ट्रीय कविताओं के ही अन्तर्गत होगी।

सत्यनारायण जी ने अपनी भक्ति-परक कविताओं में भी राष्ट्रीयता का समावेश कर दिया है। ये देश की दयनीय दशा से दुःखी है अतः अपने लिए भगवान् से कुछ नहीं माँगते, प्रत्युत् देश के लिए—समष्टि के लिए—माँगते हैं। ये भगवान् को उलहना देते हैं क्योंकि :—

कत माया अगाध सागर तुम डोबहु भारत नैया।

अन्यत्र कवि ने कहा है :—

माधव अब न अधिक तरसैये।
तुम्हरे अछत तीन तेरह यह देस दसा दरसैये।
पै तुम को यहि जनम धरे की तनकहुँ लाज न आवै।

कवि देश की दुर्दशा पर दुःखित है और उसे दूर करने के लिए भगवान् से विनय करता है :—

(क) मोहन, अजहुँ दया हिय लावौ।
जन्म-भूमि निज जानि साँवरे काकौ हित अभिलाषौ॥
(ख) तुम देखत भारत मानव-कुल आकुल छिन छिन छीजै।
कहा भयो पासान हृदय तव जो नहिं तनिक पसीजै॥

प्रकृति का वर्णन करते समय भी सत्यनारायण जी देश की दारुण दशा का विस्मरण नहीं करते। देश वासियों की दुरवस्था का चित्र सदा इनकी आँखों के सामने नाचता रहता है। जब बादल वृष्टि करते हैं, तो इन्हें जान पड़ता है कि वे देश वासियों की हीनावस्था पर आँसू बहा रहे हैं :—

बदरवा दल पुनि पुनि घिरि आवैं।
जानि मनुज कुल हीन दसा कों नयन नीर टपकावैं॥

हेमन्त अपनी पूरी शक्ति से दीन हीन जनों को कँपा देता है। हेमन्त का वर्णन करते समय कवि की दृष्टि इस ओर जाती है।

जर जर देह दीन जन दुःखित, कँपकँपात बिलखात।
हाट बाट अरु घाट घाट पर माँगत खात लखात॥
'अबकी कठिन प्राण रक्षा है' कहि कहि के यह बात।
बड़े कसाई अति दुखदाई जाड़े से इठि जात॥

और इनकी रक्षा के लिए वे धनवानों से आग्रह करते हैं :—

निस्सहाय निर्बल इन आरत भारतबासिन ओर।
देश हितैषी धनी धारमिक फेरौ लोचन-कोर॥

यहां प्रश्न किया जा सकता है कि प्रकृति का वर्णन करते समय देश की दशा का दिग्दर्शन कहां तक उचित है क्योंकि देश-दशा का ही वर्णन करना था तो फिर प्रकृति वर्णन का सहारा क्यों लिया जाय? क्यों नहीं स्वतंत्र रूप से देश-दशा पर ही लिखा जाय? स्मरणीय है कि जो कलाकार उपयोगिता वादी हैं, उन्हें कला सोद्देश्य चाहिये। निरुद्देश्य कला का मूल्य उनकी दृष्टि में नहीं के बराबर है। जो कला—निरुद्देश्य होकर आनन्द प्रदान करती है, उसे वे कला मानते ही नहीं। जो अधिकार कला वादी को अपनी कला को वास्तविक कला समझने का है, वही अधिकार उपयोगितावादी को भी है। गुप्त जी आदि कई विद्वान् कला को सोद्देश्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में निरुद्देश्य कला का कोई विशेष मूल्य नहीं होता। सत्यनारायण जी की कला की परीक्षा इसी दृष्टि से होनी चाहिये। फिर यह प्रश्न नहीं उठ सकेगा।

भक्ति-भावना

पं० सत्यनारायण जी की काव्य-साधना में भक्ति का प्रमुख स्थान है। भक्ति की दृष्टि से सत्यनारायण जी कृष्ण-भक्तों की परम्परा में आते हैं और इनके हृदय में व्रज-भूमि, व्रज भाषा तथा व्रज पति के लिए अगाध प्रेम है। इनकी भक्ति-परक कविताओं में दो विशेषताएँ द्रष्टव्य हैं—सख्य भाव तथा समष्टि निष्ठता। इनके अतिरिक्त वैराग्य-मूलक आत्माभिव्यक्ति भी कुछ पदों में मिलती है।

सत्यनारायण जी की भक्ति सख्य भाव की है। अन्य भक्तों के समान इन्होंने अपने आराध्य देव के सम्मुख अपना कार्पण्य, अपनी दीनता आदि का प्रदर्शन कभी नहीं किया है। अतः इनकी भक्ति दास्य भाव की नहीं हो सकती। सूर दास तथा मीराँ के सदृश इन्होंने न वात्सल्य भाव दिखाया है और न माधुर्य भाव। इन्होंने अपने को न 'कामी कुटिल' ही कहा है, न 'राम की बहुरिया' ही बताया और न कृष्ण की बाल-लीलाओं में ही दिलचस्पी दिखाई। दास्य भाव की भक्ति नहीं करने के कारण ही सत्यनारायण ने अपने को कहीं भी अपराधी तथा पापी नहीं ठहराया है, प्रत्युत् इनका कथन इसके सर्वथा विपरीत है—

सारे जग सों अधिक कियो का ऐसो हम ने पाप।
नित नव दई निर्दई बनि जो देत हमें संताप॥

किन्तु अपने भगवान् की कृपा प्राप्त करने के निमित्त या जल्दी ही विवाद समाप्त करने के लिए कवि इतना भर कह देता है—

तुम आछे हम बुरे सही, बस, हमरो ही अपराध।
करना हो सो अजहूँ कीजै, लीजै पुन्य अगाध ॥

यह अपराध की स्वीकारोक्ति नहीं है वरन् विवाद समाप्त करने का ढंग है।

सत्यनारायण जी की भक्ति में सख्य भाव के उपयुक्त धृष्टता सर्वत्र दृष्टि-गोचर होती है; सर्वत्र छेड़ छाड़ की ही बातें दिखाई देती हैं। सख्य भाव में भक्त और भगवान् समानता के स्तर पर रहते हैं। उनमें कोई बड़ा या छोटा नहीं रहता। मित्रता में बड़ाई छोटाई ही क्या? समानता में ही सख्य सम्भव है। एक मित्र अपने मित्र के समक्ष झुकता भी है तो अपनी मर्यादा को ध्यान में रख कर ही।

कवि ने एक स्थान पर कहा है :—

मानि लेउ, हम कूर कुढंगी कपटी कुटिल गँवार।
कैसे असरन सरन कहो तुम जन के तारन हार ॥

इन पंक्तियों में कवि की स्वीकारोक्ति नहीं है। वह स्वयं अपने को कामी कुटिल आदि कुछ भी नहीं कहता। 'मानि लेउ' शब्दों से ही प्रकट हो जाता है कि कवि 'कूर कुढंगी' आदि नहीं है, परन्तु यदि आराध्य देव ऐसा समझें तो भी उन्हें अपने विरद की रक्षा करनी ही चाहिए। भगवान् जो अशरण—शरण कहलाते हैं वह असत्य ही न? भक्त यदि सचमुच ही पापी है तो भगवान् को और भी शीघ्र भक्त का उद्धार कर देना चाहिए। वास्तव में यहां वाद विवाद की प्रणाली अपनायी गई है जहां अपना तर्क देने के पूर्व विरोधी का तर्क कुछ समय के लिए मान लिया जाता है।

सख्य भाव की धृष्टता निम्न-लिखित पंक्तियों में देखिये :—

यदि जो कर्म जातना भोगत, तुम्हरे हू अनुगामी।
तौ करि कृपा बतायो चहियतु, तुम काहे के स्वामी ॥

आगे चल कर यह धृष्टता और भी बढ़ जाती है :—

माधव तुम हूँ भये बेसाख।
वुही ढाक के तीन पात हैं, करौ न कोउ लाख।
भक्त अभक्त एक से निरखत कहा होत गुन गायें।
जैसों खीर खवायें तुम को वैसेहि सींग दिखायें।
बेपेंदी के लोटा के सम तव मति गति दरसावैं।
यह कछु को कछु काज करत में तुमहिं लाज नहिं आवै ॥

सत्यनारायण जी की भक्ति की दूसरी विशेषता है सार्वजनिक हित—कामना। ये भगवान् से केवल अपने लिए कुछ नहीं माँगते, वरन् सर्व साधारण के लिए माँगते हैं। समष्टि का जब कल्याण होगा तो व्यक्ति का भी हो ही जायगा। इनकी कल्याण-कामना की इकाई व्यष्टि नहीं समष्टि है। सूर, तुलसी आदि भक्तों ने भगवान् से प्रार्थना की अपने लिए, दूसरों के लिए नहीं। यह दूसरी बात है कि दूसरों को भी भक्ति करने का

उपदेश उन्होंने दिया। परन्तु दूसरों के कल्याण के लिए वे भगवान् से प्रार्थना नहीं करते। सत्यनारायण जी की भक्ति व्यक्ति-निष्ठ अथवा आत्मनिष्ठ नहीं है।

इस प्रकार इनकी भक्ति बहुत व्यापक है; ये अपने को महान् राष्ट्र का एक तुच्छ अंश-मात्र मानते हैं। इनकी भक्ति के मूल में राष्ट्रीयता भी कार्य कर रही है। ये दीन दुखियों की विपत्ति दूर करने के लिए माधव से उलझ पड़ते हैं।

माधव, आप सदा के कोरे।
दीन दुखी जो तुमको जाँचत, सो दाननि के भोरे।
किन्तु बात यह तुव सुभाव वे नैंकहुँ जानत नाहीं।
सुनि सुनि सुजस रावरो तुम ढिग, आवन को ललचाहीं॥

देश की दुर्दशा देख कर कवि के हृदय में अपार वेदना उठती है। उसका हृदय चीत्कार कर उठता है—

तुम्हरे अछत तीन तेरह यह देस दसा दरसावै।
पै तुम को यहिं जनम धरे की तनकहुँ लाज न आवै॥
आरत तुमहिं पुकारत हम सब सुनत न त्रिभुवन राईं।
अंगुरी डारि कान में बैठे धरि ऐसी निठुराई॥

'पै तुमको यहिं जनम धरे की तनकहुँ लाज न आवै' इस पंक्ति का तीखा व्यंग्य देखने ही योग्य है। अपनी जन्म-भूमि की रक्षा करनी चाहिए किन्तु भगवान् भारत भूमि की रक्षा करने के लिए अवतार नहीं ले रहे हैं। ये दीन-दुखियों का दुःख मिटाने के लिए भगवान् से आग्रह करते हैं तथा उनके इस कार्य की अवहेलना के लिए ताना भी देते हैं :—

मोहन कब लौं मौन गहोगे।
निज आँखिन पै धरै ठीकुरी, कितने और रहोगे?
तुम देखत भारत-मानव कुल, आकुल छिन छिन छीजै।
कहा भयौ पाषान हृदय तुव, जो नहिं तनिक पसीजै॥

कवि को हिन्दू जाति से प्रगाढ़ प्रेम है अतएव उसकी कोई भी हानि कवि को अपार पीड़ा देती है। इसलिए सत्यनारायण जी भगवान् श्री कृष्ण से हिन्दू जाति में जातीय प्रेम की भावना का संचार एवं प्रचार करने के लिए विनय करते हैं :—

होरी सी जातीय प्रेम की फूँकि न धूरि उड़ावौ।
जुग करि जोरि यही 'सत' मांगत अलग न और लगावौ॥

कवि को केवल अपने ही देश और जाति की दुरवस्था पीड़ा नहीं पहुँचाती, वरन् सारे विश्व की पीड़ा इन्हें अपनी पीड़ा जान पड़ती है।

विपति ग्राह ने ग्रस्यो विस्व गज, होन चहत अनहोनी।
ऐसे समय, साँवरे, सूझी तुमको आँख मिचौनी॥

इन पंक्तियों में कवि की भावना राष्ट्रीय ही नहीं रह जाती वरन् अन्ताराष्ट्रीय हो जाती है। इनके लिए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' ही महामन्त्र हो जाता है।

भक्ति के पदों में कहीं कहीं सामाजिक दुरवस्था का भी करुणा-पूर्ण चित्र उपस्थित किया गया है। नीचे लिखी पंक्तियां देखिए :--

सहसन विधवा अरु अनाथ को रुदन सुन्यो नहिं जावै।
पै तव हृदय, न जाने क्यों, अब दया न भगवन् आवै ॥

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा कि सत्यनारायण जी की भक्ति देश-प्रेम तथा राष्ट्रीयता की भावना से प्रभावित है। इन्होंने कृष्ण-भक्ति की परम्परा को आधुनिक युग में भी स्थिर रखा, परन्तु इनकी भक्ति में दीन-दुखियों के दुःखों के निवारण की भावना मुख्य है। पूर्व कालीन भक्तों की भक्ति में आत्म-परितोष की भावना मुख्य थी, परन्तु इनकी भक्ति में लोक-कल्याण की भावना का प्राधान्य है। इनकी भक्ति मुख्यतः वैराग्य से प्रेरित नहीं है, वरन् संसार के कार्यों में सफलता प्राप्त करने की भावना से प्रेरित है।

सत्यनारायण जी के कुछ पद वैराग्य की भी भावना से प्रेरित हैं जिनमें आत्माभि-व्यक्ति की ही भावना है। जैसे—

बिरथा जनम गँवायो रे मन।
रच्यो प्रपंच उदर पोषण को राम को नाम न गायो।
तरुणित तरल त्रिवली को लखि के हाय फिर्यो भरमायो।
रह्यो अचेत चेत नहिं किन्हों सगरो समय बितायो।
माया जाल फँस्यो हा अपुते उरझि भलो औरायो ॥

निम्न-लिखित पद में ब्रह्म और माया के विषय में कवि ने अपना विचार प्रकट किया है :—

तिहारो को पावै प्रभु पार।
विपुल सृष्टि नित नव विचित्र के चित्रकार-आधार ॥
मकरी के सम जगत-जाल यहि, सृजत और विस्तारत।
कौतुक ही में हरत ताहिं पुनि, वेद पुरान उचारत ॥

सत्यनारायण जी ने भगवान् का सगुण रूप ही ग्रहण किया है, यद्यपि निर्गुण रूप में इनको अविश्वास नहीं। भक्ति के लिए सगुण रूप ही इन्हें श्रेयस्कर जान पड़ता है। निम्न-लिखित दोहों से इनकी यह भावना स्पष्ट हो जाती है :—

'करौं जगत पावन सकल' सोचि जनौं मन एह।
जदपि निपट निरगुन तदपि, धरत सगुन हरि देह ॥
पीत पटी लपटाय कैं लै लकुटी अभिराम।
बसहु मन्द मुसिक्याइ उर, सगुन रूप घन स्याम ॥

ये घनश्याम के दर्शन के लिए व्याकुल हैं। बार बार दर्शन देने के लिए उनसे प्रार्थना करते हैं :--

घनस्याम रस बरसाना ।
नूतन जलधर नयन सुखद तन रुचिर छटा दरसाना ।
तरसा चुके हमें तुम इतना अधिक न अब तरसाना ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्यनारायण कविरत्न ने अपने भक्ति-परक पदों में हृदय की स्निग्ध भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति की है ।

प्रकृति-चित्रण

रीति कालीन कवियों ने नायिका के शरीर की शोभा देखने में ही अपनी सारी शक्ति और सारे समय का (अप) व्यय किया, प्रकृति उनके लिए अछूती ही रह गई । बहुत हुआ तो उद्दीपन के लिए और नायिका के अंगों की उपमा देने के लिए प्रकृति का उपयोग कर लिया । प्रकृति का यथा-तथ्य वर्णन उन कवियों ने नहीं किया । प्रकृति की नयना-भिराम शोभा उनकी आँखों से सदा ओझल ही रही । दरबारी वातावरण में समय बिताने वाले वे कवि कभी कभी कृत्रिम उद्यानों की सुषमा देख कर ही अपने को कृतार्थ मानने लगते थे । स्वच्छन्द प्रकृति का अकृत्रिम सौन्दर्य उनके लिए सदा दुर्लभ पदार्थ बना रहा । नगरों में उन्हें प्रकृति का वास्तविक रूप दिखाई भी कैसे देता ! फिर प्रकृति का सजीव चित्रण ही कैसे करते !

इसके विपरीत सत्यनारायण जी सदा ग्रामीण जीवन के अभ्यस्त रहे । प्रकृति का उन्मुक्त तथा स्वच्छन्द सौन्दर्य देखने का इन्हें प्रचुर अवसर मिला ! इसीलिए इन्होंने प्रकृति का सजीव तथा मनोहारी चित्रण किया । इनके चित्रण में रीति-कालीन निर्जीवता हमें नहीं मिलती । हां, कहीं कहीं इनके प्रकृति चित्रण में परम्परा का पालन दृष्टि-गत होता है । कुछ अंश में ऐसे स्थलों को प्राचीन परम्परा के प्रति मोह का निदर्शन कह सकते हैं ।

वर्त्तमान युग में पं० श्रीधर पाठक ही ऐसे कवि हुए जिन्होंने प्रकृति-चित्रण में सर्वथा नवीन—स्वच्छन्दतावादी—दृष्टि-कोण अपनाया । उनके चलाये पथ पर चलने वाले सर्व-प्रथम कवि सत्यनारायण जी ही हुए । परन्तु इन्होंने बँधी बँधाई रीति पर ही प्रकृति का अंकन नहीं किया वरन् अपनी स्वतंत्र प्रकृति का भी परिचय दिया । आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन है, "अपने समय के कवियों में प्रकृति का वर्णन पाठक जी ने सबसे अधिक किया, इसी से हिन्दी-प्रेमियों में वे प्रकृति के उपासक कहे जाते थे । यहां पर यह कह देना आवश्यक है कि उनकी उपासना प्रकृति के उन्हीं रूपों तक परिमित थी जो मनुष्य को सुखदायक और आनन्द-प्रद होते हैं, या जो भव्य और सुन्दर होते हैं । प्रकृति के सीधे सादे, नित्य आँखों के सामने आने वाले, देश के परम्परागत जीवन से सम्बन्ध रखने वाले दृश्यों की मधुरता की ओर उनकी दृष्टि कम रहती थी ।"[1] इस दृष्टि से

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास ।

सत्यनारायण जी पाठक जी से भी आगे बढ़ जाते हैं क्योंकि इन्होंने प्रकृति के भव्य रूपों के साथ भयानक एवं कठोर रूपों का भी अंकन किया है। इन्होंने प्रकृति के 'सीधे-सादे' तथा 'परम्परागत' रूपों की भी अवहेलना नहीं की।

सत्यनारायण जी ने प्रकृति के अनेक रूपों का चित्रण भावुकता पूर्ण और सफलता पूर्वक किया है। वसन्त-वर्णन में इन्होंने प्रकृति का कोमल रूप अंकित किया है:—

वह देखो नव कली अली निज मुखहिं निकारति।
लगि लगि बात प्रभात गात अलसात सम्हारति॥
प्रथम समागम समर जीति सुख मुदित दिखावति।
लहकि लहकि जनु स्वाद लेन को भाव बतावति॥
मुखहि मोरि जमुहात भरी तन अतन उमंगन।
जोम जुवानी जगे चहत रस—रंग तरंगन॥

शरद् ऋतु की प्रकृति की कमनीयता भी देखने योग्य है।

मालती सौरभ चमेली छिटकि कलिकनि के पास।
नदि कूल फूले लखि परत बहु स्वेत स्वेत जु काँस॥

पावस के कोमल रूप का अंकन सत्यनारायण जी ने बहुत सुन्दरता से किया है। कुछ पंक्तियां देखिए:—

अद्भुत आभावन्त अंग अति अमल अखंडत।
घुमड़ि घुमड़ि घन घनो घूम घिरि घोर घमंडत॥
कारे कजरारे मतवारे धुरवा धावत।
सुख सरसावत हिय हरसावत जल बरसावत॥

पावस के भयानक रूप पर भी दृष्टिपात कीजिए।

खाय चोट फन पलटि सम्हारि रिस करि सुंकारत।
लपलपाय युग जीभ फनी फूँ फूँ फुंकारत॥

गाँवों में मिट्टी के बने मकानों की दशा पावस ऋतु में कैसी होती है, इसका भी वर्णन कवि ने किया है। उन मकानों के फटने और गिरने का वर्णन द्रष्टव्य है:—

घर कोठनि तरकनि दरकनि माँटी सरकनि।
देखहु तिनकी अर र र र र ऊपर सों दरकनि॥

वर्षा के दिनों में वृक्षों के टूटने और गिरने का सजीव चित्रण देखिए:—

पवन-बेग सो चर चराय तरु चर रर चरकत।
इत उत झोंका खात डार तिन अधबर लटकत॥

ग्रीष्म की भयंकरता का जैसा सजीव तथा चित्रात्मक वर्णन सत्यनारायण जी ने किया है वैसा वर्णन हिन्दी साहित्य में कम ही कवियों ने किया है। ग्रीष्म की प्रचंडता दिखाने वाली कुछ पंक्तियां देखिए:—

पसीना पौंछत बारहिबार, पसीजत तोऊ सारे अंग।
कलित कुम्हिलात हियो को हार, उड़त सब मुख मंडल को रंग॥

× × ×

तपनि सों सुधि बुधि तजि कहुँ जाय, मोर जब बैठत पाँख पसारि ।
दुरत ता नीचे विषधर आय, बिकल प्राणनि कौ मोह बिसारि ।
घाम के मारे अति घबराय, फिरत मारे चहुँ जीवन काज ।
एक थल अपनो बैर बिहाय, नीर ढिंग पीवत मृग मृगराज ।

उद्धृत संदर्भ की अन्तिम चार पंक्तियां निःसंदेह अत्युक्ति पूर्ण हैं, परन्तु इन पर असंदिग्ध रूप से बिहारी का प्रभाव पड़ा है। अंतिम पंक्ति तो बिहारी की पंक्ति "कहलाने एकत रहत अहि मयूर मृग बाघ" से अत्यन्त प्रभावित है। अन्तर केवल इतना ही है कि बिहारी ने 'मृग बाघ' को एकत्र रहने दिया है, जहां सत्यनारायण जी ने दोनों को एक स्थान पर पानी भर पीने दिया है। इसी प्रकार इनकी निम्न-लिखित पंक्तियों:--

देखि तव दारुण दुंपहर दर्श
छाँह हू तकत छाँह के हेत

पर बिहारी की निम्न-लिखित पंक्ति का गहरा प्रभाव पड़ा है--

देखि दुपहर जेठ की छाँहों चाहति छाँह ।

ऐसे अत्युक्ति पूर्ण स्थल सत्यनारायण जी के प्रकृति-वर्णन में बहुत कम हैं और यदि उन्हें हटा दिया जाय तो इन का प्रकृति वर्णन अत्यन्त सफल तथा सजीव समझा जायगा। ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायगा कि कवि ने प्रकृति के केवल कोमल पक्ष को ही नहीं ग्रहण किया है प्रत्युत् इसके कठोर एवं भयानक पक्ष का भी चित्रण किया है। उन चित्रों में प्रकृति के भव्य भयानक, कोमल-कठोर रूपों का समुचित समन्वय है। कवि का सूक्ष्म निरीक्षण श्लाघ्य है।

पहले कहा जा चुका है कि कवि ने प्रकृति-वर्णन करते समय भी देश और समाज को ध्यान में रखा है। देश और समाज को कवि किसी भी दशा में नहीं भूल सकते। ग्रीष्म की प्रचंडता का वर्णन करते समय कवि देश के दीन-दुखियों को नहीं भूलते जिन्हें पर्याप्त वस्त्र भी दुर्लभ है—

निरुद्यम निस्सहाय अति दीन.
निबल सहि सकत न तेरी ज्वाल ।
उपासे प्यासे बसन-बिहीन
लगत जल प्रान तजत ततकाल ।

रीति काल के कवियों ने मेघ से विरह को उद्दीप्त कराने का काम लिया है। उनकी दृष्टि में यह बात आ ही नहीं सकती थी कि खेतों में कठिन परिश्रम करने वाले दीनों के प्रति ये मेघ सहानुभूति भी प्रदर्शित कर सकते हैं। किन्तु सत्यनारायण जी ने अपने मेघों में ऐसी सहानुभूति की भावना भर दी है।

बदरवा दल पुनि पुनि घिरि आवैं ।
जानि मनुज-कुल हीन दशा कों नयन नीर टपकावैं ।

हेमन्त-वर्णन में कवि ने हेमन्त का केवल बाह्य एवं स्थूल ही रूप नहीं देखा है वरन् दीन-दुखियां पर उसके पड़ने वाले प्रभाव का भी प्रभावोत्पादक वर्णन किया है। हेमन्त का वर्णन करते समय इनका ध्यान दुःखी जनों की ओर चला जाता है—

जरजर देह दीन जन दुःखित, कँपकँपात बिलखात,
हाट बाट अरु घाट घाट पर मांगत खात लखात ।
'अबकी कठिन प्राण रक्षा है' कहि कहि के यह बात ।
बड़े कसाई अति दुख दाई जाड़े से इठि जात ।

इस समय कवि का ध्यान धनी और धार्मिक जनों की ओर जाता है जो इन दीन जनों की रक्षा कर सकते हैं । कवि उन लोगों से याचना करते हैं--

निस्सहाय निर्बल नित आगत भारत बासिन ओर ।
देश हितैषी धनी धारमिक फेरैं लोचन-कोर ॥
हे हेमन्त हिमाचल बासी अधिक कष्ट जनि देहु ।
विनय सत्यनारायण की यह इतनी तुम सुनि लेहु ॥

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि सत्यनारायण जी का प्रकृति-वर्णन बहुत सफल और प्रभावोत्पादक है । हम यह भी देखते हैं कि ये प्रकृति का भी चित्रण करते समय देश और समाज को नहीं भूलते ।

भ्रमर-दूत

भ्रमर गीत हिन्दी के कवियों का प्रिय विषय रहा है । ब्रज भाषा के अनेक कवियों के अतिरिक्त खड़ी बोली के भी कुछ कवियों ने इस प्रसंग पर अपनी लेखनी चलाई है । सत्यनारायण जी ने भ्रमर-दूत लिखा । अनेक आलोचकों ने इस भ्रमर-दूत को भ्रमर गीत की परम्परा में रखा है, परन्तु मेरा विश्वास है कि भ्रमरदूत भ्रमर गीत की परम्परा में आता ही नहीं, यह सर्वथा भिन्न है । भ्रमर को दूत बनाने के अतिरिक्त किसी भी बात में दोनों के बीच साम्य नहीं है । दोनों काव्यों की भिन्नता पर थोड़ा विचार करें ।

(१) अन्य कवियों ने कृष्ण के द्वारा उद्धव को गोपियों के पास प्रेषित किया है और वार्त्तालाप के बीच में भ्रमर उड़ता उड़ता आ जाता है । भ्रमर-दूत में यशोदा ही अपनी ओर से भ्रमर को भेजती हैं ।

(२) अन्य कवियों के भ्रमर गीत में सम्बोधन के वास्तविक व्यक्ति उद्धव हैं केवल भ्रमर को सम्बोधन मात्र किया जा रहा है, अर्थात् भ्रमर की आड़ में उद्धव से ही बातें कही जा रही हैं । सत्यनारायण जी ने भ्रमर को ही मुख्य व्यक्ति बनाया है । यहां उद्धव की कोई चर्चा नहीं ।

(३) भ्रमर गीत श्रेष्ठ उपालम्भ काव्य के रूप में हमारे सामने आता है । भ्रमर दूत के विषय में ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता ।

(४) अन्य कवियों का उद्देश्य है ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना । सत्यनारायण जी ने देश की तत्कालीन दशा का चित्रण करना ही अपना उद्देश्य रखा है ।

(५) अन्य कवियों को माधुर्य भाव की भक्ति की अभिव्यंजना करनी है, अतः उन्होंने गोपियों को केन्द्र मान कर कथा का विकास दिखाया है । भ्रमर-दूत में केवल यशोदा

के दर्शन होते हैं। इसमें न गोपियां हैं, न उद्धव, न तर्क–वितर्क और न ज्ञान–सम्बन्धी कोई चर्चा।

(६) रस-योजना की दृष्टि से अन्य रचनाओं में विप्रलम्भ शृंगार है परन्तु भ्रमर-दूत में विप्रलम्भ वात्सल्य है।

(७) अन्य रचनाओं ने ज्ञान–भक्ति की चर्चा और अनेक पात्रों की उपस्थिति के कारण वाद विवाद का रूप धारण कर लिया है, परन्तु भ्रमर दूत में केवल यशोदा ही बोलती हैं अतः यह काव्य स्वगत-भाषण के रूप में है।

(८) भ्रमर दूत पर भ्रमर गीत का प्रभाव नहीं के बराबर हैं। इससे अधिक प्रभाव मेघदूत का पड़ा जान पड़ता है क्योंकि दोनों में प्रकृति के विभिन्न उपादानों को संदेश वाहक के रूप में भेजा गया है।

(९) सत्यनारायण ने नंददास के भवँर गीत का रूप-विधान भ्रमर-दूत में रखा है परन्तु वस्तु, दृष्टिकोण तथा शैली में भी इन्होंने मौलिकता दिखाई है। नंददास के समान साहित्यिक ब्रज भाषा में नहीं वरन् बोलचाल की ब्रज भाषा में भ्रमर दूत की रचना की गई है।

तात्पर्य यह कि साधन, साध्य, आकार, निरूपण आदि को ध्यान में रखने से भ्रमर दूत भ्रमर गीत से भिन्न रचना प्रतीत होता है।

कृष्ण मथुरा छोड़ कर द्वारका चले गये हैं और बहुत दिनों तक अपने माता पिता की सुधि नहीं लेते। किन्तु माता अपने पुत्र को कैसे भूल सकती है! कृष्ण के गुणों का वर्णन कवि ने भ्रमर दूत की आरंभिक पंक्तियों में किया है :—

कंस मारि भू भार उतारन खल दल तारन।
विस्तारन विज्ञान विमल, स्रुति-सेतु सँवारन ॥
जन-मन-रंजन सोहना, गुन आगर चितचोर।
भव-भय–भंजन मोहना, नागर नंद किसोर ॥
गयो जब द्वारिका ॥

कवि ने अपने काव्य में वात्सल्य रस को प्रधानता दी है परन्तु इन प्रारम्भिक पंक्तियों से वात्सल्य रस का पोषण नहीं होता। अतएव ये विशेषण अनावश्यक हैं। प्रथम छंद के विशेषण कुछ अंश में ठीक माने जा सकते हैं। यथा—

श्री राधाबर निज जन–बाधा–सकल नसावन।
जाकौ मन–भावन, जो ब्रज को मन भावन ॥
रसिक-सरोमनि, मन-हरन, निरमल नेह-निकुंज।
मोद-भरन, उर-सुख करन, अविचल आनँद पुंज ॥
रंगीलो साँवरो।

इसके उपरान्त कवि ने अपने पुत्र के लिए माता यशोदा के हृदय की व्यग्रता का मर्म-स्पर्शी वर्णन किया है। सावन का महीना है। 'घनपाँती' आकाश में उमड़ रही है और 'सरिता पोखर ताल' जल–पूर्ण हैं, और कहीं—

बाल–वृन्द हरषत उर दरसत चहुँ चलि आवैं ।
मधुर मधुर मुसकाइ रहस बतियाँ बतरावैं ॥
× × ×
विविध क्रीड़ा करैं ॥

इन मनमोहक दृश्यों को देखकर यशोदा को कृष्ण की याद आ जाती है, उनका हृदय वेदना से पूर्ण हो जाता है क्योंकि कृष्ण भी कभी इस प्रकार की क्रीड़ाएँ किया करते थे। यशोदा के हृदय में जो वात्सल्य अन्तः-सलिला नदी के समान था, उसमें अचानक बाढ़ आ जाती है। इस प्रकार वर्षा–वर्णन इस स्थल पर उद्दीपन का कार्य करता है। परम्परा से वर्षा–वर्णन विप्रलम्भ शृंगार का ही उद्दीपन हुआ करता था परन्तु सत्यनारायण जी ने यहां इसे वात्सल्य का उद्दीपन बनाकर मौलिकता दिखाई है। बाल क्रीड़ा भी इस स्थल पर वात्सल्य रस के उद्दीपन के रूप में है।

कृष्ण की स्मृति से यशोदा के हृदय का धैर्य समाप्त हो जाता है। उनके हृदय से वात्सल्य की धारा उमड़ कर अपने किनारों को तोड़ डालती है।

दृग-जल मिस मानहुँ निकरि बही बिरह की धार।
कृष्ण रटना लगी ॥

अपने पुत्र का कोई समाचार नहीं पाने के कारण यशोदा स्वभावतः चिन्तित हैं और उनके हृदय में उत्कंठा होती है कि कैसे वे पुत्र का समाचार प्राप्त करें।

यहां तक कथा का विकास स्वाभाविक गति से हुआ है। किन्तु इस स्थल पर आकर सामयिकता ने अपना रंग जमा लिया है। कवि को स्त्री-शिक्षा का महत्त्व दिखाना है। संदेश भेजने के लिए पत्र लिखने की आवश्यकता पड़ती है और यशोदा एक अपढ़ नारी हैं। फिर पत्र लिखें कैसे और संदेश क्योंकर भेजा जाय :—

पढ़ी न अच्छर एक, ज्ञान सपने ना पायो।
दूध दही चाटत में सबरो जनम गँवायो ॥
माता पिता बैरी भये, सिच्छा दई न मोहि।
सबरे दिन यों ही गये, कहा कहे तें होहि ॥
मन ही मन में रही।

यह सत्य है कि मनुष्य लिख कर अपने हृदय की भावनाओं को अधिक स्पष्टता से व्यक्त कर सकता है; मौखिक रूप में संदेश भेज कर उतनी सुन्दरता से अपने भावों की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। स्वयं लिखने और दूसरे के माध्यम से कहलाने में अन्तर हो जाता है। यहां तक तो ठीक है, परन्तु आगे चल कर यशोदा ने स्त्री-शिक्षा पर भाषण ही देना आरम्भ किया है। वहां यशोदा नहीं बोलतीं वरन् बीसवीं शताब्दी का कवि बोल रहा है। यह खटकने वाली बात है। फिर भी यह तो मानना ही होगा कि सत्यनारायण ने अपने युग की नारियों की दयनीय दशा की मर्म-भेदी झलक दिखाई है।

अब यशोदा के सामने समस्या है कि किसे दूत बना कर कृष्ण के पास भेजा जाय। कौन वहां तक जाकर संदेश सुना सकता है।

कौने भेजों दूत, पूत सों बिथा सुनावै।

× × ×

जाइगो को उहां ?

इसी समय एक भ्रमर आ पहुँचता है। यह भ्रमर अन्य कोई नहीं, छद्म वेश में स्वयं कृष्ण हैं।

बिलपति कलपति अति जबै, लखि जननी निज श्याम।
भगत भगत आये तबै, भाये मन अभिराम ॥
भ्रमर के रूप में ॥

कृष्ण को व्यर्थ ही कवि ने भ्रमर के वेश में आने का कष्ट दिया है। किसी सामान्य भ्रमर से भी संदेश भेजा जा सकता था। यदि कृष्ण का ही आना आवश्यक था तो फिर वे छद्म वेश में क्यों आये ? प्रत्यक्ष रूप से आकर माता का कष्ट दूर करते।

भ्रमर की चेष्टाओं से माता यशोदा को पता चल जाता है कि वह उन के दुःख में सहानुभूति रखता है। भ्रमर और कृष्ण के रूपों में समता भी है, अतः यशोदा उस भ्रमर को कृष्ण के पास भेजने का निश्चय करती हैं। संदेश का सर्व-प्रथम विषय है:—

जननी जन्म भूमि सुनियत स्वर्ग हुँ सो प्यारी।
सो तजि सबरो मोह साँवरे तुम ने बिसारी ॥

इस प्रसंग में प्रो० देवेन्द्र नाथ शर्मा का कथन है, "जन्मभूमि से तात्पर्य यदि भारत वर्ष से है तो द्वारका भारतवर्ष से बाहर तो है नहीं ! यदि जन्म भूमि शब्द व्रज के लिए आया है तो जन्म भूमि की परिभाषा अत्यन्त संकुचित हो जाती है; कम से कम सत्यनारायण जैसे आधुनिक, उदार और राष्ट्रीय कवि से जन्म-भूमि के इस सीमित रूप की आशा पाठक नहीं करता।"[१]

किन्तु, मुझे इसमें सत्यनारायण जी की न संकीर्णता और न उनकी राष्ट्रीयता तथा 'जन्म-भूमि के इस सीमित रूप में' असंगति ही दिखाई देती है। सामान्य रूप से कृष्ण की जन्म भूमि सारा भारत वर्ष है, किन्तु विशेष रूप से व्रज ही है। देश के किसी ग्राम या नगर में ही किसी व्यक्ति का जन्म होता है, और वह ग्राम या नगर उस व्यक्ति की जन्म भूमि है। यदि कोई व्यक्ति अपने जन्म के गाँव को छोड़ कर बहुत दिनों तक बाहर रहे तो कहा जा सकता है कि उस व्यक्ति ने अपनी जन्म भूमि को भुला दिया है। अस्तु !

जब यशोदा संदेश देने लगती हैं, उस समय वे स्नेह-विह्वल हो जाती हैं और उन सभी वस्तुओं को याद करने लगती हैं जिन से कृष्ण का निकट सम्पर्क था। कृष्ण के वियोग में केवल माता का ही हृदय व्यग्र नहीं, वरन्—

लागत पलास उदास, शोक में अशोक भारी।
बौरे बने रसाल, माधवी लता दुखारी ॥
तजि तजि नित प्रफुलितपनौ, बिरह बिथित अकुलात।
जड़ हूँ ह्वै चेतन मनो, दीन मलीन लखात ॥
एक माधौ बिना ॥

---

१ साहित्य समीक्षा ॥

केवल वृक्ष ही नहीं, पशु भी विह्वल हो गये हैं। गायों की दशा अत्यन्त दयनीय है।

बचन-हीन ये दीन गऊ दुख सों दिन बितवत।
दरस लालसा लगी चकित चित इत उत चितवत॥
एक संग तिनकों तजत, अलि कहियो, ए लाल।
क्यों न हीय निज तुम लजत, जग कहाय गोपाल॥
मोह ऐसो तज्यो।

इस प्रकार माता के हृदय की गम्भीर वेदना का अंकन किया गया है। वेदना की गम्भीरता पशु-पक्षियों, लता-वृक्षों आदि की वेदना के कारण और भी बढ़ जाती है। जड़ चेतन सभी यशोदा की ही भावना में लीन हो गये हैं।

माता यशोदा को चिन्ता है कि स्यात् द्वारका-वासी कृष्ण को मक्खन नहीं मिलता होगा। माता के हृदय में तो ऐसी भावना सदा रहती है क्योंकि माता के सामने कोई भी पुत्र सदा बच्चा ही बना रहता है। यहां यही कहा जा सकता है कि मक्खन के द्वारा स्नेह दिखाने की एक अवस्था होती है और द्वारका वासी कृष्ण सम्भवतः उस अवस्था को पार कर चुके थे।

वा बिनु ग्वालनु को को हित की बात सुझावै।
अरु स्वतंत्रता, समता, सह भ्रातृता सिखावै॥
यद्यपि सकल विधि ये सहत दारुण अत्याचार।
पै न कछू मुख सों कहत कोरे बने गँवार॥
कोउ अगुआ नहीं॥

इसके प्रथम चरण से माता यशोदा की उदारता हमारे सामने स्पष्ट हो जाती है। उन्हें केवल अपनी चिन्ता नहीं वरन् अन्य जनों के भी हिताहित का ध्यान है। दूसरे चरण में काल दोष आ गया है क्योंकि फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति (१७८९ ई०) में सर्व प्रथम स्वतंत्रता, समता, भ्रातृत्व का नारा लगाया गया था। द्वापर युग में इस प्रकार की कोई बात नहीं थी। अन्तिम दो चरणों में भी द्वापर की यशोदा नहीं बोल रहीं वरन् आज का कवि बोल रहा है, क्योंकि उस काल में, कंस-वध के पश्चात्, अत्याचार करने और सहने का प्रश्न ही नहीं था। द्वापर के गोप अत्याचार नहीं सह रहे थे, प्रत्युत् इन कतिपय शतियों में भारत विदेशियों के अत्याचार सह रहा था।

उसी प्रकार निम्न-लिखित पंक्तियों में भी काल-दोष आ गया है—

पहले कौ सो अब न तिहारो वह वृन्दावन।
याके चारों ओर भये बहु बिधि परिवर्त्तन॥
बने खेत चौरस नये काटि घने बन पुंज।
देखन को बस रहि गये, निधुबन सेवा कुंज॥
कहां चरिहैं गऊ॥

ब्रज से कृष्ण के जाने के कुछ वर्षों में वृन्दावन की यह दशा कभी नहीं हो

सकती। हां, सत्यनारायण जी के समय में वृन्दावन की यह दयनीय दशा अवश्य हो गई थी।

> जो तजि मातृ-भूमि सों ममता होत प्रवासी।
> तिन्हें विदेशी तंग करत दै विपदा खासी ॥

दक्षिण अफ्रिका में भारतीयों पर अत्याचार हो रहे थे। महात्मा गांधी उन दिनों वहां आन्दोलन कर रहे थे और उसके समाचार भारत में आते रहते थे। उन्हीं बातों की ओर इन पंक्तियों में संकेत है।

सत्यनारायण जी ने भ्रमर-दूत में यशोदा के मातृ-हृदय की वेदना की अभिव्यक्ति की है। इस काव्य में विप्रलम्भ-वात्सल्य रस का सम्यक् परिपाक हुआ है। कवि इस काव्य में राष्ट्रीयता को नहीं भूल सके हैं। अत्यधिक राष्ट्रीयता के सन्निवेश के कारण इसमें कुछ काल-दोष आ गया है। यदि यह काल-दोष नहीं आता तो यह काव्य और भी सुन्दर कहा जाता। भ्रमर-दूत अपूर्ण है, फिर भी यह बहुत सुन्दर काव्य है।

रस-निरूपण

सत्यनारायण कविरत्न के काव्य में मुख्यता राष्ट्रीयता की है। अतः इनकी अधिकांश रचना रस की श्रेणी में नहीं आकर भाव तक ही रह जाती है, क्योंकि 'राष्ट्रीयता' नाम का कोई रस नहीं होता। भक्ति वाले पदों में भक्ति रस है। भ्रमर-दूत में विप्रलम्भ वात्सल्य रस का अच्छा परिपाक हुआ है। वस्तुतः रस-निष्पत्ति की दृष्टि से भ्रमर-दूत इनका सर्व-श्रेष्ठ काव्य है। वात्सल्य रस का आश्रय यशोदा हैं; शिशुओं की क्रीड़ा, यमुना का पुलिन, कदम्ब-वृक्ष आदि उद्दीपन हैं; पुलक, अश्रु-विसर्जन, विलाप आदि अनुभाव हैं; स्मृति, चिन्ता, विषाद, दैन्य आदि संचारी भाव हैं। वत्सल्य रस के सम्पूर्ण उपादान उपस्थित हैं। वात्सल्य और भक्ति रसों के अनेक उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं।

यह विचित्र है कि सत्यनारायण जी शृंगार रस से दूर रहे हैं। अनेक राष्ट्रीय कवियों ने अपने काव्यों में शृंगार रस का समावेश किया है परन्तु कविरत्न जी उससे किनारा-कशी ही करते रहे। 'प्रेम-कली' में शृंगार के वर्णन का अवसर था, परन्तु कवि ने जान-बूझ कर रति भाव को शृंगार रस में परिणत नहीं होने दिया है। प्रकृति वर्णन में इन्होंने कुछ स्थलों पर शृंगार का थोड़ा वर्णन किया है; यथा—

> वह देखो नव कली भली निज मुखहिं निकारति।
> लगि लगि वात प्रभात गात अलसात सम्हारति ॥
> मुखहिं मोरि अमुहाति भरी तन अतन-उमंगन
> जोम जुवानी जगे चहत रस-रंग तरंगन ॥

किन्तु ऐसे शृंगारिक स्थल बहुत कम हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने अपने काव्य में करुण और हास्य का भी थोड़ा समावेश किया है।

करुणा:—

काज न जब कछु करत शिथिलता तन में व्यापत।
यही सोचि जननी ब्रज भाषा निसि दिन काँपत॥
सुत सेवा हित तासु रुचिर रहत सदा ही।
जनमें पूत कपूत कुमाता माता नाहीं।
जाय कहां अब बनहिं तुम्हें यह पाले पोसे।
या को बल या को जीवन बस आप भरोसे॥
निरालम्ब यह अम्ब याहि अवलम्बनु दीजै।
तन सों, मन सों, धन सों, याकी रच्छा कीजै॥

ढूँढ़ने से इनके काव्य में अन्य रसों के भी उदाहरण मिल जा सकते हैं, परन्तु इनके मुख्य रस वात्सल्य और भक्ति ही हैं।

भाषा-शैली

सत्यनारायण कविरत्न का प्रादुर्भाव द्विवेदी-काल में हुआ था। उस युग में खड़ी बोली को काव्य-भाषा बनाने का प्रयत्न हो रहा था। किन्तु सत्यनारायण जी ने ब्रज-भाषा को ही काव्य भाषा के रूप में अपनाया। इन्होंने ब्रजभाषा को केवल अपनाया ही नहीं बरन् इसके प्रचार के लिये बहुत कुछ प्रयत्न भी किया। ब्रज-भाषा को काव्य-भाषा के रूप में अपनाने के समर्थन में इन्होंने 'ब्रज-भाषा' शीर्षक कविता लिखी जिस में उस भाषा के लिए इनका प्रगाढ़ प्रेम प्रकट होता है। इस कविता में इन्होंने ब्रज-भाषा को सभी भाषाओं से श्रेष्ट बताया है। कुछ पंक्तियां देखिए:—

देस काल अनुसार भाव निज व्यक्त करन में।
मंजु मनोहर भाषा या सम कोउ न जग में॥
× × ×
करी जाय जब यासु परीच्छा सविधि यथारथ।
याही में सब जग को स्वारथ अरु परमारथ॥
बरनन को करि सकत भला तिह भाषा कोटी।
मचलि मचलि जा में माँगे हरि माखन-रोटी॥

खड़ी बोली के युग में भी इन्हों ने ब्रज भाषा का जोरदार समर्थन किया, ब्रज-भाषा को नवीन युग की भावनाओं का वहन करने के योग्य बनाने का यथा-साध्य प्रयत्न किया। भाव की दृष्टि से कविरत्न जी पर्याप्त प्रगति शील थे। इनकी कविताओं में सामयिकता की अमिट छाप इनकी प्रगति शीलता को घोषित करती है। सत्यनारायण ने अपनी कविता में राष्ट्रीयता, समाज-सुधार तथा स्त्री शिक्षा का समावेश किया। शृंगार के श्वासावरोधक वातावरण से कविता को निकाल कर इन्होंने उसे स्वच्छ और उन्मुक्त वातावरण में विचरण करने का अवसर दिया। यह दूसरी बात है कि इन्हें ब्रज-भाषा का प्रचार करने में वांछित सफलता नहीं मिली। इसके मुख्यतः दो कारण हैं। पहला तो यह कि युग खड़ी बोली का हो गया था, और युग के विरुद्ध चल कर सफलता प्राप्त करना असाधारण प्रतिभासम्पन्न

व्यक्ति का कार्य है। दूसरा कारण यह है कि असमय देहावसान के कारण इन्हें कार्य करने का पर्याप्त समय नहीं मिल सका। इन्होंने जो कुछ लिखा उससे सम्यक् रूप से प्रमाणित हो गया कि ब्रज भाषा में नवीन भावनाओं का भार-वहन करने की क्षमता है।

"रीति काल के कवियों की परम्परा पर न चल कर वे या तो भक्तिकाल के कृष्ण-भक्त कवियों के ढंग पर चले हैं या भारतेन्दु काल की नूतन कविता की प्रणाली पर। ब्रज-भूमि, ब्रज भाषा और ब्रज पति का प्रेम उनके हृदय की सम्पत्ति थी। ब्रज के अतीत दृश्य उनकी आँखों में फिरा करते थे।" १

अब हम सत्यनारायण जी की भाषा की मुख्य विशेषताओं पर दृष्टि-पात करें।

(१) सत्यनारायण जी की भाषा सामयिक ब्रज भाषा है। इनके काव्य में माधुर्य गुण सर्वत्र पाया जाता है। उनकी भाषा में संगीत-मयता एक सीमा तक वर्त्तमान है। 'ब्रज-भाषा' शीर्षक कविता सुन कर पं० श्रीधर पाठक ने मुग्ध हो कर कहा था, "रास पंचाध्यायी का आनन्द आ रहा है" और 'यह माधुर्य कवि का सहज गुण है।' इनकी भाषा में परुष वर्ण नहीं आते हैं और कोमल वर्ण अनायास चले आते हैं। भाषा में माधुर्य आने का एक और कारण यह है कि इन्होंने लघु मात्राओं का यथा-सम्भव प्रयोग किया है और संयुक्ताक्षरों का परिहार किया है।

(२) इन्होंने नेताओं की जो प्रशस्तियां लिखी हैं, उनमें ओज गुण भी पाया जाता है।

(३) सत्यनारायण जी को भी, नन्द दास के ही समान, तत्सम शब्द अधिक प्रिय थे, अतः इनकी भाषा में ऐसे शब्दों का बाहुल्य है—

जुगल चरन-अरविन्द-ध्यान मकरंद-पान हित।
मुनि-मन-मुदित-मलिन्द निरन्तर बिरमत जहँ नित॥
तहँ सुचि् सरल सुभाव रुचिर गुन-गन के रासी।
भोरे भोरे बसत नेह विकसित ब्रज वासी॥

(४) सत्यनारायण जी की भाषा में तत्सम शब्दों का बाहुल्य है, इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें प्रसाद गुण का अभाव है अथवा प्रवाह की कमी है। तत्सम शब्दों की अधिकता रहने पर भी इनकी भाषा में पर्याप्त प्रवाह है और प्रसाद गुण तो माधुर्य के साथ सर्वत्र ही पाया जाता है। "उन्होंने जीती जागती ब्रज भाषा ली है। उनकी ब्रज भाषा उसी स्वरूप में बँधी न रह कर जो काव्य परम्परा के भीतर पाया जाता है, बोल चाल के चलते रूपों को लेकर चली है। बहुत से ऐसे शब्दों और रूपों का उन्होंने व्यवहार किया है, जो परम्परागत काव्य–भाषा में नहीं मिलते।"१

(५) इनकी भाषा में कुछ अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग हुआ है, किन्तु वे शब्द भाषा की प्रकृति के अनुकूल हैं जैसे 'परसाद' (प्रसाद), 'परमेसुर' (परमेश्वर), 'सेष' (शेष), 'बिसेस' (विशेष), 'निरदय' (निर्दय), 'जदपि' (यद्यपि) आदि।

(६) कहीं कहीं स्त्रियों की बोलचाल के शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे—'अपस्वार्थी' 'बजमारे' आदि। इन शब्दों में स्वाभाविकता के साथ व्यंजकता भी है।

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

(७) इनकी भाषा संस्कृत-निष्ठ है, अतः अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ। खोजने से ऐसे दो चार शब्दों का प्रयोग मिल जायगा परन्तु ये शब्द अत्यन्त प्रचलित हैं; जैसे—सनद, मुहर, महल, सूरत आदि।

(८) इनकी भाषा में कुछ ऐसी क्रियाओं का प्रयोग हुआ है जो ब्रज भाषा के रूप में ढाली गई हैं; जैसे आजमाना से 'अजमाइकै', अनुमान करना—'अनुमानी', 'हरसावत', 'ललचानी' आदि।

(६) सत्यनारायण जी ने कहावतों और मुहावरों का भी काफी प्रयोग किया है जिससे इनकी भाषा की सुन्दरता और भी बढ़ गई है।

(क) तुम्हरे अछत तीन तेरह यह, देस दसा दरसावै।
(ख) अपनी जाँघ उघारे उघरति, बस, हमरो ही अपराध।
(ग) अपनी अपनी ढापुली अपनो अपनो राग अलापैं जोर से।
(घ) सबै धन बाईस पसेरी नित तोलन सों काम।
(ङ) ताकों विप्र सुदामा के सिर करि सनेह मढ़ि दियो।
(च) ऐसी तुमा-पलटी के गुन, नेति नेति स्तुति गावैं।
(छ) वेद पुरान तुम्हारे जस के नभ में महल बनावत।
(ज) साँप छुछुन्दर गति भई मन अकुलाय रहे सबके सच।
(झ) सेस महेस सुरेस गनेसहुँ, सहसा पार न पावै।
(ञ) अँगुरी डारि कान में बैठे, धरि ऐसी निठुराई।
(ट) बेपेंदी के लोटा के सम तव मति गति दरसावै।
(ठ) ऊँची बड़ी दुकान तिहारी फीकी बनै मिठाई।
(ड) साँची कहावति "जाकैं नहिं फटै बिवाई।
समझ सकत सो कैसे कहिए पीर पराई।"
(ढ) निज आँखिन पै धरैं ठीकुरी, कितने और रहोगे।
(ण) चार दिना की छोहरी गई ऐसी गरवाय।

इन मुहावरों और कहावतों का प्रयोग दैनिक व्यवहार में होता है।

(१०) भ्रमर दूत की रचना नंददास के भवँर गीत की शैली पर हुई है। छन्द वही है। भाषा भी उसी प्रकार की है। विनय के पदों में वाग्-विदग्धता अनेक स्थानों पर दिखाई देती है। अन्य स्थलों पर इनकी अभिव्यंजना बहुत सरल तथा मर्म-स्पर्शी है। 'व्रज भाषा' शीर्षक कविता की रचना रोला छन्द में ही है। नंददास की रास पंचाध्यायी की भी रचना रोला छन्द में ही हुई है। भाषा और छन्द की दृष्टि से सत्यनारायण जी नंददास से बहुत अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं।

सत्यनारायण जी अल्पायु थे और इतने कम समय में इन्होंने बहुत कुछ किया। भक्ति, राष्ट्रीयता तथा प्रकृति-चित्रण का समन्वय इन्होंने किया। यद्यपि इनका स्थूल शरीर थोड़े ही दिन हमारे बीच रहा, परन्तु यशः-शरीर अमर रहेगा।